भारत स्वातन्त्र्य स्वर्णजयन्ती ग्रन्थमाला–46

प्रमुख उपनिषदों के पारिभाषिक शब्द

(अद्वैत वेदान्त के विशेष संदर्भ में)

संजय कुमार झा

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली

प्रकाशक:
वेम्पटि कुटुम्बशास्त्री
कुलपति
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
56-57, इंस्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

ISBN : 81-86111-57-3

संस्करण 2008

मूल्य : 250/-

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस
विजय नगर, दिल्ली-9 दूरभाष : 9871699565

दो शब्द

परमपूज्य मौनी बाबा जी की असीम अनुकम्पा से हमारे पूज्य गुरुजी श्री बलदेव राज शर्मा के द्वारा सुझाए गए विषय पर आज इस पुस्तक को पूर्णता की स्थिति में देखकर हमें अपार आनन्द का अनुभव हो रहा है। उनका शिष्य एतदर्थ आभार व्यक्त करने की स्थिति में नहीं वरन् जीवन भर उनके आशीर्वाद की कामना करता है।

इस पुस्तक से न केवल संस्कृत के विद्वानों को लाभ होगा वरन् सामान्य व्यक्ति को भी उपनिषद् के गूढ रहस्यों से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त होगा, ऐसा लेखक का विश्वास है। इस लाभ को जनमानस तक पहुँचाने हेतु मैं सर्वप्रथम कुलपति राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान प्रो. वेम्पटि कुटुम्बशास्त्री व डॉ. प्रकाश पाण्डेय जी के प्रति कृतज्ञ हूँ एवं हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

मैं इस शृंखला में अपने पूज्य पिता स्व. सुरेन्द्रनाथ झा एवं श्रद्धेया माँ श्रीमती प्रभावती देवी को धन्यवाद देना सूर्य को दिया दिखाने के बराबर है। उनके द्वारा प्रदत्त जीवन का एक-एक पल जिसने आज हमें इस मुकाम पर पहुँचाया है। उससे मैं कभी उऋृण नहीं हो सकता और न ही चाहता हूँ। साथ ही अपनी जीवनसंगिनी श्रीमती किरण झा व पुत्र अंकित झा का धन्यवाद किए बिना नहीं रह सकता जिन्होने हर कठिनाई व सुख के समय सान्त्वना दे कर हमें प्रोत्साहित किया।

साथ ही पूज्या दीदी श्री वीणा सिंह को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने एक अनुज के भाँति जीवन के हर मोड़ पर मेरा मार्ग

प्रशस्त किया। भविष्य में भी उनके प्यार व शुभकामना की मैं कामना करता हूँ।

अन्त में अपने गुरुजनों प्रो. मदनमोहन अग्रवाल, डॉ. कांशीराम, दीप्ति त्रिपाठी, शशिप्रभा कुमार व देवेन्द्र मिश्र को हृदय से नमन करता हूँ जिन्होने हर मोड़ पर इस कार्य को पूरा करने में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रोत्साहित किया।

एकबार पुनः मैं प्रो. वे. कुटुम्बशास्त्री व डॉ. प्रकाश पाण्डेय का धन्यवाद करता हूँ। अन्त में मनोयोग से मुद्रण कार्य व शुद्धता हेतु भाई हीरा लाल जी को धन्यवाद दिए बिना कैसे रह सकता हूँ, जिन्होंने इसे एक रूप प्रदान किया।

–संजय कुमार झा

वर्तमान झारखण्ड प्रदेश की सांस्कृतिक राजधानी के रूप में प्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंग में से एक हार्दपीठ रावणेश्वर बाबा वैद्यनाथ-धाम, देवधर जिला के मधुपुर में 20 जुलाई 1971 को स्व. श्री सुरेन्द्र नाथ झा एवं श्रीमती प्रभावती देवी के कनिष्ठ सुपुत्र के रूप में संजय कुमार झा का जन्म हुआ।

प्रारंभिक एवं उच्चमाध्यमिक परीक्षा 1986 व 1988 मधुपुर देवधर से उत्तीर्ण करने के पश्चात् भागलपुर विश्वविद्यालय से बी. ए. संस्कृत प्रतिष्ठा की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान में प्राप्त की तत्पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू महाविद्यालय से स्नातकोत्तर कला संस्कृति निष्णात (MA 1995) में उत्तीर्ण होकर दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग से एम. फिल. एवं पीएच. डी. (2002) की उपाधि प्राप्त की।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से NET 1998 की परीक्षा उत्तीर्ण की साथ ही बिहार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से बेट (BET) की परीक्षा 1995 में उत्तीर्णकिया। वर्त्तमान में "मदर्स इन्टरनेशनलस्कूल" में संस्कृत विभा-गाध्यक्ष के रूप में कार्यरत है।

साथ ही N.C.E.R.T में भी समय-समय पर विषयविशेषज्ञ के रूप में कार्य करते रहे हैं।

पिछले दो वर्षों से मदर्स इन्टरनेशनल संस्कृत पत्रिका नव- चेतना का सम्पादन तथा साथ ही हिन्दूकॉलेज की संस्कृतविभागीय पत्रिका का भी सम्पादन किया।

रामनाम सेवा आश्रम उज्जैन का एक प्रकल्प "विद्योत्तमा सम्मान समारोह" समिति के संयोजक के रूप में पिछले तीन वर्षों से कार्य किया जा रहा है, जिस संस्था की अध्यक्षा श्रीमती वीणा सिंह जी हैं।

प्रथम अध्याय

भूमिका

1.1 अध्ययन की प्रासंगिकता

पारिभाषिक शब्द किसी भी ग्रन्थ के गूढ़ार्थ को जानने में ज्ञान–चक्षु का काम करते हैं। यही एकमात्र विषय है जिसके माध्यम से हम उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराण अथवा व्याकरण के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होते हैं। विशेषकर प्रस्थानत्रयी जो साधारण मनुष्य के लिए एक गहन वन के समान प्रतीत होता है, को पार करना पारिभाषिक शब्दों के अभाव में कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। शङ्कराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर जिज्ञासुओं पर महान् उपकार किया है। क्योंकि इसके बिना यह अमूल्य ज्ञान उसी प्रकार दुर्गम हो जाता जिस प्रकार सामवेद का 'पुष्पसूत्र' नामक (गोभिल ऋषिकृत) प्राचीन ग्रन्थ टीका उपलब्ध न होने के कारण आज भी दुरूह बना हुआ है। आचार्य शङ्कर के द्वारा किए गए भाष्यों में तकनीकी (पारिभाषिक) शब्दों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिससे उन्होंने विषय बोधगम्य बना दिया है।

उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द किसी स्थल पर उपलब्ध नहीं होते। इन तकनीकी शब्दों का एक स्थान पर संकलन करके उनका अध्ययन प्रस्तुत कने का प्रयोजन शांकरभाष्य को बोधगम्य बनाने के साथ–साथ उपनिषदों में प्रतिपादित सत्य का सुगमता से बोध कराना है। शास्त्रों में प्रतिपादित तत्त्वों का सम्यक् बोध जिज्ञासु साधक को निष्कम्य प्रवृत्ति का धनी बनाता है। एक बार सत्य के स्वरूप का भलीभाँति तथा तर्कसंगत ढंग से बौद्धिक आकलन होने पर जिज्ञासु सत्यान्वेषण के मार्ग पर सन्देह से आक्रान्त नहीं होगा। शास्त्रों को समझने के लिए पारिभाषिक शब्दों को सही समझना आवश्यक है। सुस्पष्ट अध्ययन के साथ एक ही स्थल पर एकत्रित पारिभाषिक शब्द शास्त्र की सम्यक् प्रतिपत्ति में निश्चित रूप से सहायता कर सकते हैं। एतदर्थ यह निवेदन किया जा सकता है कि प्रस्तुत विषय अध्ययन की दृष्टि से प्रासङ्गिक है।

1.2 मुख्य उपनिषद् तथा उनमें विवेचित आध्यात्मिक विषयों का विवेचन

'उपनिषद्' शब्द 'उप', 'नि' एवं 'सद्' के संयोग से बना माना जाता है। जिसका अर्थ या तो यह हो सकता है कि 'जो सहज ही अज्ञान को नष्ट कर दे' अथवा 'जो मनुष्य को ब्रह्मा या ईश्वर की ओर ले जाए' अथवा 'जो किसी व्यक्ति को ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप बैठाए।' यहाँ यह अंतिम अर्थ इस मान्यता के प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता कि उपनिषदों का ज्ञान उन शिष्यों को ही दिया जाता था जो गुरु के समीप बैठने का सौभाग्य प्राप्त करते थे। प्राचीनकाल से ही सबसे अधिक बल इन कृतियों में निहित उपदेशों के गूढ़ रहस्य पर दिया जाता रहा है। नियम यह है कि उपनिषद् निभृततम रहस्य है और उनके सिद्धान्त पुत्र के अतिरिक्त किसी भी ऐसे शिष्य को नहीं बतलाने चाहिए जिसने कि पहले एक वर्ष तक किसी गुरु से अध्ययन न कर लिया हो तथा जो स्वयं एक शिक्षक न बनना चाहता हो।[1]

आचार्य शङ्कर के मतानुसार विशरण (नाश) गति और अवसादन (शिथिल) इन तीन अर्थों वाली, 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक एवं 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'सद्' धातु का यह रूप बनता है।[2] ब्रह्म के पास पहुँचाने वाली होने के कारण इस अर्थ के योग से भी ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' है।[3] पुनश्च अग्निविद्या को भी 'सद्' धातु के अर्थ के योग से 'उपनिषद्' कहा गया है।[4] इसलिए उपनिषद् सत्यज्ञान अथवा पूर्णज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान है, क्योंकि इसके सेवन करने वाले पुरुषों के गर्भ, जन्म और जरा आदि का निशातन या उसका अवसादन होता है।[5] अथवा यह मनुष्य को ब्रह्म तक पहुँचा देता है अथवा

---

1. ए.बी. कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग–2, पृ० 610
2. कठोपनिषद्, शाङ्करभाष्य, सम्बन्धभाष्य, पृ० 12
3. ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्। पूर्वोक्त, पृ० 13
4. योगाग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। पूवोक्त, पृ० 14
5. उपनिषदिति विद्योच्यते तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोप–निगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति। तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम अनुवाक, पृ० 21

इसमें मनुष्य का परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है।[1] किन्तु जब किसी शास्त्र अथवा ग्रन्थ को उपनिषद् कहा जाता है तो आचार्य शङ्कर के अनुसार वह उपनिषद् का गौण अर्थ है। जबकि 'उपनिषद्' शब्द विद्या में मुख्य वृत्ति (अर्थ) में प्रयुक्त होता है।[2]

उपनिषदों की संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित उपनिषदों की संख्या 112 है। मुक्तिकोपनिषद्[3] में 108 उपनिषदों का वर्णन किया गया है। शहजादा दारा शिकोह के संग्रह में जिसका फारसी अनुवाद (1956–57) में और एन्क्वेटिल डुपरोन द्वारा 'ओपनिखत' नाम से लेटिन में (1801–1802) में किया गया। इसमें लगभग 50 उपनिषद् वर्णित थीं। वर्णानुक्रम से अक्षमालोपनिषद् से लेकर हेरम्बोपनिषद् तक लगभग 220 उपनिषद् प्राप्त हैं। परन्तु प्राचीन वैदिक शाखाओं से निकटतम तथा साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली 15–20 उपनिषद् ही उपलब्ध हैं। अन्य उपनिषद् वस्तुतः अर्वाचीन साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं।[4]

'उपनिषत्संग्रह' नामक ग्रन्थ दो भागों में है—प्रथम में 120 उपनिषद् और द्वितीय में 68 साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। 179 उपनिषद् का एक संग्रह आड्यार लाइब्रेरी से तथा गजानन शम्भू शास्त्री द्वारा सम्पादित 'उपनिषद्वाक्यकोश' दो भागों में प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम भाग में 223, द्वितीय भाग में 239 उपनिषद् की सूची दी गई है। मासिक पत्रिका कल्याण के उपनिषद् अंक (जनवरी, 1949) में 220 उपनिषदों की सूची दी गई है। जिसमें से उपनिषत्स्तुव्युपनिषद् और देव्युपनिषद् सर्वथा अनुपलब्ध हैं और माण्डूक्य-कारिका के चारों प्रकरणों को पृथक्-पृथक् माना है तथा माण्डूक्योपनिषद् को स्वतंत्र रूप से परिगणित किया है। महर्षि दयानन्द केवल मात्र 11 उपनिषदों

---

1. पूर्वोक्त
2. कठोपनिषद् शाङ्करभाष्य, पृ० 14
3. सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
   सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥ मुक्ति० उ० 1-40
4. उपनिषदों में काव्यतत्त्व, प्रथम अध्याय, डॉ० कृष्ण कुमार धवन

को ही मान्यता देते हैं। डॉ० राधाकृष्णन की मान्यता है कि 'साधारणत:' उपनिषदों की संख्या 108 मानी जाती है। जिनमें से लगभग 10 उपनिषद् ही प्रधान हैं।[1] प्राचीनता, भाषा शैली, विषयगठन और उपादेयता के आधार पर उपर्युक्त एकादश उपनिषद् ही मुख्य व विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। अनेक विद्वानों ने इन्हीं पर भाष्य लिखा है। अत: इन्हें ही सर्वमान्यता और प्रामाणिकता प्राप्त हैं।

उपनिषदों की संख्या के विषय में वैमत्य को ध्यान में रखते हुए इसकी निश्चित संख्या बतलाना कठिन है। उपलब्ध उपनिषदों को सामान्यत: दो भागों में विभक्त किया है—(1) मुख्य उपनिषद् और (2) साम्प्रदायिक अथवा गौण उपनिषद्।

1.2.1 मुख्य उपनिषद्

यद्यपि उपनिषदों की संख्या 200 के लगभग मानी जाती है, किन्तु मुख्य उपनिषदों की संख्या कम है। इस श्रेणी में उन उपनिषदों को लिया गया है जो साम्प्रदायिकता से सर्वथा विमुक्त हैं। जो उपनिषद्-काल में लिखे गए हैं एवं जिन उपनिषदों पर शङ्कराचार्य ने भाष्य की रचना की है।

श्री शङ्कराचार्य ने जिन दश उपनिषदों पर भाष्य लिखा है, उन्हें प्राचीन और प्रामाणिक उपनिषद् माना गया है। मुक्तिकोपनिषद् में उनके नाम क्रमश: ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् पर जो भाष्य उपलब्ध होता है वह श्री शङ्कराचार्य का है या नहीं यह विवादास्पद है। कुछ लोगों ने इसमें उपलब्ध भाष्य को शङ्कराचार्य का मानते हुए मुख्य उपनिषदों की कोटि में रखा है। मैक्समूलर महोदय ने भी श्वेताश्वतर तथा 'मैत्रायिणी' को मिलाकर उपनिषदों की संख्या 12 बतायी है। अन्य प्राचीन विद्वान् ह्यूम महोदय ने मैक्समूलर के 12 उपनिषदों में कौषितकी को जोड़कर उपनिषदों की संख्या 13 गिनायी है।

---

1. *The Upaniṣads are generally to be 108 in number of which about ten are the chief; Indian Philosophy, p # 154, II Ed.*

पालड्यूसन कीथ महोदय ने उपनिषदों की संख्या 14 मानी है। 13 पूर्ववत् एवं 14वां महानारायण को माना है। प्रसिद्ध विद्वान् सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने प्रमुख उपनिषदों की संख्या पूर्ववत् ह्यूम के द्वारा परिगणित 13 में सुबाल, जाबाल, पैंगल, कैवल्य, ब्रजसूचिका को जोड़कर 18 माना है।

उपर्युक्त विद्वानों के मतों से प्रभावित होकर साथ ही तत्त्व एवं आध्यात्मिक विषयों का सम्यक् प्रतिपादन के कारण श्वेताश्वतर उपनिषद् को प्रमुख उपनिषदों के अन्तर्गत मानकर श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी अध्ययन किया गया है। इस प्रकार प्रमुख उपनिषद् ये हैं—

(क) बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्

(ख) ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्

(ग) ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्

(घ) कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्

(ङ) प्रश्नोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्

1.2.2 साम्प्रदायिक (गौण) उपनिषद्

साम्प्रदायिक उपनिषदों[1] में से किस उपनिषद् का सम्बन्ध किस सम्प्रदाय से है, यह बताना कठिन है। क्योंकि इस विषय में विद्वानों में मत वैभिन्न्य है। अतएव अकारादि क्रम से उपलब्ध उपनिषदों की संक्षिप्त सूची प्रस्तुत की जा रही है—

1.	अक्षमलिकोपनिषद्	2.	अक्ष्युपनिषद्
3.	अथर्वाशिखोपनिषद्	4.	अथर्वशिरोपनिषद्
5.	अद्वयतारकोपनिषद्	6.	अद्वैतोपनिषद्

1. *(i)* उपनिषत्संग्रह मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
   (ii) वैदिक पदानुक्रमकोश (उपनिषद्भाग) भूमिका

7.	अध्यात्मोपनिषद्	8.	अन्नपूर्णोपनिषद्
9.	अमृतनादोपनिषद्	10.	अल्ला उपनिषद्
11.	अवधूतोपनिषद्	12.	अव्यक्तोपनिषद्
13.	आचमनोपनिषद्	14.	आत्मपूजोपनिषद्
15.	आत्मबोधोपनिषद्	16.	आत्मोपनिषद्
17.	आथर्वणद्वितीयोपनिषद्	18.	आश्रमोपनिषद्
19.	आर्षेयोपनिषद्	20.	अरुणिकोपनिषद्
21.	इतिहासोपनिषद्	22.	ऊर्ध्वपुण्ड्रीकोपनिषद्
23.	एकाक्षरोपनिषद्	24.	कठरुद्रोपनिषद्
25.	कलिसन्तरणोपनिषद्	26.	कत्यायनोपनिषद्
27.	कामराजकीलिताद्वारोपनिषद्	28.	कालाग्निरुद्रोपनिषद्
29.	कालिकोपनिषद्	30.	कालीमेघादीक्षितोपनिषद्
31.	कुण्डिकोपनिषद्	32.	कृष्णोपनिषद्
33.	कैवल्योपनिषद्	34.	क्षुरिकोपनिषद्
35.	गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्	36.	गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद्
37.	गणेशोत्ततापिन्युपनिषद्	38.	गर्भोपनिषद्
39.	गायत्र्युपनिषद्	40.	गायत्रीरहस्योपनिषद्
41.	गरुडोपनिषद्	42.	गुह्यकल्युपनिषद्
43.	गुह्यषोढान्यासोपनिषद्	44.	गोपालपूर्वतापिन्योपनिषद्
45.	गोपालोतरतापिन्योपनिषद्	46.	गोपीचन्दनोपनिषद्
47.	चतुर्वेदोपनिषद्	48.	चाक्षुषोपनिषद्
49.	छागलेयोपनिषद्	50.	जाबालदर्शनोपनिषद्
51.	जाबालोपनिषद्	52.	जाबाल्युपनिषद्
53.	जैमिनीयोपनिषद्–ब्राह्मण	54.	तारसारोपनिषद्

55. तारोपनिषद्
56. तुरीयातीतोपनिषद्
57. तुरीयोपनिषद्
58. तुलत्युपनिषद्
59. तेजबिन्दूपनिषद्
60. तेजोबिन्दूपनिषद्
61. त्रिपद्विमूतिभमहानारायणोपनिषद्
62. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
63. त्रिपरोपनिषद्
64. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्
65. दक्षिणामृत्युपनिषद्
66. दत्तात्रेयोपनिषद्
67. देव्युपनिषद्
68. द्वेयोपनिषद्
69. ध्यानबिन्दूपनिषद्
70. नादबिन्दूपनिषद्
71. नारदपरिव्राजकोपनिषद्
72. नारदोपनिषद्
73. नारायणार्थवशिरोपनिषद्
74. नारायणपूर्वतापिनीयोपनिषद्
75. नारायणोक्षरतापिनीयोपनिषद्
76. निरालम्बोपनिषद्
77. निरुक्तोपनिषद्
78. निर्वाणोपनिषद्
79. नीलरुद्रोपनिषद्
80. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
81. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्
82. नृसिंहोक्षरतापिन्युपनिषद्
83. पन्यब्रह्मोपनिषद्
84. परब्रह्मोपनिषद्
85. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
86. परमहंसोपनिषद्
87. पारमात्मिकोपनिषद्
88. पारायणोपनिषद्
89. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
90. पिण्डोपनिषद्
91. पीताम्बरोपनिषद्
92. पैङ्गलोपनिषद्
93. प्रणवोपनिषद्
94. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
95. वटुकोपनिषद्
96. बह्वृचोपनिषद्
97. वाष्कलमन्त्रोपनिषद्
98. बिलवोपनिषद्
99. बृहज्जाबालोपनिषद्
100. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
101. ब्रह्मविद्योपनिषद्
102. ब्रह्मोपनिषद्

103. भस्मजाबालोपनिषद्
104. भावनोपनिषद्
105. भिक्षुकोपनिषद्
106. मठाम्नोयोपनिषद्
107. मण्डलब्रह्मणोपनिषद्
108. मन्त्रिकोपनिषद्
109. महानारायणोपनिषद्
110. महावाक्योपनिषद्
111. महोपनिषद्
112. मुक्तिकोपनिषद्
113. मुद्गलोपनिषद्
114. मृत्युलागूलोपनिषद्
115. मैत्रेय्युपनिषद्
116. यज्ञोपवीतोपनिषद्
117. याज्ञवल्क्योपनिषद्
118. योगकुण्डल्युपनिषद्
119. योगचूडामण्युपनिषद्
120. योगतत्त्वोपनिषद्
121. योगराजोपनिषद्
122. योगशिखोपनिषद्
123. योगोपनिषद्
124. राजाश्यामलारहस्योपनिषद्
125. राधोपनिषद्
126. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
127. रामरहस्योपनिषद्
128. रामोक्षरतापिन्युपनिषद्
129. रुद्रहृदयोपनिषद्
130. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
131. रुद्रोपनिषद्
132. लाङ्गूलोपनिषद्
133. लिङ्गोपनिषद्
134. वज्रपिञ्जरोपनिषद्
135. वज्रसूचिकोपनिषद्
136. वनदुर्गोपनिषद्
137. वराहोपनिषद्
138. वासुदेवोपनिषद्
139. विश्रामोपनिषद्
140. शरमोपनिषद्
141. शाट्यायनीयोपनिषद्
142. शाण्डिल्योपनिषद्
143. शारीरकोपनिषद्
144. शिवसंकल्पोपनिषद्
145. शिवोपनिषद्
146. शुकरहस्योपनिषद्
147. शौनकोपनिषद्
148. श्यामोपनिषद्
149. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्
150. श्रीचक्रोपनिषद्

151. श्रीविद्यातारकोपनिषद्
152. षोढोपनिषद्
153. संकर्षणोपनिषद्
154. सदानन्दोपनिषद्
155. संन्यासोपनिषद्
156. सरस्वतीरहस्योपनिषद्
157. सर्वसारोपनिषद्
158. सामरहस्योपनिषद्
159. सावित्र्युपनिषद्
160. सिद्धान्तशिखोपनिषद्
161. सिद्धान्तसारोपनिषद्
162. सीतोपनिषद्
163. सुदर्शनोपनिषद्
164. सुबालोपनिषद्
165. सुमुख्युपनिषद्
166. सूर्यतापिन्युपनिषद्
167. सूर्योपनिषद्
168. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
169. स्कन्दोपनिषद्
170. स्वसंवेद्योपनिषद्
171. हयग्रीवोपनिषद्
172. हंसषोढोपनिषद्
173. हंसोपनिषद्
174. हेरम्बोपनिषद्

1.2.3 अप्रकाशित उपनिषद्

उपनिषद् जो अप्रकाशित हैं[1], जिनका केवल नामोल्लेख प्राप्त होता है, उनके नाम निम्नवत् हैं—

1. अद्वैतभावनोपनिषद्
2. अननुभवसारोपनिषद्
3. अमनस्कोपनिषद्
4. आयुर्वेदोपनिषद्
5. उपनिषद् स्तुति
6. कठश्रुत्युपनिषद्
7. कोतोपनिषद्
8. गान्धर्वोपनिषद्
9. चिन्त्युपनिषद्
10. सारोपनिषद्
11. त्रिपुरामहोपनिषद्
12. त्रिसुपर्णोपनिषद्
13. दत्तोपनिषद्
14. दुर्वासौपनिषद्

---

1. वैदिक पदानुक्रमकोश (उपनिषद्भाग) भूमिका।

15. पुरुषसूक्तोपनिषद्
16. भगवदोपनिषद्
17. मल्लायुपनिषद्
18. योगोपनिषद्
19. राधिकोपनिषद्
20. लक्ष्म्युपनिषद्
21. विष्णुहृदयोपनिषद्
22. श्रीसूक्त-उपनिषद्
23. सन्ध्योपनिषद्
24. सर्वोपनिषद्
25. संहितोपनिषद्
26. सिद्धान्तविह्लोपनिषद्
27. संगोपनिषद्
28. विदम्बरोपनिषद्
29. तत्त्वोपनिषद्
30. तारोपनिषद्
31. देव्युपनिषद्
32. नारायणीयमहोपनिषद्
33. निर्लेपोपनिषद्
34. प्रसादजाबालोपनिषद्
35. प्रवर्ग्याग्निकारवमेधोपनिषद्
36. रुद्रोपनिषद्
37. विष्णूपनिषद्
38. भक्तियोगोपनिषद्
39. वैंकटेशपूर्वोत्तरतापिन्युपनिषद्
40. वेदान्तसारोपनिषद्
41. बृहत्पूर्वतापिनी-उपनिषद्
42. श्रुतिरहस्योपनिषद्
43. बृहत्तोतरतापिनी-उपनिषद्

इसके अतिरिक्त कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिनकी गणना दो बार हुई है, किन्तु उपलब्ध केवल एक रूप में होते हैं। यथा—

अवधूतोपनिषद् विल्वोपनिषद्

ऐतरेयोपनिषद् योगतत्त्वोपनिषद्देव्युपनिषद्

अध्यात्मबोध अथवा आत्मस्वरूपज्ञान उपनिषदों के शाङ्करभाष्यों का मूलभूत सिद्धान्त है। जिस प्रकार काव्य की आत्मा 'ध्वनि' मानी जाती है, उसी प्रकार उपनिषदों पर शाङ्करभाष्यों एवं सिद्धान्तों की आत्मा 'आध्यात्मिकता' है। यहाँ आध्यात्मिकता को उपनिषदों पर शाङ्करभाष्यों की एक विशेषता के रूप में वर्णित किया जा रहा है।

'आत्मनि इत्यध्यात्मम् तेन सम्बन्धित: आध्यात्मिक: तस्य भाव: आध्यात्मिकता' इस व्युत्पित्तिलभ्यार्थ के अनुसार आत्मा से सम्बन्धित को आध्यात्मिक तथा आध्यात्मिक के भाव को आध्यात्मिकता कहा जाता है। आचार्य शङ्कर अपने भाष्यों में आध्यात्मिकता को निम्न प्रकार से परिभाषित करते हैं—

'चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में स्थिर कर देना अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग में स्थिर व्यक्ति हर्ष-शोक रहित हो जाता है।[1] यद्यपि यहाँ अध्यात्मयोग को परिभाषित किया गया है तथापि इससे आध्यात्मिकता के स्वरूप को जानने में कोई कठिनाई नहीं है। अध्यात्म समस्तपद के अनुसार चित्त को विषय से हटाकर आत्मा में स्थिर करने से सम्बन्धित भाव को आध्यात्मिकता कहते हैं।'

अन्यत्र आचार्य शङ्कर अध्यात्म को निम्न प्रकार से परिभाषित करते हैं—

'आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान कहते हैं।[2] इसके अनुसार सम्बन्धित ज्ञान के भाव को आध्यात्मिकता कहा जा सकता है।'

गीताभाष्य में उन्होंने अध्यात्म को परिभाषित करते हुए कहा है कि— 'आत्मादि विषयं ज्ञानम् अध्यात्मम्।[3]' स्पष्ट है कि आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान या वर्णन आध्यात्मिक तथा आध्यात्मिक का भाव आध्यात्मिकता कहलाता है।

'आध्यात्मिकता' आधिदैविकता एवं आधिभौतिकता की अपेक्षा सूक्ष्म विषय है, क्योंकि आधिभौतिकता का सम्बन्ध सामान्य भूतों (प्राणियों) से है और आधिदैविकता का सम्बन्ध देवों से है, जो सामान्य प्राणियों की अपेक्षा

---

1. विषयेभ्य: प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयो: अभावाज्जहाति। क०उ०शा०भा० 1/2/12
2. अथ अनन्तरम् अध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। के०उ०शा०भा०प०भा० 4/5
3. गीता शा०भा० 13/11

उत्तम होते हैं।[1] आधिदैविकता के पश्चात् पुरुषार्थ–प्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी आध्यात्मिकता है। यही परश्रेय तथा मोक्षाख्य परपुरुषार्थ है। अत: आध्यात्मिकता आधिदैविकता से उत्तम है।[2]

1.2.4 शाङ्करभाष्यों में आध्यात्मिकता

आचार्य शङ्कर के अनुसार आध्यात्मिकता एक परमावश्यक तत्त्व है, क्योंकि जो अध्यात्मविद् नहीं है, वह वेदों को जानने में भी समर्थ नहीं हो सकता है।[3] मनु ने भी कहा है—'नह्यनध्यात्मविकत्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।[4]' अत: स्पष्ट है कि मनु के अनुसार क्रियाफल की प्राप्ति अध्यात्म ज्ञान के बिना संभव नहीं है। आध्यात्मिकता ही है शङ्कर की दृष्टि में ब्रह्म।[5] आत्मा ही पारमार्थिक सत्य है तथा आत्मानुभूति ही उनकी दृष्टि में मोक्ष है।[6] इसलिए आध्यात्मिकता अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित वर्णनों को उन्होंने अपने भाष्यों में सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की है। वास्तव में वेद, उपनिषत् एवं दर्शन का प्रतिपाद्य तत्त्व आध्यात्मिकता ही है। शाङ्करभाष्य आध्यात्मिकतोन्मुखी हैं, इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

आचार्य शङ्कर ने आध्यात्मिकता को परमलक्ष्य मानते हुए ही सम्भवत: आकाश, देव, यज्ञ, जीव, जगत् एवं मोक्षादि को आत्मरूप में वर्णित किया है। अर्थात् उनके अनुसार आकाश ब्रह्म (आत्मा) रूप ही है। यथा—'आकाश शब्द: परमेश्वरे प्रसिद्ध:।[7]' ब्रह्मसूत्र का एक पूरा अधिकरण आकाश की

---

1. मनुष्याणामेवादान्ता येऽन्यैरुत्तमैर्गुणै: सम्पन्नास्ते देवा:। बृ०उ०शा०भा० 5/2/3
2. 'किं चाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषपृथिव्यामन्तर्गत:।'
   यहाँ अधिदेव पुरुष को तेजोमय तथा अध्यात्म पुरुष को अमृत कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिकता अधिदैविकता से उत्तम है। गी०का०शा०भा० 3/12
3. वही 2/30
4. मनुस्मृ० 6/82
5. आत्मा हि ब्रह्म। तै०उ०शा०भा० 1/1/1
6. स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष:। वही
7. आकाश इति च पर आत्मा। छा०उ०शा०भा० 1/9/1

ब्रह्मरूपता की सिद्धि हेतु समर्पित है।[1] जहाँ श्रुति, स्मृति एवं युक्ति के द्वारा आकाश की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

समस्त देवों की भी शाङ्करभाष्यों में आत्मपरक व्याख्या विहित है। जो तैंतीस प्रकार के देवता हैं, वे सभी (एष एव) आत्मस्वरूप ही हैं।[2] देवता ही क्यों? मनुष्य एवं पितर भी आत्मस्वरूप ही आचार्य शङ्कर को अभीष्ट हैं।[3] भाव यह है कि एक परमात्मा ही उपाधिभेद से देव, पितर एवं मनुष्यरूप से आभासित हो रहा है।

मोक्ष भी ब्रह्मभाव अर्थात् आत्मस्वरूपोपलब्धि मात्र ही है, अन्य कुछ नहीं।[4] उनकी दृष्टि में जीव का भी वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है।[5] इसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म में ही मिथ्यारूप से प्रकल्पित है। यथा—'सर्वं हि नानात्वं ब्रह्मणि कल्पितमेव। सर्वो हि लोकव्यवहारो ब्रह्मण्येव कल्पितो न परमार्थः सन्।[6]' वैश्वानर को भी आत्मा ही माना है।[7] वैश्वानर की अध्यात्मपरकता की सिद्धि हेतु ब्रह्मसूत्र में वैश्वानराधिकरण[8] है जहाँ अनेकानेक प्रमाणों एवं इसके अतिरिक्त ओंकार 'ब्रह्मेत्योङ्कारः[9]', 'ईश्वर–प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः[10]', 'आनन्द

1. ब्र०सू०शा०भा; 1/3/14 से लेकर 21 तक।
2. येऽप्येतेऽग्न्यादयः सर्वे देवा एष एव। ऐ०उ०शा०भा० 3/1/3
3. प्रविभक्तम् अनेकधा – देवपितृमनुष्यादिभेदैः। गी०शा०भा० 11/13
4. ब्रह्मभावश्च मोक्षः। ब्र०सू०शा०भा० 1/1/4 तथा
   स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। तै०उ०शा०भा० 1/1/1
5. आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तयः। ब्र०सू०शा०भा० 2/3/50, अन्यत्र—न च जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नश्चार इव राज्ञः। आत्मनेति विशेषणात् उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। ब्र०सू०शा०भा० 2/4/20
6. बृ०उ०शा०भा० 1/4/10, अन्यत्र—सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरंगस्थानीयम् समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म। बृ०उ०शा०भा० 5/1/1
7. तस्मात् परमेश्वर एव वैश्वानरः। ब्र०सू०शा०भा० 1/2/24, अन्यत्र—सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतत्सिद्धं भवति। छा०उ०शा०भा० 5/11/1
8. ब्रह्मसूत्र 1/2/24 से 32
9. तै०उ०शा०भा० 1/5/1 से 3
10. गौ०का०शा०भा० 2/13

इति परं ब्रह्म[1]' तथा प्रणवादि समस्त तत्त्वों की व्याख्या आत्मपरक ही है।

उपर्युक्त वर्णन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि 'आध्यात्मिकता' शाङ्करभाष्यों का प्राण तत्त्व है। आचार्य शङ्कर का पूर्णप्रयास अध्यात्म की ओर ही है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने कथंचित् शब्दों की अध्यात्मपरकता सिद्ध की हो, अपितु पर्याप्त एवं पुष्ट प्रमाणों की सहायता से उन्होंने इस कार्य का सम्पादन किया है।

दूरदृष्टि तथा विज्ञपुरुष होने के कारण आचार्य शङ्कर यह जानते थे कि मात्र तर्क के सहारे आध्यात्मिकता का प्रतिपादन उचित नहीं, क्योंकि तर्क तो पुरुष के बुद्धिकौशल पर आधारित होता है। आज यदि हम तर्क के आधार पर अध्यात्म तत्त्व की स्थापना कर देते हैं तो कल अन्य कश्चित् अन्यत्र कुशलमति उन तर्कों को निरस्त करके स्वेच्छा से वेदों, उपनिषदों एवं दर्शनशास्त्रों की व्याख्या कर सकता है। अत: अनवस्थित स्वरूप वाले तर्क के सहारे अध्यात्मतत्त्व की स्थापना करना प्रचलित अनेकानेक सम्प्रदायों में योगदान देकर मात्र उनकी संख्या में वृद्धि करना है, अन्य कुछ नहीं। इसके विपरीत यदि पुष्ट प्रमाणों एवं युक्ति के द्वारा आत्मतत्त्व की स्थापना कर दी जाए तो कालान्तर में भी द्वैत से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान संभव हो सकता है। 'अध्यात्मवाद' अर्थात् केवल मात्र आत्मा की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करने से समस्त मनुष्यों के मन में यह भावना बनी रहेगी कि वास्तव में हम एक ही पिता की सन्तान हैं। इससे आपसी घनिष्ठता बढ़ेगी तथा समाज से ईर्ष्या, द्वेष एवं हिंसा का निराकरण होगा।

कालान्तर में आचार्य शङ्कर का संदेह जिससे बचने हेतु उन्होंने अध्यात्मवाद की स्थापना की थी, वास्तविकता में परिवर्तित हुआ। यही कारण है कि आज हम सर्वत्र साम्प्रदायिकता, हिंसा व कलह देख रहे हैं।

पूर्ण विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि यदि श्रुतिस्मृत्यनुमोदित एवं आचार्य शङ्कर द्वारा पल्लवित 'अध्यात्मवाद' पर सत्यनिष्ठा के साथ आचरण

---

1. तै०उ०शा०भा० 2/5/1

किया जाए तो आज भी सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है, क्योंकि अद्वैततत्त्व की स्वीकृति अर्थात् मात्र आध्यात्मिकता में प्रतिष्ठित होकर शोक एवं मोह का प्रश्न ही नहीं उठता।[1] इसके विपरीत जो अनेकतत्त्वदर्शी है, वह जन्म–मरण के कुचक्र में फँस कर विनष्ट हो जाता है।[2] संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आध्यात्मिकता उपनिषदों का प्राण तत्त्व है।

1.3.3 उपनिषदों में उपलब्ध प्रतिपादन शैली का स्वरूप

सूक्ष्म रूप से सभी उपनिषदों का उद्देश्य एक होते हुए भी स्थूलरूपेण उपनिषद् के दार्शनिकों ने विभिन्न प्रसंगों में तत्–तद् विषयों के प्रतिपादन के लिए पृथक्–पृथक् शैलियाँ अपनायी हैं। मुख्य रूप से ये शैलियाँ निम्नलिखित हैं—

1.3.1 प्रतीकात्मक शैली

छान्दोग्योपनिषद् में परम तत्त्व के विवेचन के लिए महर्षि शाण्डिल्य ने प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग किया है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
अथ..क्रतुं कुर्वीत॥[3]

यहाँ महर्षि शाण्डिल्य ने परम तत्त्व को 'तज्जलान्' कहा है। अर्थात् जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है (तज्ज), जिसमें यह जगत् गतिशील है (तदन) और जिसमें ये जगत् लय होता है (तल्ल), वह ब्रह्म है। वह शैली, जिसमें प्रतीकों (अर्थगर्भित पारिभाषिक सूत्ररूप शब्दों) का उपयोग करके ग्रन्थ की रचना की जाती है, प्रतीकात्मक शैली कही जाती है।

1.3.2 सूत्र शैली

माण्डूक्योपनिषद् में इस शैली के द्वारा 'ओम्' की व्याख्या करते हुए

---

1. तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:। ऐ०उ० 7
2. मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृ०उ० 4/4/19
3. छा०उ० 3/14/1

(अ+उ+म्) इसे परब्रह्म बताया गया है—

ओमित्येदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्ययमोङ्कार एव[1] **॥ 1 ॥**

(अ+उ+म्) ओम् यहाँ चतुष्पात् आत्मा कहा गया है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद्।[2]

1.3.3 निरुक्त शैली

व्याकरण के अनुसार व्युत्पन्न शब्द के साम्य के आधार पर अर्थ-निर्देश करने को निरुक्त शैली कहते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बताकर उपनिषदों में अनेक शब्दों की व्याख्याएँ की गई हैं। इसे निरुक्त शैली कहते हैं (जहाँ किसी शब्द की व्याख्या उसका अर्थ बताकर की जाए)। जैसे—

(क) स्वप्न — निद्रावस्था में होने वाला भ्रम, प्रायः इसमें पूर्वदृष्ट विषयों का स्मरण होता है।[3]

(ख) पुरुषः — पुर् में (देह) जो शयन करता है, वह पुरिशय साम्य पुरुष है।[4]

(ग) निष्कलम्— निर्गताः कला यस्मात् तत् निष्कलम् निरवयवम् इत्यर्थः।[5]

(घ) निर्वेद — निष्पूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे।[6]

---

1. मा॰उ॰ / गौ॰का॰ /1
2. मा॰उ॰ / गौ॰का॰ /2
3. बृ॰उ॰ 4/3/9
4. बृ॰उ॰शा॰भा॰ 2/1/16
5. मु॰उ॰शा॰भा॰ 1/2/13
6. वही, 1/2/12

1.3.4 आख्यायिका शैली

जहाँ आख्यायिकाओं के माध्यम से विषय का प्रतिपादन किया जाता है, उसे आख्यायिका शैली कहते हैं। यथा छान्दोग्योपनिषद् में आत्म तत्त्व के क्रमिक विवेचन के लिए इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका का आश्रय लिया गया है।

1.3.5 उपमान शैली

अनेक उपमानों द्वारा विषय का प्रतिपादन ही उपमान शैली है। उदाहरण के लिए—

(क) जिस प्रकार नमक पानी में घुलकर सर्वत्र पानी में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म जीव में सर्वत्र व्याप्त है।

(ख) जैसे नदियाँ समुद्र में मिलने पर अपने नाम एवं रूप से रहित हो जाती हैं, वैसे ही जीव ब्रह्म से मिलकर अपने नाम एवं रूप को खो देता है। इत्यादि।

आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक साम्यानुमानों द्वारा जीव और आत्मा के सम्बन्ध को बताते हुए 'तत् त्वम् असि' की व्याख्या की है।

1.3.6 शास्त्रार्थ शैली / संवाद शैली

दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने अनेक दार्शनिकों से शास्त्रार्थ करके सम्राट् जनक के दरबार में अपने दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। यह प्रकरण बृहदारण्यकोपनिषद् में उपलब्ध होता है। शास्त्रार्थ शैली इसी शैली को कहते हैं। कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद, छान्दोग्य में आरुणि-श्वेतकेतु संवाद तथा नारद-सनत् कुमार संवाद और बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद एवं याज्ञवल्क्य-जनक संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संवाद हैं।

1.3.7 संश्लेषणात्मक शैली

प्रश्नोपनिषद् में पिप्लाद ने छः ऋषियों के मतों का समन्वय किया है। छान्दोग्योपनिषद् में अश्वपति कैकेय ने सृष्टि–विज्ञान के छः सिद्धान्तों का समन्वय किया है। अन्य स्थानों पर भी अनेक दृष्टिकोणों का समन्वय प्राप्त होता है। यही संश्लेषणात्मक शैली है।

1.3.8 आत्म–संलाप शैली

याज्ञवल्क्य, नचिकेता, शाण्डिल्य आदि दार्शनिकों ने एकान्त में स्वगत संलाप द्वारा विषयों का प्रतिपादन किया है। अतः इस शैली की गणना भी महत्त्वपूर्ण है।

1.3.9 अरुन्धतीन्याय शैली

तैत्तिरीयोपनिषद् में वरुण ने भृगु के समक्ष सत्य का उद्घाटन एकाएक न करके शनैः–शनैः किया है। यहाँ ब्रह्म को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय बताया गया है। शिष्य भृगु क्रमशः सत्य के स्वरूप से परिचित होते हैं। यह शैली अरुन्धतीन्याय शैली कहलाती है।

1.3.10 विश्लेषणात्मक शैली

यह शैली उपनिषदों में बहुधा देखी जाती है। किसी वस्तु के कारण पुनः कारण के कारण आधार पुनः आधार के आधार या लक्ष्य के लक्ष्य, प्रयोजन आदि का अनुसन्धान करते जाना और अन्त में मूल वस्तु तक पहुँचना विश्लेषणात्मक शैली है। याज्ञवल्क्य ने आत्मा का विवेचन शुद्ध विश्लेषणात्मक विधि से किया है। आत्मा सबका ज्ञाता होते हुए भी स्वयं अज्ञाता है, सबका कर्त्ता होते हुए भी स्वयं अकर्त्ता है और सबका भोक्ता होते हुए भी स्वयं अभोक्ता है। अर्थात् आत्मा स्वकारण, स्वाधार, स्वालक्ष्य और स्वप्रकाश है।

1.3.11 आधिदैवत शैली

उपनिषदों में कहीं–कहीं देवताओं के द्वारा ऋषियों को ज्ञान–प्राप्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। जैसे 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में वरुण देव ने भृगु ऋषि को

ज्ञान दिया। 'छान्दोग्योपनिषद्' में अग्नि देव ने सत्यकाम, जाबाल को तथा प्रजापति ने इन्द्र को ज्ञान दिया। 'कठोपनिषद्' में यमदेव ने नचिकेता को ज्ञान दिया। इस प्रकार का दिव्य ज्ञान बताता है कि उपनिषद् ज्ञान ही दिव्य संदेश है, अपौरुषेय ज्ञान है, उसका दाता ईश्वर है। विषय-प्रतिपादन की यह शैली आधिदैवत शैली के नाम से अभिहित है।

इस प्रकार से उपनिषदों में और भी प्रतिपादन शैलियाँ ढूंढी जा सकती हैं, जिनके आधार पर परम तत्त्व को समझने तथा समझाने का कार्य किया गया है।

1.4 उपनिषदों में प्रयुक्त भाषा की दुरूहता के भाष्यादि व्याख्याओं की आवश्यकता

उपनिषदों में प्रयुक्त भाषा की दुरूहता के कारण उनके भाष्यादि की आवश्यकता हुई। सर्वप्रथम विचारणीय तथ्य है कि उपनिषदों का रचनाकाल सामान्यतया 800 ई०पू० के आसपास माना जाता है। काल के अन्तराल के साथ भाषा, व्याकरणादि में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। उपनिषदों की भाषा को देखकर यह मानना कि 800 ई० में भी उक्त भाषा सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य रही होगी, कठिन ही है। फिर सैकड़ों वर्षों के बाद तो भाषाविदों का बहुत से स्थलों पर उलझना आश्चर्य की बात नहीं है। यह मूल कारण रहा होगा, जिससे भाष्यादि की आवश्यकता का अनुभव हुआ। भाष्यादि का उद्देश्य उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों और तकनीकी संकेतात्मक शैली में वर्णित आध्यात्मिक शब्दों को विभिन्न विधियों के माध्यम से परिभाषित करते हुए प्रसङ्गानुकूल अर्थ का ज्ञान कराना है। उपनिषदों की शब्दावली को भाष्यों के सहारे सहजता से समझा जा सकता है। उपनिषदों के वाक्य-विन्यास प्रतिपाद्य स्थापन की विभिन्न शैलियों और तद्विषयक सिद्धान्तों को समझने हेतु भाष्यादि सेतु का कार्य करते हैं। इस सेतु के अभाव में जिज्ञासु अपने आपको एक सीमा पर तथा उपनिषद् ज्ञान को दूसरी सीमा पर पाते हैं।

भाषागत दुरूहता के अतिरिक्त विचारों की क्लिष्टता भी भाष्यादि की आवश्यकता को चिह्नित करती है। उपनिषदों में गूढ़ रहस्यों को प्रतिपादित

करने के क्रम में विचारों की जो धारा प्रवाहित होती है, वह निश्चित रूप से दुर्गम मार्गों से होकर गुजरती है और वह साधारण जनमानस या अल्पज्ञों की पहुँच से दूर है। उन दुरूह विचारों, गूढ़ सिद्धान्तों को अनेकानेक साक्ष्यों द्वारा, दृष्टान्तों द्वारा, कभी प्रतीक सूत्रों द्वारा, कभी संश्लेषण-विश्लेषण द्वारा कभी निरुक्ति द्वारा सरल-सुबोध बनाने के उद्देश्य से भी भाष्यादि की आवश्यकता को जन्म देते हैं। भाष्यों के माध्यम से उपनिषदों में प्रतिपादित विषय सरलता से बुद्धिगम्य होते चले जाते हैं।

सभी उपनिषदों का विषय भी भिन्न-भिन्न है। यहाँ तक कि एक ही उपनिषद् में अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन है तथा वे विषय या तत्त्व भी सूक्ष्म हैं तथा यह सत्य अनेक प्रकार के आवरणों से ढका हुआ है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[1]

उन विषयों को अनावृत कर ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित करने के लिए भी भाष्यादि की आवश्यकता है। आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जीव, जगत्, मोक्ष, सत्य, स्वप्न, अविद्या, माया, अज्ञान, स्वर्ग आदि ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें सहसा नहीं समझा जा सकता। शनैः-शनैः सोपानों पर क्रमशः आरूढ़ होते हुए इन तत्त्वों को समझा जा सकता है। इन सब तत्त्वों को अनावृत अर्थात् आवरण रहित करने में भाष्यादि गुरु की भूमिका का निर्वहन करते हैं।

उपनिषदों के इस गूढ़ रहस्य को प्रकट करने के लिए अनेक आचार्यों ने भाष्य एवं टीका की रचना की है। किन्तु उन सभी भाष्यों में शङ्कराचार्य का भाष्य अद्वितीय है। यही कारण है कि उनके द्वारा जिन उपनिषदों पर भाष्य लिखा गया है, उन्हीं सब को प्रमुख उपनिषदों की कोटि में रखा गया है।

1.5 आचार्य शङ्कर की व्याख्या पद्धति तथा उसके संदर्भ में पारिभाषिक शब्दों का महत्त्व

प्रस्थानत्रयी के अतिगम्भीर, सूक्ष्म एवं विद्वद्गम्य सिद्धान्तों का सरलीकरण

1. ई०उ० 15

एवं स्पष्टीकरण करके उन्हें जनसामान्य के लिए बोधगम्य बनाने हेतु यह परमावश्यक था कि आचार्य शङ्कर भारतीय धर्म एवं दर्शन के मूलभूत ग्रन्थों की तर्कसंगत, प्रामाणिक एवं सरल तथा सुस्पष्ट व्याख्याएँ प्रस्तुत करते, जिससे तत्–तद् ग्रन्थों के तदानीन्तन व्याख्यायमान विपरीतार्थ का प्रतिषेध तथा उचितार्थ की स्थापना संभव बन पाती। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने अपने भाष्य में निम्न व्याख्या–पद्धतियों का समायोजन किया—

1.5.1 वैदिक पद्धति

वैदिक पद्धति के अन्तर्गत आचार्य शङ्कर ने दो प्रामाण्यों का वर्णन किया है—

1.5.1.1 श्रुतिप्रामाण्य

वेदान्त आस्तिक कोटि का दर्शन होने से वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करता है। वेद प्रामाण्य से अभिप्राय वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् हैं। अन्य दर्शनों का श्रुति से कहीं न कहीं प्रतीयमान विरोध हो सकता है, परन्तु वेदान्त दर्शन में ऐसा नहीं है। इसीलिए वेदान्त को उपनिषत्प्रमाणक दर्शन कहा जाता है।[1] वेदान्त की इन मान्यताओं के संदर्भ में 'शाङ्करभाष्य पद्धति[2]' का वैदिक अर्थात् श्रुति प्रमाणक होना नितान्त स्वाभाविक है। आचार्य शङ्कर ने अपने समस्त भाष्यों में श्रुति प्रामाण्य को अन्य स्मृति, युक्ति पुराणादि समस्त प्रमाणों से प्रबल एवं स्वतंत्र प्रमाण माना है।[3] जिस प्रकार सूर्य रूपज्ञान में स्वतंत्र प्रामाण्य की पूर्ण सामर्थ्य रखता है, उसी प्रकार

---

1. वेदान्तोनामोपनिषत्प्रमाणम्। वेदान्तसार—3, पृ० 3
2. 'पादेन हन्यते गम्यते इति पद्धतिः' अर्थात् पथ या मार्ग का नाम पद्धति है। इस व्युत्पत्ति के संदर्भ में कहा जा सकता है कि किसी विषय के सम्यगर्थावबोध हेतु जो विधि अपनायी जाती है, वह पद्धति कहलाती है। कहा भी गया है—ग्रन्थस्य निष्कृष्टार्थ-बोधके ग्रन्थभेदे। है०च०, वाचस्पत्यम् भाग–5, पृ० 1/225 से उद्धृत। इस प्रकार शाङ्करभाष्य पद्धति का अभिप्राय है—आचार्य शङ्कर द्वारा भाष्य ग्रन्थों के अर्थ के परावबोधन हेतु अधिगृहीत विधि।
3. वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये। ब्र०सू०शा०भा० (2/1/1)

किसी सिद्धान्त के समर्थन में वेद प्रामाण्य किसी अन्य प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं रखता। श्रुति प्रामाण्य में उनका विश्वास इसलिए है, क्योंकि श्रुतियाँ पुरुषार्थ की उपदेशक[1], यथार्थ की प्रकाशक[2] तथा अपौरुषेय होने से पुरुषकृत दोषों से रहित हैं। अत: आत्महितेच्छु को श्रुति-प्रतिपादित अर्थ तथावत् ग्रहण कर लेना चाहिए।[3] उनके अनुसार श्रुत्यर्थ को तथावत् ग्रहण न करने में तथा वेदानुकूल साहित्य की प्रामाण्य अस्वीकृति में महान् दोष है।[4] धर्माधर्म के विषय में वेद जिस प्रकार परम प्रमाण स्वीकृत हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में भी उनका प्रामाण्य सर्वोपरि है।[5] प्रत्यक्षादि प्रमाण भी जिस धर्म के प्रकाशन में असमर्थ है, श्रुति उसकी भी प्रकाशक है।[6] जैसे श्रुति विरुद्धार्थ की कल्पना अन्याय्य ही है।[7] अत: हमारा कथ्य शास्त्रप्रमाणक ही होना चाहिए।[8] श्रुतिप्रामाण्य की पराकाष्ठा को स्वीकारते हुए उन्होंने वेद-विरुद्ध समस्त शास्त्रों को अनित्य, अशुचि एवं दु:ख का हेतु तथा पुरुषार्थ का असाधक माना है।[9] इसके विपरीत वेदजन्य ज्ञान का अतीत, वर्तमान अथवा अनागत कालत्रय में न तो कभी किसी तार्किक के तर्क से स्थायी बोध हुआ है, न हो रहा है और न कभी होगा

---

1. पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुतीनाम्। तै०उ०शा०भा० (1/11/4)
2. श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात्। प्र०उ०शा०भा० (4/5)
   एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न हि अभिमानेन वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वै: पण्डितमन्यै:।
3. पुरुषनिश्वासवत् न च पुरुषबुद्धिप्रयत्नपूर्वक:, अत: प्रमाणं निरपेक्ष एव स्वार्थे तस्माद् यत्तेनोक्तं तत्तथैव प्रतिपत्तव्यम् आत्मन: श्रेय इच्छद्भि:। बृ०उ०शा०भा० (2/4/10)
4. अवैदिकत्वं नाम महान्दोषो भवति सनत्। सु०शा०भा० (1/20)
5. ननु धर्म इव ब्रह्मण्यपिनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। ब्र०सू०शा०भा० (2/1/4)
6. श्रुते: प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादि विषये अदृष्टदर्शनार्थत्वात् प्रामाण्यमस्य। गी०शा०भा० (18/67)
7. अश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति। ब्र०सू०शा०भा० 4/2/4
8. सर्वमेतच्छास्त्रप्रामाण्याद् भविष्यति। बृ०उ०शा०भा० 2/1/20
9. पुरुषार्थ पर्यवसायित्वाद्वेदस्य तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य अनित्याशुचि दु:खानुविद्धत्वेन पुरुषार्थत्वाभावात् तत्स्वरूपतत्ज्ञानतत्साधनप्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रामाण्यमित्यर्थ:। सनत् सु०शा०भा० 2/41

ही। श्रुत्यर्थ के विषय में आचार्य शङ्कर की यह मान्यता अवश्य है कि यदि कहीं श्रुतियों में यत्किञ्चित् विरोध प्रतीत होता हो तो वहाँ गौण प्रधान भाव से उनका अर्थ सामंजस्य स्थापित कर लेना चाहिए।[1] इसी प्रकार किसी स्थल पर श्रुत्यर्थ एवं लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में संदेह हो जाए, वहाँ श्रुति को प्रामाण्य मान लेना चाहिए। श्रुत्यभाव में लक्ष्यार्थ ही प्रमाण होगा।[2] आचार्य शङ्कर को श्रुत्यनुसारी स्मृतियाँ ही मान्य हैं।[3] इतर उपेक्ष्य ही हैं।[4] उनके अनुसार शास्त्र (श्रुति) विहित कुछ भी अकर्तव्य नहीं है।[5] क्योंकि शास्त्र तो परात्पर प्रामाण्य है।[6]

माडूक्योपनिषद् भाष्य के आरंभ में आचार्य शङ्कर ने सर्वप्रथम उपनिषत् के प्रतिपाद्य का निर्देश किया है। तदनन्तर आगम प्रमाण की अवतरणिका में 'ॐ' के स्वरूप का प्रतिपादन तथा अद्वैत तत्त्व का निर्णय किया है। 'ॐ' आत्मतत्त्व प्रतिपत्ति का साधन है। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में भाष्य में अनेकानेक श्रुतिवाक्यों को उद्धृत किया है।[7] इस स्थल पर उद्धृत आंशिक श्रुतियाँ अपने पूर्ण रूप में ओंकार को ही परमब्रह्म प्रदर्शित करती हुई उसकी प्राप्ति का एकमात्र अवलम्बन 'ॐ' ही है, ऐसा प्रतिपादित करती है। अत: श्रुतिप्रामाण्य के सद्भाव में अद्वैत तत्त्व प्राप्ति का साधन 'ॐ' सिद्ध होता है।

1. वेदयस्तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थ विषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम्। ब्र०सू०शा०भा० 2/1/11
2. ब्र०सू०शा०भा० 3/2/3
3. श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिन्याय्या न लक्षणा। श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। ब्र०सू०शा०भा० 3/1/2, 4/2/1
4. श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृत्यः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः। ब्र०सू०शा०भा० 2/1/1
5. न हि शास्त्रविहितं किंचिदकर्तव्यतामियात्। ई०उ०शा०भा 9
6. शास्त्रं तु अन्त्य प्रमाणम्। गी०शा०भा० 2/18/1
7. कथं पुनरोंकार–निर्णय आत्मतत्त्व प्रतिपत्युपायत्वं प्रतिपद्यत इत्युच्यते इत्येतत् ओमिति ब्रह्म। (क०उ० 1/15), एतदालम्बनम्। (क०उ० 1/2/817), एतद्वैसत्यकाम। (प्र०उ० 5/2), ओमित्यात्मानं युञ्जीत (मैत्र्यु० – 6/2), ओंकार एवेदं सर्वम् (छा०उ० 2/23/3), इत्यादि श्रुतिभ्यः। मा०उ०शा०भा० 1/1, 2/23/3 इत्यादि श्रुतिभ्यः।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर श्रुतिप्रामाण्य द्वारा परमतत्त्व-अवबोधन बड़े चातुर्य से करते हैं।

1.5.1.2 स्मृतिप्रामाण्य

आचार्य शङ्कर ने जिस काल में भाष्यों की रचना की, तत्कालीन समाज की प्रवृत्ति अवैदिकता की ओर हो रही थी, क्योंकि वैदिक कर्मकाण्ड में हिंसा ने अपना स्थान बना लिया था तथा पण्डितवर्ग स्वेच्छाचारी एवं अनाचारी होता जा रहा था। अत: पारमार्थिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं वैज्ञानिक प्रयोग पद्धति पर आधारित वैदिक ज्ञान की भी उपेक्षा करके समाज तनिक सुधारवादी बौद्धधर्म की ओर प्रवृत्त हो रहा था। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में जहाँ एक ओर वैदिक साहित्य पर की जाने वाली आपत्तियों का निराकरण वैदिक साहित्य को ही उद्धृत करके किया, वहीं जनमानस की इस प्रवृत्ति को समझा कि काल विपर्यय के कारण बुद्धि का क्रमिक ह्रास हो जाता है।[1] सरलीकृत प्रक्रिया की ओर मानव की प्रवृत्ति नितान्त स्वाभाविक होती है।

आचार्य शङ्कर ने वैदिक साहित्य के पश्चात् रचे गये लौकिक साहित्य को भी अपने भाष्यों में उद्धृत कर मान्यता प्रदान की। सम्भवत: इसी कारण उनके भाष्य और अधिक जनप्रिय बन गए, क्योंकि लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत की अपेक्षा सरल तथा लोकभाषा के अत्यन्त समीप थी।

आचार्य शङ्कर ने स्मृतियों को अपने भाष्य में उद्धृत किया परन्तु इसके साथ ही उनका यह भी कहना था कि 'केवल वे ही स्मृतियाँ मान्य हैं, जो वेद अविरुद्ध हैं।' अर्थात् वेदानुसारी स्मृतियों को ही उन्होंने प्रामाणिक माना।[2]

भाष्यों के अपने मन्तव्य को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करते समय उन्होंने श्रुतियों के साथ-साथ स्मृतियों से भी प्रमाण प्रत्युपस्थापित करके अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को अत्यन्त सुबोध तथा प्रामाणिक बना दिया।

---

1. साक्षात्कृतधर्माण: ऋषयो बभूवु: तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु: उपदेशाय ग्लायन्त ...... इत्यादि। निरुक्त 1/6/20
2. श्रुत्यनुसारिण्य: स्मृतय: प्रमाणमनपेक्ष्या इतरा। ब्र०सू०शा०भा० 2/1/1

1.5.2 दार्शनिक पद्धति

संदेह हो सकता है कि दार्शनिक ग्रन्थों के भाष्य दार्शनिक होंगे। अतः इस भाष्य पद्धति की यह विशेषता कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है, क्योंकि 'दार्शनिक पद्धति' से यहाँ यह अभिप्राय नहीं कि आचार्य शङ्कर ने दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया है। अपितु इसका अभिप्राय है कि आचार्य शङ्कर ने दर्शन ग्रन्थों के सिद्धान्त निर्णायक तत्त्वों को ही भाष्यों में सिद्धान्तों की परार्थबोध्यता हेतु प्रयुक्त किया है। भाष्यों में 'दार्शनिक पद्धति' के अधिग्रहण से समाज का वह वर्ग भी शङ्करभाष्यों का समर्थक बन गया जो श्रुति एवं स्मृति प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करता था, क्योंकि दार्शनिक पद्धति में युक्ति एवं तर्क प्रक्रिया को विशेष महत्त्व दिया गया है। उन्होंने सिद्धान्त प्रतिपादन में ऐसे अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए जिनके समक्ष विपक्षी निरुतर हो गए तथापि कतिपय तत्त्व ऐसे थे जिनके समर्थन में युक्ति एवं तर्क प्रभावकारी नहीं थे। ऐसे सिद्धान्तों को सुबोध बनाने हेतु आचार्य शङ्कर ने दर्शन शास्त्र की परार्थानुमान प्रक्रिया को जिसमें त्र्यवयव वाक्य का प्रयोग होता है, आधार बनाया। पुनः अरुन्धतीन्याय अर्थात् स्थूल की ओर प्रवृत्त होकर आध्यात्मिकता का वर्णन किया है। इस प्रकार उनके सिद्धान्त बहुजनप्रिय बन गए हैं।

आचार्य शङ्कर के भाष्यों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने भाष्य शास्त्रार्थ शैली में लिखे हैं। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, मानो पूर्वपक्षी तथा उत्तरपक्षी दोनों आमने-सामने बैठकर बातचीत कर रहे हों। उदाहरणार्थ—ऐतरेय उपनिषद् भाष्य में आत्मा के श्रोतृत्व एवं मन्तृत्व प्रसंग में सिद्धान्ती (आचार्य शङ्कर) पूर्वपक्षी के कथन पर आपत्ति करते हुए उसे 'तव' शब्द से सम्बोधित करता है।[1] पूर्वपक्षी हेतु प्रयुक्त 'तव' शब्द स्पष्ट करता है कि पूर्वपक्षी एवं उत्तरपक्षी दोनों आमने-सामने बैठकर शास्त्रार्थ कर रहे हैं।

---

1. यद्यपि तव न विषमं तथापि मम तु विषमं प्रतिभाति। ऐ०उ०शा०भा० 2/1/1

पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के प्रस्तुतीकरण में 'शाङ्करभाष्य पद्धति' की अन्य विशेषता यह है कि आचार्य शङ्कर अपने भाष्यों में सर्वप्रथम अपने मन्तव्य की स्थापना करते हैं, पुन: पूर्वपक्षी की ओर से अनेकानेक सम्भावित आरोप सिद्धान्त पक्ष पर आरोपित करके तदनन्तर क्रमश: उनका निराकरण करते हुए सिद्धान्त प्रतिपादन करते हैं। उदाहरणार्थ, सिद्धान्त वाक्य है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। इस वाक्य पर भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि यह वाक्य ब्रह्म लक्षणपरक है। इस वाक्य में प्रयुक्त सत्य, ज्ञान एवं अनन्त ये तीनों पद ब्रह्म के विशेषण हैं तथा ब्रह्म विशेष्यों से पृथग् निर्णीत किया जाता है। वास्तव में विशेषणों का कार्य विशेष्यों का पृथग् निश्चय करना ही होता है। जैसे—नील, विशाल एवं सुगन्धित कमल। यहाँ नील, विशाल एवं सुगन्धित विशेषणों द्वारा एक कमल विशेष का निश्चय हो जाता है।

यहाँ तक आचार्य शङ्कर ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है। तदनन्तर उन्होंने पूर्वपक्ष की ओर से एक ठोस आपत्ति उपर्युक्त मान्यता पर करवायी है। वे कहते हैं कि यह सत्य है कि विशेषण विशेष्य को अन्य सजातीय तथा विजातीयों से पृथग् निश्चित करते हैं, परन्तु ब्रह्म तो आपके ही अनुसार एक एवं अद्वितीय है। उपर्युक्त विशेषण उसका पृथग् निश्चय किन अन्य पदार्थों से करेंगे जबकि सब कुछ ब्रह्मरूप ही है।

यह आपत्ति इतनी सबल प्रतीत होती है मानो सिद्धान्त को भी विचलित कर देगी। परन्तु सिद्धान्ती दृढ़ता से समाधान करते हुए कहता है कि सत्यं, ज्ञानम् अनन्तम् ये तीनों विशेषण लक्षणार्थ हैं। केवल विशेषणार्थ नहीं हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि लक्षणार्थ एवं विशेषणार्थ विशेषणों में क्या अन्तर होता है? आचार्य शङ्कर कहते हैं कि जो विशेषण समान जातीय पदार्थों से विशेष्य का व्यावर्तन करते हैं, वे केवल विशेषणार्थ विशेषण तथा जो अन्य सभी पदार्थों से विशेष्य व्यावर्तन कर दें वे लक्षणार्थ विशेषण होते हैं। अत: उपर्युक्त वाक्य में जो सत्यं, ज्ञानम् एवं अनन्तम् ये विशेषण प्रयुक्त हैं, वे ब्रह्म का सजातीय एवं विजातीय अपारमार्थिक अज्ञानोपलक्षित एवं सान्त तत्त्वों से व्यावर्तन कर ब्रह्म का लक्षण प्रस्तुत करते हैं।

यद्यपि आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में सिद्धान्तों की प्रामाणिकता में श्रुति को सबल एवं स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है तथापि यदि किसी सिद्धान्त का श्रुति में साक्षात् रूप से समर्थन नहीं है, तो श्रुत्यनुमोदित स्मृतियाँ भी प्रमाणरूप से स्वीकार की गई हैं। परन्तु समाज का एक वर्ग श्रुति एवं स्मृति प्रामाण्य में विश्वास ही नहीं रखता तथा यदा-कदा किसी सिद्धान्त की समर्थक श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ तत्काल उद्धृत भी नहीं की जा सकती हों, तो ऐसी स्थिति में आचार्य शङ्कर तर्क अर्थात् युक्ति को भी सापेक्ष मान्यता प्रदान करते हैं।

उदाहरणार्थ—अद्वैत का सिद्धान्त है कि 'आत्मा (ब्रह्म) ही एकमात्र सत्य है, वही द्रष्टा[1] अथवा द्रष्टृ[2] हैं।' इसके विपरीत स्वभाववादी जो आत्मा की सत्ता नहीं मानता है, के अनुसार देह, इन्द्रियाँ आदि ही द्रष्टा हैं। स्वभाववादी की इस मान्यता का खण्डन आचार्य शङ्कर तर्क द्वारा निम्न प्रकार से करते हैं—

"यदि इन्द्रियाँ ही द्रष्टा होतीं तो आँखें मूँद लेने पर भी हमें किसी के उस रूप का स्मरण नहीं होना चाहिए जिसे हमने पूर्वकाल में देखा था। परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि आँखें मूँद लेने पर भी हमें अनुभव होता है।[3] यदि हम मान भी लें कि देह ही द्रष्टा है, तो व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी जबकि देह में कोई विकार नहीं हुआ होता, हमें रूपादि दर्शन होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। अत: स्पष्ट है कि चक्षुरादि इन्द्रियों तथा देहादि से भिन्न 'आत्मतत्त्व' ही द्रष्टा है।[4]"

इससे यह स्पष्ट है कि तर्क के आधार पर भी आचार्य शङ्कर अपने सिद्धान्त पक्ष को स्थापित करने में सिद्धहस्त हैं।

---

1. नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। बृ०उ०शा०भा० 3/7/23
2. नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ। बृ०उ०शा०भा० 3/8/11
3. बृ०उ०शा०भा० 4/3/6
4. मृते च देहेऽविकलस्यैव च रूपादिदर्शनभावात्-देहस्यैव द्रष्टृत्वे मृतेऽपि दर्शनादिक्रिया स्यात्। तस्माद् यदपाये देहे दर्शनं न भवति, यद् भावे च भवति। तद् दर्शनादिक्रियाकर्तृ न देह इत्यवगम्यते। बृ०उ०शा०भा० 4/3/6

1.5.3 व्यावहारिक पद्धति

वास्तव में भाष्य पद्धति की वैदिक एवं दार्शनिक विशेषताएँ प्राय: प्रौढ़ विद्वानों को ही सिद्धान्तावगति में प्रत्यक्ष सहयोग दे सकती हैं। श्रुतियों एवं स्मृतियों से प्रमाण उद्धृत करना तथा तर्क-प्रक्रिया एवं परार्थानुमान आदि साधन आंशिक रूप से तो अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को जन-सामान्य तक पहुँचा सकते हैं, परन्तु साकल्येन नहीं। यदि पूर्णरूप से भाष्यों को जन-सामान्य का विषय बनाना अभीष्ट हो तो सामान्य जनों के दैनिक-व्यवहार की अनुभूतियों को सिद्धान्त-प्रतिपादन में सहायक बनाना परमावश्यक है।

आचार्य शङ्कर सामान्य वर्ग की इस मानसिकता से पूर्णरूप से परिचित थे। इसलिए उन्होंने अपने भाष्यों को अधिकाधिक सरल, स्पष्ट एवं लोकप्रिय बनाने हेतु लोक-व्यवहार से ही साधन-सामग्री का अधिग्रहण किया। एतदर्थ उन्होंने भाष्यों में एक ओर जहाँ किञ्चित् मात्र परिष्कृतमति पुरुषों को सिद्धान्तावगमन हेतु अन्धगोलाङ्गूल न्याय, समुद्रतरंग न्याय एवं काकतालीय न्याय, सोपानविरोहणादि लोक एवं शास्त्र प्रसिद्ध दृष्टान्तों (न्यायों) का आश्रय लिया। वहीं दूसरी ओर सामान्य से सामान्य जन भी दिन-प्रतिदिन व्यवहार में जिन तथ्यों की साक्षात् अनुभूति करता है, उन चन्द्रद्वय, दधिघटादि, शुक्तिरजत एवं रज्जुसर्प आदि दृष्टान्तों को उद्धृत करके अत्यन्त क्लिष्ट माने जाने वाले अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को सामान्य जनमानस की भूमि पर उतार कर उन्हें अनायास बोधगम्य बना दिया।

उदाहरणार्थ—उन्होंने व्यवहार में प्रचलित दधि और घटादि का दृष्टान्त देते हुए मोक्ष के नित्यत्व की सिद्धि की है। यथा दूध को जमाकर उसका दधि बना दिया जाता है तथा मिट्टी से घड़ा तैयार किया जाता है, ये दोनों वस्तुएँ उत्पाद्य हैं, इसलिए अनित्य हैं। इस दृष्टान्त का प्रयोग मोक्ष की नित्यत्व की सिद्धि में किया गया है।

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष को नित्य माना गया है।[1] परन्तु क्षणिक विज्ञानवादी

---

1. नित्य शुद्धबुद्ध-ब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। ब्र०सू०शा०भा० 1/1/4

बौद्ध मोक्ष को उत्पत्ति के योग्य उत्पाद्य मानते हैं तथा अन्य दार्शनिक मोक्ष को विकार्य स्वीकार करते हैं। उनके मोक्ष के अनित्यत्व, उत्पाद्यत्व और विकार्यत्व को अनुचित दर्शाने हेतु आचार्य शङ्कर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'न हि दध्यादि विकार्यमुत्पाद्यं वा नित्यं दृष्टं लोके[1]' अर्थात् दधि और घटादि वस्तुएँ उत्पाद्य हैं तथा जो-जो उत्पाद्य और विकार्य मान लें तो 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम[2]' इत्यादि स्मृतिवचन जो ब्रह्मगृह को नित्य बताते हैं, असत्य ही हो जाएँगे। अत: मोक्ष उत्पाद्य और विकार्य नहीं अपितु नित्य है। यह तथ्य दधि और घटादि दृष्टान्त की सहायता से सुसंगत हो जाता है।

1.5.4 साहित्यिक पद्धति

वास्तव में मूल ग्रन्थ कितना भी क्लिष्ट क्यों न हो भाष्यकारों की प्राञ्जल भाषा उसे पाठक-प्रिय बना देती है। इसलिए तो 'टीका गुरूणां गुरु:' अर्थात् टीका-टिप्पणियाँ एवं भाष्य गुरुजनों के भी गुरु होते हैं। यह श्रुति विद्वन्मुख से नि:सृत हुई है। शुष्क माना जाने वाला पाणिनीय व्याकरण पातञ्जल महाभाष्य द्वारा जिस रूप में सुबोध बनाया गया वह सर्वविदित ही है। क्लिष्टतम समझा जाने वाला ध्वन्यालोक 'लोचन-टीका' से जिस प्रकार 'सम्यगालोचित' है, उसे कौन नहीं जानता? भावार्थ यह है कि भाष्यकारों की सरल-सुबोध भाषा किसी भी ग्रन्थ की प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

वेदान्त की प्रस्थानत्रयी अर्थात् दस प्रामाणिक उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्य आचार्य शङ्कर के ही वर्तमान में उपलब्ध हैं। यद्यपि आचार्य शङ्कर तथा उनके शिष्यों के ग्रन्थों में इस तथ्य के पर्याप्त संकेत हैं कि इन ग्रन्थों पर आचार्य शङ्कर से पूर्व भी भाष्य लिखे गए थे। जैसे—बृहदारण्यक तथा कठोपनिषद् पर भर्तृप्रपंच ने तथा आचार्य उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति लिखी थी। परन्तु ये रचनाएँ करालकाल द्वारा अकाल ही कवलित कर ली गयी। सम्भवत: शाङ्करभाष्यों की सरल-सुबोध एवं प्रसन्न

---

1. ब्र०सू०शा०भा० 1/1/4
2. गीता 15/6

गम्भीर शैली ने इनके विलुप्त होने में प्रमुख भूमिका निभायी होगी, क्योंकि इनके सुबोध भाष्यों के समक्ष प्राचीन भाष्य ग्रन्थ प्रयोग-विहीन हो गए होंगे तथा अप्रयुक्त होने से 'डार्विन-न्याय' से वे शनैः-शनैः विलुप्त ही हो गए होंगे। इनकी विलुप्ति पर प्राकृतिक एवं दैवी आपदाओं को भी नकारा नहीं जा सकता।

आज भी ब्रह्मसूत्र पर आचार्य शङ्कर के अतिरिक्त नौ अन्य प्रसिद्ध भाष्य उपलब्ध हैं। गीता पर भी अन्य अनेक भाष्य एवं टीकाएँ उपलब्ध हैं तथा समूची प्रस्थानत्रयी पर नित्य अनेकानेक भाष्यों की रचना निरंतर हो रही हैं। इस हतप्रभता का मुख्य कारण है शाङ्करभाष्यों की भाषा का सौष्ठव तथा भाषा का प्रसादगुण संवलित होना। जैसे—**तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते अस्तितावद् ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्।**[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में कितने छोटे-छोटे एवं शीघ्र अर्थबोधक वाक्यों द्वारा योगियों के लिए भी दुर्विज्ञेय विषय को अतीव सरलता से बोधगम्य बना दिया गया है।

इस प्रकार दार्शनिक विषयों के व्याख्यानावसर पर जब आचार्य शङ्कर अनुप्रास जैसे शब्दालंकारों तथा उपमा सदृश अर्थालंकारों का प्रयोग करते हैं तो साहित्यिक पाठक भी दर्शन विषय को पढ़ने हेतु लालायित हो जाते हैं। अनुप्रास का एक उदाहरण आस्वाद्य है—**तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योन्यायात्मक-तामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन।**[2] इस पंक्ति में शब्द साम्यरूप अनुप्रास सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त है। उपमा की छटा देखिए—

---

1. ब्र०सू०शा०भा० 1/1/1; पद लालित्य हेतु अन्यत्र देखें—ई०उ०शा०भा० 4, ऐ०उ०शा०भा० 1/1/1, के०उ०शा०भा०प०भा० 1/2, वि०सह०शा०भा० 105, गी०शा०भा० 18/1, 11/35, 2/55, सनत् सु०शा०भा० 1/7, ब्र०सू०शा०भा० 1/4/11, 1/3/13 आदि।
2. ब्र०सू०शा०भा० 1/1/1

नोभयं पश्यति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः।[1] अर्थात् सूर्य के सामने जिस प्रकार अन्धकार की स्थिति असंभव है, उसी प्रकार तुरीय ब्रह्मप्राप्ति में विद्या एवं अविद्या परस्पर अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव के कारण साधनत्व को प्राप्त नहीं हो सकती हैं। कितनी सटीक एवं विषयानुकूल उपमा का प्रयोग किया गया है जो विषयावगति में भी द्रष्टव्य है। यथा—**अयं तु ब्रह्मविद् आत्मविद्याग्निना आत्मविद्याग्निना सर्वाणि कर्माणि भस्मीकरोति।**[2] अर्थात् ब्रह्मविद् आत्मविद्या रूपी अग्नि द्वारा सम्पूर्ण कर्मों (कर्मफलों) को भस्म कर देता है। यहाँ रूपकालंकार योजना अतीव सुन्दर है। उपमादि अर्थालंकार यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से अर्थसौन्दर्य के बोधक होते हैं तथापि भाषासौष्ठव में प्रमुख भूमिका रहती है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में भाषा शैली का भी सम्यक् रूप से प्रयोग करके अपने भाष्य को जनसाधारण के लिए सुगम बनाने का प्रयास किया है।

शाङ्करभाष्य की विशेषताओं का अध्ययन वैदिक पद्धति, व्यावहारिक पद्धति एवं साहित्यिक पद्धति–इन शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। इसके अतिरिक्त भी शाङ्करभाष्यों की परिचयात्मकता, व्याकरणिकता, मनोवैज्ञानिकता, वैज्ञानिकता, स्वमत–प्रतिपादन की पद्धति ऐसी विशेषताएँ हैं जो शाङ्करभाष्य को इतर भाष्यों से महनीय स्थान दिलाने में सहायक हैं, परन्तु इनका अध्ययन वैदिक पद्धति जैसे किसी एक शीर्षक के अन्तर्गत करना संभव नहीं था। अतः इन विशेषताओं का अध्ययन शाङ्करभाष्य पद्धति की इतर विशेषताएँ इस शीर्षक के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से किया गया है।

1.5.5 शाङ्करभाष्य पद्धति की इतर विशेषताएँ

1.5.5.1 उपोद्घात पद्धति

उपोद्घात पद्धति शाङ्करभाष्यों की अनन्य विशेषता है। इसका अभिप्राय

1. गौ०का०शा०भा० 1/14
2. बृ०उ०शा०भा० 4/4/22

है—संदर्भ या प्रसंगात्मक भाष्य लिखकर साध्य-विषयवस्तु का अवतरण या आरंभ करना।[1] शाङ्करभाष्यों में सर्वत्र परिचयात्मक उपोद्घात शैली का प्रयोग किया गया है। उनके समस्त भाष्य-ग्रन्थों के आरंभ में ग्रन्थ की विषयवस्तु का व्यापक एवं पर्याप्त परिचय उपलब्ध होता है। उन्होंने ग्रन्थारंभ में ही नहीं अपितु अध्याय, सूत्र एवं श्लोक (भाष्य ग्रन्थ की विषयवस्त्वनुसार) से पूर्व भी संदर्भ रूप में वर्ण्यवस्तु का संकेत प्रायः सर्वत्र किया है। भाष्य ग्रन्थों के आरंभ में उन्होंने जो ग्रन्थपरिचयात्मक भाष्य लिखे हैं, वे उपोद्घात अथवा सम्बन्ध भाष्य के नाम से अभिहित किए जाते हैं।

शाङ्करभाष्यों की परिचयात्मकता का आधार सम्भवतः 'अनुबन्ध चतुष्टय' रहा है, क्योंकि जब तक पाठक यह नहीं जान लेता कि इस ग्रन्थ की विषयवस्तु क्या है? अर्थात् इसे समझने के लिए किन-किन अर्हताओं की अपेक्षा है? इस ग्रन्थ के अध्ययन से मुझे क्या लाभ होगा? ग्रन्थ में वर्णित विषयवस्तु तथा ग्रन्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है? तब तक किसी ग्रन्थ के अध्ययन में सम्यक् प्रवृत्ति होना संभव नहीं। इसलिए कहा जाता है कि ज्ञातार्थ एवं ज्ञात सम्बन्ध के विषय में ही श्रोता की सुनने अथवा पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है। अतः ग्रन्थारंभ में ही सप्रयोजन इनका वर्णन कर देना चाहिए।[2] उदाहरणार्थ— **तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञान-मुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्संक्षेपेतो व्याख्यास्यामः।**

ईशावास्योपनिषद् के इस सम्बन्ध भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि आत्मा इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है, आत्म सम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञान की निवृत्ति उनका प्रयोजन, मुमुक्षु अधिकारी तथा ग्रन्थ एवं विषय का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

---

1. प्रकृतिसिद्ध्यनुकूलचिन्ताविषयत्वमुपोद्घातः। साहित्य दर्पण, द्वितीय परिच्छेद की विमलाख्या हिन्दी व्याख्या में उद्धृत (वाक्य लक्षणावसरे)।
2. ज्ञातार्थंज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ वाचस्पत्यम् प्रथम भाग, पृ० 179

1.5.5.2 कोशाधृतसमानार्थकता

आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में पदों के अर्थों के सरलीकरण एवं विशदीकरण हेतु तत्–तत् पदों के पर्यायों को इस प्रकार प्रयुक्त किया है कि शाङ्करभाष्यों में शब्दकोशीय गुण समाविष्ट हो गया। यदि इन भाष्यों में प्रयुक्त पर्यायों को एकत्र प्रस्तुत किया जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि ये भाष्य नहीं अपितु पर्यायवाची शब्दों का शब्दकोश हैं। वास्तव में आचार्य शङ्कर को पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग इसलिए करना पड़ा क्योंकि वे अपने भाष्यों को व्यापक बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एक–एक शब्द के अनेकार्थक पर्याय प्रस्तुत कर दिए जिससे कि भिन्न–भिन्न प्रदेशों के निवासी अपने–अपने प्रदेश में प्रयुक्त होने वाले शब्द के माध्यम से भाष्यार्थ को समझ सकें, क्योंकि प्रदत्त अनेक पर्यायों में से एक न एक पर्याय तो पाठक की अपनी स्थानीय भाषा का निकल ही आएगा। यहाँ उदाहरणार्थ कतिपय स्थलों को उद्धृत किया है—

1. गोत्रम् अन्वयः मूलम् इत्यनर्थान्तरम्।[1]
2. ओंकार इन्द्र सर्वकोशः परमेश्वरः।[2]
3. अवरेण हीनेन प्रकृतबुद्धिना।[3]
4. इन्द्र आदित्यो वज्रभृद्वा।[4]
5. कवयो मेधाविनो विद्यावन्तः।[5]
6. अश्मानं पाषाणमृत्वा गत्वा प्राप्य तथा विध्वंसेत् विस्रंसेत् विचूर्णी भवेत्।[6]

---

1. मु०उ०शा०भा० 1/1/6
2. तै०उ०शा०भा० 1/4/1 से 2
3. क०उ०शा०भा० 1/2/8
4. के०उ०शा०भा० 3/11
5. प्र०उ०शा०भा० 5/7
6. बृ०उ०शा०भा० 1/3/7

7. शुक्लं शुद्धं विमलमाहुः केचिन्मुमुक्षवः।[1]

8. अनुज्ञा चानुमतिरोंकार इत्यर्थः।[2]

उपर्युक्त कतिपय उदाहरण शाङ्करभाष्यों की कोशमयता के प्रदर्शन में असमर्थ है।

1.5.5.3 निर्वचन पद्धति

शाङ्करभाष्य पद्धति के संदर्भ में निर्वचन पद्धति से भाष्य पद्धति की पदार्थोक्ति की विधि को लक्ष्य बनाया गया है। व्याख्यान के लक्षण में पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना तथा आक्षेप एवं समाधान ये पाँच घटक व्याख्या के कहे गए हैं।[3] इनमें से 'पदच्छेद' घटक की आवश्यकता प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में आचार्य शङ्कर को नहीं हुई क्योंकि प्रस्थानत्रयी में कोई भी ग्रन्थ क्लिष्ट संधियों से युक्त नहीं है। विग्रह[4] एवं वाक्य-योजना उनके भाष्यों में सर्वत्र अवलोकनीय है। आक्षेप तथा समाधान रूप व्याख्यान घटक पर विशेष चर्चा पूर्व में की गयी है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के प्रस्तुतीकरण 'विधि' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। यहाँ 'पदार्थोक्ति' इस घटक को विवेच्य विषय के रूप में लिया गया है। पदार्थोक्ति का अभिप्राय है पद के अर्थ का कथन। पदार्थ स्पष्टीकरण तभी संभव है यदि व्याख्यायमान शब्द के अन्य पर्याय दिए जाएँ, पद का निर्वचन प्रस्तुत किया जाए अथवा उस पद को परिभाषित कर दिया जाए, इन तीन तत्त्वों में से कोई एक या दो या तीनों सम्मिलित रूप से पदार्थ के स्पष्टीकरण में सहायक होते हैं। शाङ्करभाष्यों में

---

1. वही 4/4/9
2. छा०उ०शा०भा० 1/1/8
3. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
   आक्षेपश्च समाधानं व्याख्या पंचविधा स्मृता॥
   ब्र०सू०शा०भा० ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी हिन्दी व्याख्योपतेम्-9 की टिप्पणी।
4. जन्माद्यस्य यतः—जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविधानो बहुब्रीहिः।
   ब्र०सू०शा०भा० 1/1/2 और 2/4/22

पदार्थ स्पष्टीकरण में (वे पद चाहे सूत्र, मन्त्र अथवा श्लोकगत हों या स्वपद अर्थात् भाष्यकार द्वारा व्याख्यान में प्रयुक्त पद हों) उपर्युक्त तीनों तत्त्वों का आश्रय लिया गया है। निर्वचन से शब्दों की व्युत्पत्ति, प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान तथा उनकी संरचना का पूर्ण बोध हो जाता है। इससे तत्–तत् शब्दों के अर्थ तो स्पष्ट होते ही हैं। साथ ही उनकी व्याकरणिक शुद्धि अथवा अशुद्धि का भी ज्ञान हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में सहस्रों शब्दों के अर्थ को उनका निर्वचन देकर ही स्पष्ट किया है। भाष्यों की निर्वचनपरकता के कारण पाठकवर्ग व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करने में भी सफल हुआ है। शब्द व्युत्पत्तिपरक कतिपय उदाहरण अवलोकनीय हैं—

1. **निर्वेद**—निष्पूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे।[1]
2. **पुरुष**—पूर्णत्वात् पुरिशयनाच्च पुरुषः।[2]
3. **अक्षरम्**—अक्षरं च अक्षरणात्, अक्षतत्वात्, अक्षयत्वात् वेद।[3]
4. **निष्कलम्**—निर्गताः कला यस्मात् तत् निष्कलम् निरवयवयम् इत्यर्थः।[4]
5. **गुहा**—गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धि।[5]
6. **लोकाः**—कर्मफलानि लोक्यन्ते भुज्यन्ते इति लोकाः।[6]
7. **अनेजत्**—न एजत् एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्त–द्वर्जितम् सर्वदैकरूपमित्यर्थः।[7]

---

1. मु०उ०शा०भा० 1/2/12
2. वही, 1/2/13
3. मु०उ०शा०भा० 1/2/13
4. वही, 2/2/9
5. तै०उ०शा०भा० 2/1/1
6. ई०उ०शा०भा० 3
7. वही, 4

8. **कविः**—क्रान्तदर्शी सर्वदृक्।[1]

9. **सूर्यः**—रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्यः।[2]

10. **आत्मा**—आप्नोतेरत्तेरततेर्वा।[3]

11. **रामाः**—रमयन्ति पुरुषानिति रामाः।[4]

12. **परार्धम्**—परस्य ब्रह्मणोऽर्धं-स्थानं परार्धम्।[5]

13. **भुवनम्**—भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनमयं लोकः।[6]

14. **अग्रिम्**—अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम्।[7]

15. **वायुः**—वानाद् गमनाद् गन्धनाद् वा वायुः।[8]

16. **मातरिश्वा**—मातर्यन्तरिक्षेश्वयतीति मातरिश्वा।[9]

17. **वैश्वानर**—विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। यद् वा विश्वश्चासौ नश्चेतिविश्वानरः एव वैश्वानरः।[10]

18. **बृहदारण्यकम्**—अरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम् बृहत्त्वात्-परिमाणतो बृहदारण्यम्।[11]

---

1. वही, 8
2. वही, 16
3. ऐ०उ०शा०भा० 1/1/1
4. क०उ०शा०भा० 1/1/25
5. वही, 1/3/1
6. वही, 2/2/9
7. के०उ०शा०भा०प०भा० 3/3
8. वही, 3/7
9. वही, 3/8
10. मा०उ०शा०भा० 1/3
11. बृ०उ०शा०भा० 1/1/1

19. **नाकम्**—कमिति सुखं तस्य प्रतिषेधोऽकं तन्न भवतीति नाकं कमेवेत्यर्थः अमृत्युविषयत्वात्।[1]

इसके अतिरिक्त उन्होंने मूल ग्रन्थों में आए निपातों के अर्थों का भी यत्र-तत्र स्पष्ट कथन किया है।[2] भाष्यों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर का ऐसा प्रयत्न रहा कि मूल ग्रन्थ का शब्दमात्र भी ऐसा न रह जाए जिसके अर्थ के सम्बन्ध में पाठकों को संदेह हो। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भाष्य की अनुव्याख्यानात्मक पद्धति में आचार्य शङ्कर ने पर्याय प्रयोग परिभाषाकथन एवं निर्वचनादि जिन तत्त्वों को समाविष्ट किया है, वे भाष्यग्रन्थों के अर्थ निर्णय में पूर्ण रूप से सक्षम हैं। भाष्य पद्धति के इस पक्ष के अध्ययन से शाङ्करभाष्यों पर निरुक्त का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इन पद्धतियों के अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने **मनोवैज्ञानिक पद्धति** से मानव तथा जन्तु के व्यवहारों को अच्छी तरह समझ उसके अनुकूल व्याख्या की है। साथ ही **वैज्ञानिक पद्धति** एवं **आलोचनात्मक पद्धति** भी उनके भाष्यों में उपलब्ध होती है।

उपर्युक्त सभी व्याख्या-पद्धतियों में परिभाषा पद्धति का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस पद्धति का सहारा लेकर आचार्य शङ्कर ने उपनिषद् के क्लिष्ट तथा दुर्गम शब्दों का अर्थ समझने में एक साधारण मानव को भी सक्षम बना दिया है।

---

1. छा०उ०शा०भा० 2/10/5
2. न इति वितर्के—मु०उ०शा०भा० 1/1/3; उह स्म इत्येषां वृत्तानुकथनार्थत्वात्—तै०उ०शा०भा० 1/5/1 से 3; ह स्व वा (वै) इति प्रसिद्धार्थावद्योतकाः—तै०उ०शा०भा० 1/8/1; ह वावेत्यवधारणार्थो—तै०उ०शा०भा० 2/9/1; वै शब्दः प्रसिद्धानुस्मारको—तै०उ०शा०भा० 3/1/1; स्विदिति अनर्थको निपातः—ई०उ०शा०भा० 1; नाम शब्दोऽनर्थको निपातः—ई०उ०शा०भा० 3; ह इत्यैतिह्यार्थः—के०उ०शा०भा०, वा०भा० 3/1; आ (उप्लुत) इत्युपमार्थे—के०उ०शा०भा०, प०भा० 4/4; तु शब्दोऽवधारणार्थः—ब्र०सू०शा०भा० 1/2/3; क्वन्विति वितर्के—बृ०उ०शा०भा० 1/1/1; नैदिति परिभयार्थे निपातः—1/3/10; ...हेतौ—बृ०उ०शा०भा० 1/3/17 इत्यादि।

1.5.5.4 परिभाषा पद्धति

समानार्थक शब्द या शब्द समुदाय जहाँ एक ही शब्द के निश्चित तथा स्पष्ट अर्थ को प्रस्तुत करते हैं वह व्याख्यानात्मक शब्द या शब्द समुदाय परिभाषा कहलाता है। यह परिभाषा निश्चितार्थ की द्योतक होती है। अर्थावबोध में यद्यपि शब्द या परिभाषारूप दोनों ही से सहायक होते हैं तथापि परिभाषा संदेहरहित सटीक अर्थ को संप्रेषित करती है। अपने भाष्यों में क्लिष्ट शब्दों तथा परस्पर सूक्ष्म भेद रखने वाले शब्दों को आचार्य शङ्कर ने स्पष्टता हेतु परिभाषित किया है। इनके द्वारा दी गई परिभाषाएँ इतनी युक्तियुक्त हैं कि तत्-तत् शब्दों के अर्थ सम्बन्धी समस्त संशयों को दूर कर देती हैं। यहाँ उदाहरणार्थ शाङ्करभाष्यों की कतिपय परिभाषाएँ निदर्शनार्थ उद्धृत की जा रही हैं—

1. **सत्यम्**—अनृतवर्जनम्, यथा भूतार्थवचनं अपीडाकरम्।[1]
2. **ऋतम्**—यथाशास्त्रं यथाकर्त्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थम्।[2] सत्य एवं ऋत् शब्दों को अनेक बार एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त कर दिया जाता है, परन्तु दोनों शब्दों की परिभाषाएँ इनके परस्पर भेद को स्पष्ट कर देती हैं। सत्य जहाँ अनुभूत यथाभूतार्थ वचन है वहाँ ऋत् प्रामाणिक शास्त्रवचन है।
3. **दमः**—बाह्य करणोपशमः।[3]
4. **शमः**—अन्तःकरणोपशमः।[4] इन दोनों शब्दों की परिभाषा दिए बिना इनका पारस्परिक सूक्ष्म भेद केवल पर्याय शब्द दे देने से कदापि स्पष्ट नहीं हो सकता था। इसी प्रकार—

---

1. मु०उ०शा०भा० 2/1/4
2. तै०उ०शा०भा० 1/1/1
3. वही 1/9/1
4. वही

5. **श्रद्धा तथा भक्ति**—श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः। भक्तिभजनं तात्पर्यम् (तत्परता)।[1]

6. **हर्ष एवं मोद-प्रमोद**—मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः। स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः।[2] हर्ष एवं मोद-प्रमोद प्रायः पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं परन्तु समानार्थक होते हुए भी इन दोनों में सूक्ष्मभेद है। दोनों में यद्यपि प्रियलाभ से होने वाली प्रसन्नता समान है तथापि हर्ष में रोमांच एवं अश्रुपातादि की अधिकता है।

7. **याग एवं होम**—यागो देवतामुद्दिश्या स्वत्वपरित्यागः, स एव आसेचनाधिको होमः।[3]

अर्थात् देवताओं को उद्देश्य बनाकर द्रव्यत्याग याग एवं होम में समान धर्म है परन्तु होम में अग्नि में आहुति डालना रूप क्रिया अधिक है। कतिपय शब्द वाङ्मय की विशेष शाखा के संदर्भ में विशिष्टार्थ के द्योतक होते हैं। अतः उन्हें परिभाषित किए बिना तत्-तत् संदर्भों की अर्थावगति कठिन हो जाती है। उदाहरणार्थ अभ्यास एवं अपवाद अद्वैत वेदान्त के पारिभाषिक शब्द हैं तथा अद्वैतावबोधन हेतु इनके अर्थ का ज्ञान नितान्त अनिवार्य है। आचार्य शङ्कर ने इन्हें परिभाषित करके इनके अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है—जहाँ दो वस्तुओं में से एक वस्तु की बुद्धि की निवृत्ति हुए बिना ही अन्य वस्तु की कल्पना कर ली जाती है अर्थात् उसमें कल्पित अन्य वस्तु की बुद्धि होते हुए भी उस वस्तु की अपनी बुद्धि भी वर्तमान ही रहती है उसे अध्यास कहते हैं। जैसे नाम में ब्रह्मबुद्धि की कल्पना और प्रतिमादि में विष्णु आदि की कल्पना।[4]

---

1. विष्णु सह शा०भा० 132
2. तै०उ०शा०भा० 2/5/1
3. बृ०उ०शा०भा० 1/4/16
4. तत्राध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतर बुद्धावन्यतर बुद्धिरध्यस्यते यस्मिन्नि-तरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्ततते एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतर बुद्धावपि यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धा-वध्यस्यमानायामप्यनुवर्तत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते। यथा प्रतिमादिषु विष्ण-वादिबुद्ध्यध्यासः। ब्र०सू०शा०भा० 3/3/9

अपवाद वह कहा जाता है जहाँ किसी वस्तु के विषय में प्रथम उपजात मिथ्याधारणा की निवृत्ति करके उसके पारमार्थिक अर्थ का निश्चय करवाया जाता है।[1] जैसे सर्प रूप से कल्पित रज्जु में रज्जु निश्चय करवाना अपवाद है।

इसी प्रकार देवासुर संग्राम की परिभाषा भी अद्वैतवेदान्त के संदर्भ में द्रष्टव्य है—शास्त्रीय प्रकाशवृत्ति के अभिभव हेतु प्रवृत्त तामसिक इन्द्रियवृत्तियाँ असुर कहलाती हैं तथा इसके विपरीत शास्त्रानुकूल विवेकरूपा ज्योतिः देव कहलाती है। इन दोनों अर्थात् तामसिक एवं सात्विक वृत्तियों की एक दूसरी के अभिभव हेतु प्रवृत्त वैचारिक उथल-पुथल ही देवासुर संग्राम कहलाता है।[2]

ब्राह्मण-आचार्य शङ्कर की दृष्टि में किसी कुल विशेष में जन्म ग्रहण से ब्राह्मणत्व नहीं आता अपितु ब्रह्म को जानने के इच्छुक तथा जन्मजरामरणादि दुःखों से युक्त दुःखरूप संसार को गुरुरूपी नौका द्वारा पार करने के इच्छुक तथा धर्माधर्मादि साधनों एवं उनके फलों से निर्लिप्त एवं सनातन सत्य को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाते हैं।[3]

आचार्य शङ्कर ने भाष्यों में अनेकानेक शब्दों की निर्णायक एवं हृदयस्पर्शी परिभाषाएँ दी हैं। यथा—

1. **परमाणु**—अवयवावयविविभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः।[4]

---

1. अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति। ब्र०सू०शा०भा० 3/3/9
2. शास्त्रीयप्रकाशवृत्त्यभिभवनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविक्यस्तमोरूपा इन्द्रियवृत्तयोऽसुराः तथा तद्विपरीताः शास्त्रार्थविषयविवेकज्योतिरात्मनो देवाः; स्वाभाविकतमोरूपासुराभि भवनाय प्रवृत्ता इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूपः संग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रतिदेहं देवासुर संग्रामोऽनादि-कालप्रवृत्त इत्यभिप्रायः। छा०उ०शा०भा० 1/2/1
3. ब्रह्मविविदिषवोजन्मजरामरणप्रबन्धचक्रभ्रमणकृतायादुःखोदकापारमहोदधिप्लवभूतं-गुरुमासाद्य तत्तीरमुत्तितीर्षवो धर्माधर्मसाधनतत्फललक्षणात् साध्य-साधनरूपान्निर्विण्णाः तद्विलक्षण-नित्य-निरतिशय श्रेयः प्रतिपित्सवः। बृ०उ०शा०भा० 1/4/9
4. ब्र०सू०शा०भा० 2/2/12

2. **देव एवं असुर**—शास्त्रजनितज्ञानकर्मभाविता। द्योतनाद् देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजन कर्म ज्ञान भविता असुराः। स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।[1]

कतिपय शब्दों की परिभाषाएँ उन्होंने अनेकत्र दी हैं। समग्र रूप से अध्ययन करने वालों को इसमें पुनरुक्ति दोष प्रतीत हो सकता है; परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। आचार्य शङ्कर ने पूर्वपरिभाषित शब्दों को भी अन्यत्र (अन्य ग्रन्थ के भाष्यों में अथवा उसी ग्रन्थ के भाष्य में) पुनः इसलिए परिभाषित कर दिया, जिससे तत्-तत् अर्थ की स्पष्टाभिव्यक्ति हो जाए अथवा यह भी हो सकता है कि एक ग्रन्थ के भाष्य का अध्ययन करने वाला दूसरे ग्रन्थ का अध्ययन न करे अतः पूर्णता हेतु भी आचार्य शङ्कर ने कई शब्दों को पुनः-पुनः परिभाषित किया है। जैसे उपनिषद् शब्द को तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य[2] कठोपनिषद्भाष्य[3], केनोपनिषद्भाष्य[4], बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य[5] एवं मुण्डकोपनिषद्भाष्य[6] में किञ्चित् मात्र भेद से युक्त परिभाषा दी है।

इस प्रकार भाष्य की परिभाषात्मक पद्धति द्वारा आचार्य शङ्कर ने अनेकानेक शब्दों की अद्वैत सम्मत तथा तर्कसंगत परिभाषाएँ देकर भाष्यों में अर्थवैशद्य का निष्पादन किया है। इस पद्धति के अधिग्रहण से क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों एवं सूक्ष्मभेदवाले परन्तु आपाततः समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्दों

---

1. बृ०उ०शा०भा० 1/3/1
2. उपनिषदिति विद्योच्यते, तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्राह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति। तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत्। तै०उ०शा०भा० 1/1/1
3. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। प्रयोजनं चास्या उपनिषद् आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा। क०उ०शा०भा० 1/1/1
4. उपनिषद्रहस्यम्। के०उ०शा०भा०प०भा० 4/7
5. बृ०उ०शा०भा० 1/1/1, 2/1/20
6. मु०उ०शा०भा० 1/1/1

को समझने में अत्यन्त सहायता मिली है। उन्होंने उपनिषद्, मन[1], सत्य, काम[2], स्वप्न[3] एवं उपासनादि[4] शब्दों की पुनः-पुनः परिभाषा देकर उनके अर्थ से पाठकों का घनिष्ठ परिचय कराया है।

1.6 पारिभाषिक शब्दों का वर्गीकरण तथा उसका आधार

भारतीय दार्शनिक मनीषा दर्शन को विषय के आधार पर तीन मुख्य वर्गों में विभक्त करती है—(1) तत्त्वमीमांसा, (2) ज्ञानमीमांसा या प्रमाण मीमांसा (3) आचारमीमांसा। मैंने दर्शनशास्त्र के इस परम्परानुमोदित विभाजन के आलोक में ही चयनित पारिभाषिक शब्दों को तत्-तत् वर्गों में संग्रहण एवं विवेचन किया है साथ ही ऐसे शब्द जो इन तीन वर्गों से अवशिष्ट रह गए किन्तु दार्शनिक विषय के विवेचन में स्थान रखते थे उन्हें प्रकीर्ण पारिभाषिक शब्द शीर्षक के अन्तर्गत रखा है। यहाँ उपर्युक्त तीनों वर्गों का विवेचन अपेक्षित है—

1.6.1 तत्त्वमीमांसीय पारिभाषिक शब्द

मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है, उसके जीवन में सतत अनुभूयमान मानस व बाह्य स्थूल परिवेश तथा स्वयं अपने आप का मर्म समझने के लिए यह शहरी आकांक्षा जागरित होती है। मैं क्या हूँ? मेरे अनुभव में आता रहनेवाला (प्रतीतिगोचर) समस्त परिपार्श्व क्या है? इसमें व मुझमें क्या सम्बन्ध है? क्यों? कब से है? कब तक रहेगा? मैं तथा यह सब कुछ भी कहाँ से, कब से आए हैं? मेरा और इस जगत् का क्या प्रयोजन है? प्रतिक्षण सर्वत्र एक

---

1. तै०उ०शा०भा० 2/3/1, वा०उ०शा०भा० 1/3/3, के०उ०शा०भा०वा०भा० 1/1, के०उ०भा०प०भा० 1 से 5
2. विष्णु सह०शा०भा० 124, गी०शा०भा० 5/23, 7/11, मु०उ०शा०भा० 3/2/2
3. प्र०उ०शा०भा० 4/3, न च स्वप्नो नामापूर्वदर्शनम् पूर्वदृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नः प्रायेण। बृ०उ०शा०भा० 4/3/9
4. उपासने नाम यथाशास्त्रम् उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्यय प्रवाहेण दीर्घकालं यद् आसनं तद् उपासनम् आचक्षते। गी०शा०भा० 1/2/3, बृ०उ०शा०भा० 1/3/9, 1/5/2

गतिशीलता दिखाई देती है, प्रत्येक वस्तु ही जो आज है, कल वह नहीं रहती। जैसे नदी का जल प्रतिपल आता व जाता रहता है, वैसा ही प्रवाह तो सभी कुछ के भीतर देख पाता हूँ, क्या ऐसा ही प्रवहनशील मैं ही हूँ? क्या मुझे भी कहीं जाना है? यदि हाँ तो कहाँ? यह आना और जाना वस्तुतः है क्या? इत्यादि विचारों के दलदल में डूबना-उतरना सहज ही आ पड़ता है, इस प्रश्न परम्परा के उदय की प्रयोजिका है निखिल विश्व (जिसमें चिन्तक स्वयं तथा उसका सम्पूर्ण आन्तर-बाह्य परिवेश समाविष्ट है) के मूल की जिज्ञासा और उसकी भी प्रयोजिका कहा जा सकता है, स्वयं अपने स्वरूप की जिज्ञासा को। क्योंकि स्वयं अपने-आप के पश्चात् ही निखिल की धारणा की सम्भावना है, यही आत्म जिज्ञासा है,जिसके समाधान में मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

अति प्राचीन काल में तत्त्वचिन्तक की प्रथम, परम व चरम अवस्था में उच्चरित चिन्तकों के इन उद्गारों में मूल जिज्ञासा की प्रथम अभिव्यक्ति मिलती है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन अथा को वेद यत आ बभूव॥[1]

उपर्युक्त जिज्ञासा ने युगपद् दो चिन्तकधाराओं का प्रवर्तन किया, जिसमें एक का लक्ष्य था अपने स्वयं से बाह्यरूप से प्रतीयमान सभी कुछ (बाह्य विश्व) का मूल उत्स खोजना और द्वितीय का लक्ष्य था स्वयं चिन्तक के वास्तविक स्वरूप को समझना। पहले मतावलम्बियों के मत में बाह्य जगत् के मूल स्थान पर अनेक प्रकार के देवताओं की भावनाएँ विकसित हुई, तो अपर धारा ने भी प्राण, कभी मन तो कभी विज्ञान में अपना अभिलक्ष्य पाया। किन्तु उपशम हुआ नहीं, तब कभी **आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्**[2] इत्यादि उद्गारों में उस तत्त्व की दुरूहता अभिव्यक्त हुई, कभी उसे निखिल विश्व में अनुस्यूत एक जीवन तत्त्व के रूप में जाना और उस एक सर्वसाधारण जीवनतत्त्व को अपने स्वयं के रूप में पाया।

---

1. ऋ०सं० 10/129/6
2. कठ०उ० 2/20

इस प्रकार के विचारकों में व्यक्ति और जगत् (जिज्ञासु तथा उसका परिवेश) के मध्य आनुरूप्य ढूँढ़ने तथा एक के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लक्षण के अनुरूप अपर का कोई लक्षण समझने की चेष्टा प्रवृत्ति का उदय भी दिखाई पड़ता है। बल्कि इसके माध्यम से जगत् को समझने का प्रयास पुरुष सूक्त में स्पष्टतः अभिव्यक्त हुआ है, जहाँ जगत् के भागों को किसी एक मूल पुरुष का अवयव बताया गया है।[1] ऐसे ही एक अन्त्येष्टि सम्बन्धी सूक्त में[2] भी यही प्रयास दिखाई देता है, जहाँ व्यक्ति के प्राण को सार्विकीकरण के द्वारा विश्व-प्राण बनाकर जगत् को जीवित रखने वाले तत्त्व के रूप में दिखाया गया है। व्यक्ति और विश्व के आनुरूप्य की यह धारणा वैदिक युग के (उपनिषद् पर्यन्त साहित्य) में दृष्टिगत होते हैं।

उक्त धारणा के कारण ही व्यक्ति व विश्व के भी किसी एक मूल तत्त्व से प्रकट होने का भाव विकसित हुआ।[3] वास्तव में वह कौन है? जिसकी खोज ने अग्नि, सविता, पूषा, इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, ब्रह्मणस्पति आदि-आदि शतशः शक्ति अधिष्ठात्री देवताओं के प्रति मानव को नतजानु बनाया। यह जिज्ञासा अन्ततः इसी निष्कर्ष पर लाती है कि अभिव्यक्तियाँ असंख्य भी क्यों न हों, वस्तुतः वह कोई एक तत्त्व है[4], वही निखिल चराचर पदार्थजात के भीतर-बाहर सब ओर है।

---

1. मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरूपादा उच्येते। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरूतदस्य, यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोताद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत नाभ्यासीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत॥ वही 10/90/11-14
2. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
   अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतिष्ठा शरीरैः। ऋग्वेद सं० 10/90/11-14
3. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्॥ वही 1/89/10
   यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
   यो देवानां नामद्या एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। ऋ०सं० 10/82/3
   य एक इद् विद्यते। वही 1/84/7
4. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ०सं० 1/164/46

'होने' का जो भी रूप संभव है, वह सब वही एक ही तत्त्व है।[1] उसका स्वरूप केवल इतना ही नहीं जितना अपाततः प्रतीयमान है, प्रत्युत् इसकी अपेक्षा अत्यधिक व्यापक है, वह जितना गोचर है उससे कहीं अधिक अगोचर है।[2]

वह तत्त्व व्यक्ति के अपने तत्त्व से पृथक् नहीं यह तथ्य भी छिपा नहीं रहा और अनेकानेक विचारकों का बोध इस रूप में उद्‌बुद्ध हुआ—

— मैं ही वह हूँ जो पहले-पहल था .....[3]

— मैं ही मनु था, सूर्य भी मैं हूँ .....[4]

— मैं ही द्यावापृथिवी में प्रविष्ट हुआ था .....[5]

— समस्त सृष्टि मुझ से ही हुई है .....[6]

इस प्रकार संहिताकालीन तत्त्वचिन्तन की अभिव्यक्तियों में मनुष्य की आत्मा को विश्व का नित्य वर्तमान चरमतत्त्व मानने की प्रवृत्ति के क्रमशः अग्रसर होने के संकेत मिलते हैं। फिर ब्राह्मण और आरण्यक में भी मनुष्य व विश्व के एक ही भूत वे सारभूत चरमतत्त्व की 'आत्मा' नाम से अभिव्यक्ति हुई है, जिसका ज्ञान-मात्र मनुष्य को अपहतपाप्मा बना देता है। जो कभी विनष्ट

---

1. गर्भो यो अपां गर्भो वनानाम्।
   स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।
   पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। -वही 10/90/1-2
2. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। -वही 10/90/3
3. अहं सोऽस्मि यः पुरा सु ते वदामि कानिचित्।
   तं मा व्यन्त्याध्योवृको न तृष्णजं मृगम्।
   वित्तं मेऽस्य रोदसी॥ -वही 1/105/7
4. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिभिरस्मि विप्रः।
   अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशनापश्यता मा। -वही 4/26/1
5. अहं द्यावापृथिवी आविशेष .....। -वही 10/125/5
6. अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यां .....। -वही 10/183/3

नहीं होता।[1] जिससे रहित कुछ नहीं है, कोई दूसरा तत्त्व नहीं है।[2] जिससे रहित कुछ नहीं है, जो एक है।[3] चाहने पर अनेक भी हो सकता है, हो जाता है।[4]

उपनिषदों में भी वही मूल जिज्ञासा स्पष्टतः मुखर है।[5] उनकी दुरूहता भी यथावत् बनी हुई है।[6] किन्तु दुरूह होने के कारण वह अवहेलना के योग्य कदापि नहीं, यह भावना सुदृढ़ हो जाने से पूर्वोक्त जिज्ञासा अब जीवन का मूल प्रश्न बन बैठी, क्योंकि इस शरीर में रहते हुए ही उसे जाना जा सकता है, यदि न जाने तो महान् विनाश होगा।[7] अतः उपनिषत्काल में चिन्तकों की सम्पूर्ण शक्ति, मानो इसी विषय पर केन्द्रित हुई है।

इस तत्त्व अर्थात् परमब्रह्म परमात्मा को जानना अत्यन्त कठिन है। अतः इस कठिनाई को दूर करने के लिए इन तत्त्वमीमांसा से सम्बन्धित शब्दों का ज्ञान सम्यग् रूप से जानने के लिए इन्हें तीन उप-अध्याय में रखकर तथा तीनों (ब्रह्म, जगत् एवं जीव) के संदर्भ में विभिन्न दार्शनिकों के मतों का उल्लेख करते हुए यहाँ इसका विवेचन किया जा रहा है—

1.6.1.1 ब्रह्म विषयक पारिभाषिक शब्द—ब्रह्म

अद्वैत वेदान्त में आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म की स्वयं सिद्धता को सिद्ध करते हुए ब्रह्म को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् कहा है। 'बृंह्' धातु से अनुगम होने से ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त

---

1. अहं वेद न मे ृत्युः। तै०आ० 1/13/1
2. अहं परस्तादहमवस्तात्। श०ब्रा० 4/4/2/14
3. अहं त्वदस्मि मदसि त्वदेतत्। तै०आ० 1/2/1/20
4. अहमेवेदं सर्वं भूयासम्। श०ब्रा० 14/9/3/13
5. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
   केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ के०1
6. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ।
   इह चावेदीदथ सत्यमस्ति नोचेदवेदीन्महती विनष्टिः॥ के० 30
7. ये विदुरमृतास्ते भवन्त्ययेतरे दुःखमेवापियन्ति। बृ०उ० 4/4/14

एक नित्यवादी दर्शन है। जिसके अनुसार चैतन्य से स्वतंत्रतः किसी वस्तु की सत्ता में विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि चैतन्य के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व मान भी लिया जाए तो ज्ञेय होने के कारण उसके विषय में कुछ भी कथन नहीं किया जा सकता। इससे जान पड़ता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अर्थात् ब्रह्म वह तत्त्व है (तत्) जिससे सारा विश्व उत्पन्न होता है (ज अर्थात् जायते) जिसमें वह अन्त में लीन होता है (ल अर्थात् लीयते) और जिसमें वह जीवित रहता है (अन) – तज्जलान्।[1] तैत्तिरीय में भी ब्रह्म को जगत्कारण बताया गया है—जिससे यह सारा जड़ चेतन मय विश्व उत्पन्न होता है, जिसमें वह जीवित रहता है और जिसमें पुनः पुनः विलीन हो जाता है, वह ब्रह्म है।[2] तैत्तिरीय में ही सृष्टि के विकास क्रम को पाँच कोशों द्वारा समझाया गया है।[3] सबसे नीचे 'अन्नमयकोश' है। यह जड़ द्रव्य या भौतिक पदार्थ का स्तर है। यह ब्रह्म का निम्नतम रूप है जहाँ चैतन्य सुप्त होने से लुप्त सा प्रतीत होता है। इससे ऊपर 'प्राणमय कोश' है। यहाँ चैतन्य का स्फुरण प्रारंभ हो गया है। वह वनस्पति जगत् या प्राणी जगत् का स्तर है। इससे ऊपर 'मनोमयकोश' है। जहाँ चैतन्य मनोजगत् के रूप में प्रकट होता है। यह इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि की प्रथमावस्था का स्तर है जहाँ ज्ञान सहज प्रवृत्तिजन्य है। यह पशु तथा मानव का सम्मिलित निद्रा, भय, क्रोध, आहार, मैथुनादि का स्तर है। इसके ऊपर 'विज्ञानमयकोश' है जिसमें केवल मानव का ही अधिकार है। यह सविकल्पक बुद्धि तर्क, मनीषा और विविध-ज्ञान-विज्ञान का स्तर है। इसके उपरान्त सर्वोच्च 'आनन्दमयकोश' है। यहाँ ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द का स्फुरण होता है। यह अखण्ड ब्रह्मानन्द की अनुभूति समाधि में होती है। यह प्रतिमज्ञान या निर्विकल्पप्रज्ञा का स्तर है, किन्तु कोश होने के कारण इसमें विकल्प का लेख बना रहता है। यहाँ आनन्दमय का अर्थ प्रचुर आनन्द न होकर आनन्दरूप है। वस्तुतः ब्रह्म इन पञ्चकोशों के भी पार है। निर्विशेष निर्गुण और अनिर्वचनीय ब्रह्म का नित्य

---

1. छान्दोग्य 3/14
2. तैत्तिरीय 3/1
3. तैत्तिरीय 3 वल्ली

और अखण्ड आनन्द के रूप में साक्षात् निर्विकल्प अनुभव किया जा सकता है वर्णन करते ही वह सविशेष हो जाता है।

ब्रह्म का प्रकार

आचार्य शङ्कर ने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का विस्तार से वर्णन किया है। मूल सत्य के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन तो संहिताओं से भी मिलना आरम्भ हो जाता है। उपनिषदों में आकर तो निर्गुण एवं सगुण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उपनिषद् परवर्तीकाल के प्रसिद्ध अद्वैती आचार्य गौडपादाचार्य ने भी ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विचार दृष्टि अपनी कारिकाओं में स्पष्ट की है। अद्वैत वेदान्त के कर्णधार आचार्य शङ्कराचार्य ने तो अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन विस्तार से किया है। अब यहाँ सगुण और निर्गुण ब्रह्म का अलग-अलग विवेचन सार्थक है।

ब्रह्म का निर्गुण रूप

ऋग्वेद की हंसवती ऋचा के अन्तर्गत समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित एवं उपाधि रहित निर्गुण परमात्म तत्त्व का वर्णन हंस के रूप में किया गया है।[1] कठोपनिषद् में परब्रह्म को शब्द, रूप, रस तथा गन्ध से रहित एवं अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, परात्पर और ध्रुव कहा है।[2] गौडपादाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूप रहित, सुकृत्-विभात तथा सर्वज्ञ कहकर किया है।[3] यहाँ आचार्य शङ्कर ने सर्वज्ञ का अर्थ सब कुछ जानने वाला न करके, 'वह ब्रह्म पूर्णतया ज्ञान रूप है' ऐसा किया है—**'सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्।[4]'** आचार्य शङ्कर ने निर्गुण ब्रह्म को अद्वैत वेदान्त का सर्वोच्च सत्य माना है। आचार्य की दृष्टि में ब्रह्म की सत्यता का यही

---

1. ऋग्वेद 4/4/0/5
2. कठ०उ० 1/3/5
3. गौ०का० 3/36
4. शा०भा०, गौ०का० 3/36

अर्थ है कि वह देश कालादि के बन्धन से मुक्त है।[1] आचार्य शङ्क ने ब्रह्म को वाङ्मनसातीत कहा है, परन्तु फिर भी वह अभाव रूप नहीं है।[2] सत् तत्त्व होने के कारण ही ब्रह्म बौद्धों के शून्य से भी भिन्न है। साथ ही निर्गुण ब्रह्म कारण रूप भी नहीं कहा जा सकता।[3] ब्रह्म की कारणता स्वीकार करने पर उसका देश कालादि से सम्बन्ध भी स्थापित करना पड़ेगा, जो उचित नहीं है। ब्रह्म त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा माया से अवशिष्ट होने के कारण ही निर्गुण है। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार यही निर्गुण ब्रह्म का मूल स्वरूप है।

ब्रह्म का सगुण रूप

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सहस्र शिर वाले, अनन्त चक्षुधारी तथा अनन्त चरणों वाले जिस विराट् पुरुष का वर्णन मिलता है, वह वास्तव में परमात्मा के सगुण रूप का वर्णन है। यहाँ पुरुष को स्रष्टा कहा गया है।[4] मुण्डकोपनिषद् में परब्रह्म परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं ज्ञानमय तपवाला बतलाते हुए, जगत् के नाम, रूप एवं अन्नादि का स्रष्टा कहा गया है।[5] यह ब्रह्म के सगुण रूप का सङ्केत करते हैं। उपनिषदों में विविध स्थानों पर ब्रह्म को स्रष्टा[6], लोकरक्षक[7] और नियन्ता[8] कहकर सगुण रूप का वर्णन किया गया है। आचार्य गौडपादाचार्य ने पुरुष को समस्त लोक का जनक कहा है[9], वहाँ उनका भाव स्पष्ट रूप से परमात्मा की सगुणता का ही है। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का स्पष्टीकरण सूक्ष्म दृष्टि से ब्रह्म के पर एवं अपर रूप के भेदनिरूपण

---

1. ब्र०सू०शा०भा० 4/3/14
2. वही 3/2/22
3. वही 3/3/36
4. ऋग्वेद संहिता 10/90/1, 5
5. मुण्डकोपनिषद् 1/1/9
6. तै०उ० 3/1
7. बृ०उ० 4/4/22
8. वही 3/7/3
9. गौ०का० 1/6

द्वारा किया है। आचार्य शङ्कर का विचार है कि जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिषेध से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त उपासना के लिए जब नाम रूप आदि किसी विशेष से विशिष्ट ब्रह्म का वर्णन किया जाता है तो वही अपर ब्रह्म कहलाता है।[1] उदाहरण स्वरूप छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को मनोमय, प्राण शरीर वाला तथा प्रकाश स्वरूप कहना ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों का वर्णन मिलता है। साथ ही यह स्पष्ट है कि इन दोनों रूपों का समन्वयात्मक वर्णन के बिना इन दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक विरोध–प्रतीति के कारण अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन असंभव है। अतः यहाँ निर्गुण एवं सगुण का समन्वय अत्यन्त अपेक्षित है।

निर्गुण एवं सगुण का समन्वय

सामान्य दृष्टि से विचार करने के उपरान्त ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विवेचना ब्रह्म की अद्वैत सत्यता में बाधक सी प्रतीत होती है। ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका पश्चिमी विद्वान् 'डायसन' को भी हुई थी।[2] अतः आचार्य शङ्कर ने निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के विरोध के समाधान के लिए समन्वय मूलक दर्शन की स्थापना की थी। शङ्कराचार्य ने सगुण ब्रह्म की स्थापना का प्रयोजन उपासना को बतलाया है।[3] वस्तुतः ब्रह्म का कर्तव्य एवं स्रष्टत्व से सम्पन्न सगुण रूप अविद्या पर आधारित है। इस संदर्भ में 'रत्नप्रभाकर' ने स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है एवं सगुण ब्रह्म अविद्या का विषय है।[4] अविद्या के आधार पर ब्रह्म के जो स्रष्टा, नियन्ता आदि विशेषण, देखे जाते हैं, वे कल्पित ही हैं। चूँकि जब साधक को आत्मस्वरूप का बोध

---

1. ब्र०सू०शा०भा० 4/3/14
2. *D.S.V. pp 102-3*
3. शा०भा०छा०उ० 8/1/20; ब्र०सू०शा०भा० 1/1/20, 24, 31, 1/29/1, 14, 3/2/12, 33
4. विद्याविषयो ज्ञेयम् निर्गुणं सत्यम् उपास्यम् सगुणकल्पितम्। रत्नप्रभा, ब्र०सू० 1/1/12

हो जाता है तो उसे जगत् से स्रष्टा एवं नियन्ता का बोध पृथक् रूप से नहीं होता। तत्त्वज्ञान होने पर समस्त द्वैत की निवृत्ति हो जाती है। अतः जब ज्ञानी की द्वैत बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है तो संसार की सृष्टि आदि का कर्त्ता सगुण परमात्मा के स्वरूप विचेचन का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सगुण ब्रह्म का स्वरूप पारमार्थिक न होकर अविद्याकल्पित ही है। जैसा की ऊपर वर्णित है, सगुण ब्रह्म पारमार्थिक न होते हुए भी शङ्कराचार्य के मतानुसार उपासना दृष्टि से उपादेय हैं। सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वरोपासना के द्वारा जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता है और तब यह परब्रह्म का साक्षात्कार करता है।[1] आचार्य शङ्कर ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि उपासनाओं का एकमात्र फल उपास्य परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही है। आचार्य का कथन है कि एक ही उपासना से उपास्य का साक्षात्कार होने पर अन्य उपासनाएँ निरर्थक ही कही जाएँगी।[2] जहाँ तक कर्तव्य, स्रष्टत्व आदि विशेषताओं से सम्पन्न सगुण ब्रह्म की उपासना से निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की बात है, एकहार्ट[3], प्लोटिनस[4] और ब्रेडले[5] आदि पश्चिमी दार्शनिक विद्वानों ने भी सगुण परमात्मा के ज्ञान से ही निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की उपलब्धि मानी है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म में मूलतया भेद न होते हुए भी उपासना दृष्टि से ब्रह्म का पृथक् उल्लेख किया गया है। उपासना के अतिरिक्त सगुण ब्रह्म की उपासना का उद्देश्य ब्रह्म सम्बन्धी विचारों को दूसरों तक पहुँचाना भी हो सकता है।

---

1. *D.S.V. p 108*
2. ब्र०सू०शा०भा० 3/3/58
3. *Hunt's Essay on Pantheism, p 179*
4. *Enneads : Mckenna's English Translation, Vol. II, p 135*
5. *Appearance and Reality, p 159*

सगुण ब्रह्म के स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण

स्वरूप लक्षण

सत्–चित्–आनन्द–लक्षण का वह प्रकार है जो वस्तु के तात्त्विक (वास्तविक) स्वरूप को बताता है एवं भिन्न पदार्थों से व्यावर्तन भी करता है, वह स्वरूप कहा जाता है—**'स्वरूपम् सद्व्यावर्तकम्।'** आत्मा का स्वरूप लक्षण **'सच्चिदानन्द ब्रह्म'** अर्थात् आत्मा सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। श्रुति में भी ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है।[1]

सत्

सत् का अर्थ त्रिकालाबाधित होता है। अतः सत् होने के साथ नित्य होने की संभावना संश्लिष्ट है, अर्थात् नित्यता को लेकर ही सत्यता संभव है। जो सत् होता है उसका विनाश संभव नहीं। वास्तव में सत् वस्तु का स्वरूप कहा गया है। ब्रह्म सत् है वह अनन्य है क्योंकि वह सभी का कारण स्वरूप है। यह नहीं कहा जा सकता कि नाना कार्यों की अपेक्षा से ब्रह्म में वस्तु परिच्छेद आ जाता है, क्योंकि कार्य वस्तु आवृत है और ब्रह्म सत्य है।[2]

चित्

ब्रह्म को चित् रूप कहा गया है। चित् की भी त्रिविध अभिव्यक्तियाँ हैं—जीवन, ज्ञान और प्रकाश। इनमें से जीवन वस्तु है, जिससे रहित वस्तु जड़ कहलाती है। प्रश्न है कि यह जीव तत्त्व है क्या? इस प्रश्न के उत्तर में प्राण, मन और बुद्धि तीनों आई हैं पर किसी से भी उचित समाधान नहीं हो सका। प्राण का स्वरूप वायुमात्र है, जो स्वयं किसी के द्वारा नियंत्रित है। मन तथा बुद्धि भी इन सभी स्थूल–भूतों तथा स्थूल कर्मों से बने हैं।

---

1. सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म। तै०उ० 2/1/1
2. सर्वनित्यत्वं ब्रह्मणः सर्ववस्तुकारणत्वात्। सर्वकोहि वस्तुना कालाकाशदिनां कारणं ब्रह्म। कार्योपेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्वमितियेन्न अनृत्वात् कार्ये वस्तुतः। तै०उ०शा०भा० पृ० 118

आचार्य शङ्कर ने अपने शारीरक भाष्य में जगत् की इष्ट नियामक तत्त्व को हेतु बनाकर उसके मूल का चैतन्य तथा उसका चित् होना सिद्ध किया है। ब्रह्म के प्रति शुद्ध, बुद्ध विश्लेषण चित्प्रत्यक्ष के ही समर्थक हैं।[1] ब्रह्म चित् स्वभाव है क्योंकि वह जड़ नहीं, वही ईक्षण करता है, सृष्टि का सङ्कल्प करता है। ये सब कार्य जड़ के द्वारा संभव नहीं चित् निखिल विश्व का कारण है अग्नि सूर्यादि का मूल चित् ही है चित् ही साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप है उसे किसी के द्वारा जाना नहीं जाता। वही प्राणि मात्र के कर्मों का साक्षी है। अपने सद्भाव के प्रकाश के अभाव से रहित प्रदीप या संवेदना होने से दीपक अपने प्रकाश के लिए दीपान्तर की प्रतीक्षा नहीं करता। इसी प्रकार स्वप्रकाश ब्रह्म को अपने ज्ञान के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती।[2] यहाँ शंका हो सकती है कि मूर्छा अवस्था या गहरी निद्रा में चेतना का अभाव देखा जाता है। अत्यन्त गहरी नींद से उठकर मनुष्य कहता है कि बहुत सुखपूर्वक सोया। इस संशय की निवृत्ति हेतु आचार्य शङ्कर कहते हैं कि चेतना वस्तुतः अभाव नहीं होता। उसका कारण यह नहीं कि उस समय चेतना नहीं होती। बल्कि यह कि ज्ञेय विषय का अभाव रहता है। मैं उस समय कुछ नहीं जानता था यह स्पष्ट ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इसलिए उसे स्मृति कहना चाहिए, क्योंकि स्मृति पूर्वज्ञान की आकृति होती है, अतः मानना चाहिए कि प्रगाढ़ निद्रा में भी मैं कुछ नहीं 'जानता' यह ज्ञान वर्तमान था, अतः कुछ नहीं ज्ञान भी सब प्रकार का ज्ञान है एवं गहरी निद्रा में भी आत्मचेतना रहती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि यह ज्ञेय के अभाव में ज्ञान (ज्ञान रूप आत्मा) का अभाव माना जाए तो अभाव का साक्षी कौन होता? ज्ञान या चेतना का अभाव कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता।[3]

चित्सुखाचार्य ने अनुभूति के स्वयंप्रकाशत्व की सिद्धि करते हुए कहा है कि प्रकाशत्व का अर्थ है—जो ज्ञेय न बनता हो।[4] साथ में अपरोक्ष व्यवहार

---

1. अस्ति तावत् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं। ब्र०सू०शा०भा० 1/1/1
2. प्रकरण – 29
3. तै०उ०शा०भा० 2/7
4. त०प्र०प्र०, पृ० 639, निर्णय सागर, बम्बई, 1915

विषय में उसमें योग्यता हो। प्रकाश होने का अर्थ है—ज्ञान होना। योग-वासिष्ठ में कहा गया है कि परमवस्तु शुद्ध संविद्रूप तथा प्रकाश स्वरूप है। वही स्वयं के एवं अपने से अन्य के समान प्रतीत होने वाले समस्त दृश्यवर्ग को प्रकाशित करता है।[1]

इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व हमारे सम्पूर्ण अनुभव में ओत-प्रोत है। अनुभव का अर्थ है—अर्थ या विषय का प्रकाश होना और यह प्रकाश बिना आत्मज्योति के संभव नहीं। अतः आत्मा चित् स्वरूप या स्वयंप्रकाश है,उसी के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित है।

आनन्द

आत्मा आनन्द स्वरूप है। आचार्य गौडपाद ने तुरीय (ब्रह्म) को सभी दुःखों की निवृत्ति में ईशन (समर्थ) कहा है, यही इसके आनन्द का अभिव्यञ्जक है, क्योंकि स्वयं आनन्द से पृथक् तथा भिन्न कुछ भी नहीं हो सकता।[2] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा आनन्द-स्वरूप है। वह सम्पूर्ण दुःखमय अभाव से रहित सुख स्वरूप एवं अमृतमय, सर्वदा अपने अन्तःकरण में ही विषय रूप से भासित होता है।[3] विमुक्तात्मा ने आत्मसुख की अभिव्यक्ति को बताते हुए कहा है कि जिसकी छाया मात्र से अन्तःकरण में आनन्दरूपता आयी है वह आत्मा ही वस्तुतः आनन्द है।

इस प्रकार शङ्कराचार्य ने ब्रह्म के लक्षण को '**सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म**' भी कहा है और सच्चिदानन्द भी कहा है। वास्तव में इन दोनों लक्षणों में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म के सम्बन्ध में सत् और सत्ता एवं चेतना एक एवं अभिन्न है। उसी प्रकार अनन्तता और निरपेक्षता व आनन्द एक ही है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है क्योंकि आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते

---

1. ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शन द्रष्टुमः।
   कर्त्ता हेतुः क्रिया यस्मात् तस्मै ज्ञायात्मने नमः॥ यो०वा० 1/1/2
2. निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुख्ययः।
   अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः। मा०का० 1/10
3. मु०उ०शा०भा० 2/7

हैं। उत्पन्न होने पर आनन्द में ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में समा जाते हैं।[1] अतः **'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'** के आनन्दम् आदि पदों के लक्ष्यार्थ परस्पर भिन्न नहीं हैं। सत्य में भी ज्ञानता है—ज्ञानता में भी सत्यत्व है एवं आनन्द में ज्ञानता व ज्ञानता में आनन्दत्व निःसन्देह रूप से विद्यमान है। वह अखण्ड एक रस स्वरूप ब्रह्म अपने स्वरूप में 'सच्चिदानन्द' या 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' है।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।[2]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार लक्षण लक्ष्य के यावत्काल पर्यन्त (जब तक लक्ष्य रहे तब तक) स्थिर न रहकर लक्ष्य का व्यावर्तक होता है, वही तटस्थ लक्षण है।[3] 'जन्माद्यस्य यतः[4]' सूत्र में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बतलाया गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार जगत् नामरूप से विभक्त अनेक कर्त्ता तथा भोक्ताओं से युक्त देश-काल निमित्त से क्रिया तथा काल का आश्रय है। सृष्टि इतनी विशाल है कि उसकी उत्पत्ति स्वयं के द्वारा किया जा सकता है। अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् से उसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश होता है, वही ब्रह्म है।[5] प्रश्न यह उठता है कि क्या आत्मा या ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है या

---

1. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ० 3/6
2. तै०उ० 3/1
3. तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यदव्यावर्त्तकं तदेव, यथा गन्धवत्त्वं पृथ्वीलक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धभावात्। प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिककारणत्वम्। अत्र जगत्पदेन कार्यं जातं, विवक्षितम्, कारणत्वं च कर्तृत्वमतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः। वे०प० पृ० 329
4. तै०उ० 31
5. अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्त्तृभोक्तृसंयुक्तस्य......मनसाप्यचिन्त्यरचना-रूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः। ब्र०सू०शा०भा० 1/1/2

निमित्त अथवा दोनों? इसके उत्तर में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है। जिस प्रकार मकड़ी अपने ही तन्तुओं से बिना किसी बाह्य साधन की अपेक्षा के जाल बुन लेती है। ठीक उसी प्रकार परमात्मा किसी बाह्य सहायता के स्व-माया शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने ही तन्तुओं के कारण उपादान कारण एवं अपने चैतन्यांश के कारण निमित्त कारण होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी माया के उपादान एवं चैतन्यांश के प्राधान्य कारण निमित्त कारण होता है। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। इसलिए अन्तिम कारणता ब्रह्म में ही मानी जाती है।[1] क्योंकि कूटस्थ, निर्विशेष, अपरिणामी ब्रह्म जगत् का कारण नहीं बन सकता, इसलिए माया को ब्रह्म की सृजन शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। माया को ही अज्ञान, अविद्या, उपाधि, भ्रान्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है। माया को सदसद् से विलक्षण अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मिका, ज्ञान विरोधी और भावरूपक कहा गया है।[2]

माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करके उसमें प्रतिभासित जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का अपनी शक्ति अथवा माया के द्वारा रचना, संचलन और लय का ईशन करने के कारण इस तटस्थ लक्षण के अधीन वेदान्त में ईश्वर माना गया है।

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। ब्रह्म नित्य, शुद्ध, चैतन्य एवं अखण्ड आनन्दस्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आचार्य शङ्कर ने मोक्ष का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है—

'यह पारमार्थिक सत् है, कूटस्थनित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य तृप्त है, निरवयव है, स्वयंज्योतिः

---

1. यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। मु०उ० 1.1/7; वे०सा० – 11

2. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति। वे०सा०-6

स्वभाव है, यह धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मों से तथा (सुख-दुःख रूपी) उनके कार्यों से अस्पृष्ट है, यह कालत्रयातीत है, यह अशरीरत्व मोक्ष कहलाता है[1]।'

ब्रह्म विषयक पारिभाषिक शब्दों के अन्तर्गत ब्रह्म, आत्मा, पुरुष इत्यादि से सम्मत शब्दों का अध्ययन किया गया है। संक्षेपतः उन सभी का सार प्रस्तुत है—

ब्रह्म को 'अकाममय' अर्थात् ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त करने पर कामना का कोई अस्तित्व नहीं रहता, कामना इत्यादि व्यावहारिक जगत् में ही दृष्टिगत होते हैं। जब इस कामना का अन्त होता है वहाँ चित्त प्रसन्न तथा निष्कल्मष हो जाता है एवं चित्त शान्त हो जाता है। इसी क्रम में आत्मा का एक नाम 'अखण' भी कहा गया है अर्थात् इसे काटा नहीं जा सकता है गीता में भी नैनं छिन्दन्ति .... कहा गया है। इस प्रकार अतिछन्दरूप, अतिमृत्यु, अपाणिपाद आदि शब्दों का इस अध्याय के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है जो ब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करते हैं।

1.6.1.2 जीव विषयक पारिभाषिक शब्द – जीव

जीव विषयक पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन सहित संकलन प्रस्तुत करने से पहले अद्वैत मत में जीव सम्बन्धी अवधारणाओं से परिचय अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में विवरणकार, सुरेश्वर तथा भामतीकार वाचस्पति के मत महत्त्वपूर्ण हैं। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में दिए गए मतों के प्रकाश में पारिभाषिक शब्दों का प्रस्तुतीकरण सार्थक होगा।

आचार्य शङ्कर ने जीव के स्वरूप की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही माया शक्ति के कारण ईश्वर तथा अविद्योपाधि के कारण जीव, इस प्रकार से दो भेद हैं। उन्होंने कहा है कि जब तक बुद्धि

---

1. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्, यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण, कालत्रयं च नोपापर्तेते, तदेदत् मोक्षाख्यम्।

रूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व तथा संसारित्व है।[1] जीव के स्वरूप विवेचन मे शङ्कर वेदान्त के अनुयायी विद्वानों के विभिन्न मत मिलते हैं यहाँ उन विद्वानों के मत को उद्धृत करना सार्थक होगा।

वाचस्पति मिश्र का मत है कि अविद्या जीव का अधिकरण है, परन्तु जीव में रहने वाली अविद्या नियमितता और विषयता के कारण ईश्वराश्रित होने से ईश्वराश्रया कही जाती है।[2]

विवरणकार का मत है कि सर्वभूत प्रकृति चिन्मात्र सम्बंधिनी, अनादि एवं अनिर्वचनीय माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नाम वाले आवरण और विक्षेप शक्तियुक्त परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है।[3]

विद्यारण्य का मत है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के माया और अविद्या यह दो रूप हैं। रज और तम से तिरस्कृत न होकर जो मुख्य रूप से शुद्ध सत्त्व प्रधान है, वह माया है। इसके अतिरिक्त जो रज और तम से अभिभूत होकर मलिन सत्त्व प्रधान है वह अविद्या है। संक्षेप में, माया प्रतिबिम्ब चैतन्य जीव है।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मूल तत्त्व एकमात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है—**जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म।**[5] यह और उल्लेखनीय है कि अविद्या-निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वरत्व से ब्रह्म की सत्ता

---

1. यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। ब्र०सू०शा०भा० 2/3/30
2. भामती ब्र०सू० 1/4/3
3. सिद्धान्तलेश संग्रहः, 29
4. पंचदशी तत्त्वविवेक प्रकरण 16-17
5. भामती ब्र०सू० 1/4/3

अलग नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख दु:खादि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यों का कर्त्ता यही जीव है।[1] इस प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

वेदान्तसार में अज्ञान समष्टि के लिए 'माया' और अज्ञान व्यष्टि के लिए 'अविद्या' का व्यवहार किया गया है। माया में विशुद्ध सत्त्व गुण की प्रधानता होती है और अविद्या में रहने वाले सत्त्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत होकर अविशुद्ध अथवा मलिन हो जाता है।[2] ये क्रमश: ईश्वर और जीव की अवस्था होती है। ईश्वर तथा जीव दोनों ही अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं। अत: इन दोनों की तीन-तीन अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीन शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंचकोशों पर आधारित है। जाग्रत् अवस्था में स्थित अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को 'तैजस्' कहते हैं। उक्त तीन कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्वमय है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है एवं प्राणमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्यरूप है। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं, स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समष्टि रूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट्, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर अपनी उपाधिभूता माया का स्वामी होने से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होता है। जबकि जीव अपनी उपाधिभूता अविद्या का वशवर्ती होने से अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और परिच्छिन्न होता है। दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

---

1. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीव: स विज्ञेय: च चाऽऽनन्त्याय कल्पते॥ श्वे०उ० 5/9 तथा देखिए ब्र०सू०शा०भा० 2/3/45
2. सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। पञ्चदशी 1/16

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञः ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥[1]

अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित होने वाला चिदात्मा उस माया को अपनी वशीभूत करके सर्वज्ञ ईश्वर बन जाता है, तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित होने वाला चिदात्मा उस अविद्या के परतन्त्र होकर जीव कहलाता है।

व्यष्टिरूप अज्ञान निकृष्ट जीव की उपाधि है, अतः उसमें रहने वाला सत्त्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत होने के कारण मलिन हो जाता है— **मलिनं रजोस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथ्या।**[2] जैसे निर्मल दर्पण किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब को स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लेता है, धूल-मिट्टी से मलिन हो जाने पर उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की सामर्थ्य कम हो जाती है। इसी प्रकार सत्त्वगुण जब निर्मल रहता है, तो उसमें चिदात्मा स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु जब रजस् और तमस् उसको दबाकर मलिन कर देते हैं, तब चिदात्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। जीव की अल्पज्ञता का यही हेतु है।

जीव और ईश्वर

ईश्वर माया शक्ति सम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से उपहित। जहाँ ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व एवं सर्वव्यापकत्व है वहाँ जीव अल्पज्ञ, तुच्छ तथा अत्यन्त लघु है।[3] आचार्य शङ्कर कहते हैं कि निरतिशय उपाधि से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से सम्पन्न जीवों पर शासन करता है।[4] जैसा कि कहा जा चुका है ईश्वर और जीव मूलतः एक ही है। चैतन्य तत्त्व जीव एवं ईश्वर का एक ही है। जीव ईश्वर के अंश के समान ही है, परन्तु वह मुख्य अंश नहीं है।

---

1. पञ्चदशी 1/16, 17
2. विद्वन्मनोरञ्जनी
3. बालाग्र........कल्प्यते। श्वेत०उ० 5/9
4. निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो। विहीनोपाधि सम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीति न किंचिद् विप्रतिषिध्यते। ब्र०सू०शा०भा० 2/3/43

इसका कारण यही है कि निरवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता।[1]

जीव और ईश्वर में मूल अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दु:ख सुखादि का अनुभवकर्त्ता है परन्तु ईश्वर सुखादि का अनुभवकर्त्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या के आवेश के वश देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दु:ख से अहं दु:खी, मैं दु:खी हूँ आदि इत्यादि अविद्याकृत दु:ख के उपयोग का अभिमानी होता है। इसके विपरीत परमेश्वर का देहादि में आत्मभाव या दु:खादि का अभिमान नहीं है। क्योंकि जीव का अविद्या से कल्पित नाम रूप से निवृत्त देह, इन्द्रियों एवं उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दु:खादि का अभिमान है, पारमार्थिक दु:खाभिमान कदापि नहीं है। उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा। जिस प्रकार पुरुष अपने देह को प्राप्त हुए दाह, छेदन आदि से उत्पन्न दु:ख का उस देह के अभिमान की भ्रान्ति से अनुभव करता है, उसी प्रकार स्नेहवश पुत्र, मित्र आदि में अभिनिवेश करता हुआ, 'मैं ही पुत्र हूँ' एवं 'मैं ही मित्र हूँ' इत्यादि रूप से अनुभव करता है। अत: इस विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि मिथ्याभिमान का भ्रम ही दु:खानुभव का निमित्त है।[2] अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव ब्रह्म रूप ही है।[3] अत: उसे (जीव के) दु:खादि भी पारमार्थिक नहीं हैं।

जीव और साक्षी में अन्तर

ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्त्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है। उपाधि शून्य चेतन तत्त्व का नाम है। ब्रह्म एवं मायाविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर संज्ञा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि जगत् का भोक्तापन का अभिमानी जीव है। साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न तो कर्त्ता है न भोक्ता और न द्रष्टा। जीव एवं साक्षी के भेद का

1. अंशइवांशो नहि निरवयस्य मुख्योंऽश: सम्भवति। ब्र०सू०शा०भा० 2/3/43
2. ब्र०सू०शा०भा० 2/3/46
3. तथाचाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयनित वेदान्ता: तत्त्वमसि इत्येवमादय:। ब्र०सू०शा०भा० 2/3/46

स्पष्टीकरण मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत एक उपमान के आधार पर बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि वृक्ष पर सदा साथ रहने वाले दो पक्षी हैं। उनमें से एक पिप्पल (मधुर फल) का स्वादपूर्वक भक्षण करता है और दूसरा पिप्पल को न खाकर उस दूसरे पक्षी को देखता मात्र रहता है।[1] यह द्रष्टा ही साक्षी है। उक्त स्थान पर भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर ने शरीर को क्षेत्र एवं अविद्याकामकर्मवासना के आश्रय लिंगोपाधि से उपहित आत्मा और ईश्वर को पक्षी कहा है।[2] शङ्कराचार्य का कथन है कि उनमें से एक क्षेत्रज्ञ लिंगोपाधि रूप वृक्ष के आश्रित हुआ कर्मानुसार निष्पन्न सुखदु:ख रूप फल का अविवेक से उपयोग करता है। दूसरा अर्थात् ईश्वर जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला, सर्वज्ञ तथा सर्वसत्वोपाधियों से युक्त है, वह कर्म फलों का भोक्ता नहीं है। यदि ईश्वर साक्षीरूप से भोक्ता जीव एवं भोग्य का प्रेरक है। राजा के समान दर्शन ही प्रेरणा है।[3] इस प्रकार भोक्ता जीवात्मा एवं साक्षी ईश्वर के बीच अन्तर द्रष्टव्य है।

जीव और आत्मा

प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव में ब्रह्मरूप है। आत्मा की अजरता एवं कूटस्थता शाङ्कर वेदान्त में स्थान-स्थान पर व्याख्यात है।[4] जीव भी आत्मा से भिन्न नहीं है। वस्तुत: वह न आत्मा से भिन्न है, न उसका अंश है और न उसका रूपान्तर है। इसके विपरीत स्वभावत: आत्मा ही है। यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा कूटस्थ है वह जीव में सक्रियता एवं प्रवृत्ति किस प्रकार ला देता है। शङ्कराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए समझाया है कि जैसे लौह चुम्बक स्वयं प्रवृत्ति-रहित होते हुए भी लौह का प्रवर्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं। इसी प्रकार

1. मुण्डकोपनिषद् 3/1/1
2. शा०भा०मु०उ० 3/1/1
3. तयो: परिष्वक्त्योरन्य: एक: क्षेत्रज्ञो:.....दर्शनमात्रं हितस्य प्रेरयितृत्वं राजयत्। शा०भा०मु०उ० 3/1/1
4. द्रष्टव्य शा०भा० गीता 2/20, 2/23

प्रवृत्ति रहित–होता हुआ भी ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होने से सबको प्रवृत्त करता है। यह उचित ही है।[1] जीव और आत्मा के एक होते हुए भी जीव की आत्मरूपता का बोध न होने के कारण यह है कि वह अविद्या–जन्य विविध उपाधियों से आवृत्त है। अविद्या निवृत्त हो जाने पर जीव–आत्मरूपता को ही प्राप्त होता है। आत्मरूपता की यही स्थिति ब्रह्मात्मा की स्थिति है।

शङ्कराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद का प्रतिपादन करने के लिए अवच्छेदपरक, आभासपरक तथा प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का प्रयोग अपने भाष्य–ग्रन्थों में किया है। इन दृष्टान्तों के आधार पर ही शङ्करोत्तर वेदान्त में अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद–इन तीन वादों का जन्म हुआ, जिन्हें क्रमशः 'वाचस्पति', 'प्रकाशात्मयति' तथा 'सुरेश्वराचार्य' ने प्रवर्तित एवं प्रतिष्ठित किया।

1. प्रतिबिम्बवाद

शङ्कराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादन के लिए अपने भाष्य ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर जलप्रतिबिम्ब आदि का भी दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरण में उन्होंने जीव को परमात्मा का आभास कहा है। वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही समझना चाहिए।[2] इस तरह उभयलिङ्गाधिकरण के **अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्** इस सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न–भिन्न जलों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है, वैसे ही यह आत्मा उपाधिभेद से भिन्न–भिन्न रूपों में प्रतीत होता है। एक भूतात्मा प्रत्येक भूत में व्यवस्थित है। वह एक होते हुए भी जलचन्द्र की तरह अनेक रूपों में दिखलाई पड़ता है।[3]

---

1. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य 2/2/2
2. आभासः एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः। ब्र.सू.शा.भा. 6/2
3. एक एव हि भूतात्मा भूतभूतेव्यवस्थितः।
   एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ वही पृ० 358

कठोपनिषद् के भाष्य में भी शङ्कराचार्य का कहना है कि जैसे एक ही सूर्य, घट तालाब आदि के जल में प्रतिबिम्बित होकर अनेक-सा अवभासित होता है। वैसे ही सर्वदेशकालपुरुषादि में अवस्थित एक ही ज्ञान (ब्रह्म) नामरूपादि अनेक उपाधियों के कारण अनेक-सा अवभासित होता है।[1] इसी तरह ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य जलभेद से विभिन्न रूपों में अवभासित होता है, वैसे एक ही आत्मा विविध उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर हिरण्यगर्भ, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि रूपों में अवभासित होता है।[2] इस प्रकार शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद एवं औपाधिक भेद के प्रतिपादन के लिए जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। पञ्चपादिका में पद्माचार्य ने भी ब्रह्म को बिम्बस्थानीय तथा जीव को प्रतिबिम्बस्थानीय माना है। वे कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा प्रतिबिम्बस्थानीय जीव की बिम्बस्थानीय ब्रह्मरूपता का उपदेश किया गया है।[3]

पञ्चपादिका विवरण में प्रकाशात्मयति ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। उन्होंने श्रुति, स्मृति तथा सूत्र के आधार पर प्रतिबिम्बवाद का समर्थन तथा युक्ति एवं तर्क के आधार पर प्रतिबिम्बवाद में प्रदर्शित दोषों का निराकरण किया है। अतएव प्रतिबिम्बवाद के प्रतिस्थापक के रूप में विवरणकार ही माने जाते हैं। विवरणकार का यह कथन है कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति तथा सूत्र से समर्थित होने के कारण उपादेय हैं। वे कहते हैं कि **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव** यह श्रुति **एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्** यह स्मृति तथा **अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्** यह स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं।[4]

---

1. सर्वदेशकालपुरुषायवस्यमेकमेवज्ञानं नामरूपाद्यमेकोपाधिभेदात् सवित्रादि जलादि प्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासते। क०उ०शा०भा०-ऐ०उ०शा०भा० 3/1
2. ऐ०उ०शा०भा० 3/1
3. तत्त्वमिति बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते। पञ्चपादिका, प्रथम वर्णक, पृ० 108
4. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, एकधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्, अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् इति च श्रुति स्मृति सूत्रे जीवस्य प्रतिबिम्बभावस्य दर्शितत्वात्। पं०पा०वि० पृ० 289

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने न केवल शब्द–प्रमाण के आधार पर प्रतिबिम्बवाद का समर्थन ही किया है, अपितु युक्ति के आधार पर अवच्छेदवाद की असाधुता का प्रतिपादन करते हुए प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोषों का निराकरण भी किया है। प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित इस दोष का कि चैतन्य के अमूर्त एवं नीरूप होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं, निराकरण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि जैसे अमूर्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे ही अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है।[1]

प्रतिबिम्बपात के लिए बिम्ब का मूर्तत्व या रूपत्व आवश्यक नहीं है। अमूर्त एवं नीरूप वस्तु का भी प्रतिबिम्ब संभव है। यहाँ यह शंका होती है कि जल में अमूर्त आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, अपितु जलान्तर्गत आकाश ही प्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है। इस शंका के निवारण में विवरणकार का कथन है जल में आकाश का प्रतिबिम्ब मानना ही होगा अन्यथा जल में दूर विशाल आकाश के दर्शन की समुचित व्याख्या संभव नहीं है। इस प्रकार विवरणकार ने प्रतिबिम्बवाद को श्रुति, स्मृति और सूत्र शब्द प्रमाण से समर्थित तथा युक्ति एवं तर्क से अनुमोदित सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन्होंने ही सर्वप्रथम प्रतिबिम्बवाद को एक वाद का रूप प्रदान किया तथा अवच्छेदवाद की तुलना में इसके औचित्य का प्रतिपादन किया। अतएव प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक के रूप में विवरणकार ही माने जाते हैं। इन्हीं के नाम पर अद्वैत वेदान्त में एक नए प्रस्थान का प्रवर्तन हुआ जो 'विवरण प्रस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध की गई शंकाओं की समीक्षा

जीव को चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि लोक में रूपवान् वस्तु का ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, नीरूप वस्तु का नहीं। रूपवान् मुख का दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। सूर्य, चन्द्र, तारे इन सभी रूपवान् पदार्थों का ही जलादि में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, रूपविहीन, वायु प्रभृति पदार्थों का नहीं। अतएव चैतन्य के निर्विशेष, निरवयव, नीरूप

---

1. अमूर्तचाकाशस्य सभ्रानक्षत्रस्य जले प्रतिबिम्बवत् अमूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवात्।

एवं अतीन्द्रिय होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब संभव नहीं। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र का कथन है कि रूपवान् द्रव्य अतिस्वच्छ होने के कारण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण कर सकता है। किन्तु चिदात्मा तो अरूप एवं विषयी है अत: यह विषय की छाया को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि कहा भी गया है कि शब्द, गन्ध और रस की प्रतिबिम्बता कैसे हो सकती है।[1] इस शंका के समाधान में विवरणकार प्रकाशात्मयति का यह कथन है कि मूर्त पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब हो यह नियम ठीक नहीं। अमूर्त आकाश का भी प्रतिबिम्ब जल में दीख पड़ता है। इसी तरह अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब संभव है। अमूर्त एवं निरूप आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता, अपितु जलान्तर्वर्ती आकाश ही प्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है।[2] क्योंकि आकाश का प्रतिबिम्ब माने बिना जल में दूर विशालाकाशदर्शन की व्याख्या संभव नहीं है। यहाँ यह शंका होती है कि नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब मानने के स्थान पर आलोक के प्रतिबिम्ब से ही निर्वाह हो सकता है। फिर आकाश के प्रतिबिम्ब को मानने की क्या आवश्यकता है। अत: आकाश का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में गौरव है। इस शंका के समाधान में विवरण प्रस्थान के अनुयायियों का यह कथन है कि पूर्वोक्त पक्ष में गगन प्रतिबिम्ब को भ्रम रूप मानना होगा, और इस भ्रम की सिद्धि के लिए अनिर्वचनीय सूक्तिरजत सदृश अनिर्वचनीय गगन की उत्पत्ति माननी होगी। अत: इस पक्ष में भी गौरव दोष समान रूप से ही प्रसक्त है, किन्तु अनुभावानुसारी गौरवदोष वहाँ नहीं होता, इसलिए रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है, इस नियम का गगन का व्यभिचार

---

1. रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणास्यापि छायां गृह्णीयात्; चिदात्मा स्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति, यथाहु: 'शब्दगन्ध-रसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता' इति। भामती 1/1/4
2. अमूर्तस्य चाकाशस्य जले प्रतिबिम्बवद् मूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवात्। पं०पा०वि० पृ० 289

   तथा—न चामूर्तस्य ब्राह्मण: प्रतिबिम्बासंभव:। अमूर्तस्याप्याकाशस्यस्वाश्रिताभ्रनक्षत्रादि-विशिष्टस्य जले प्रतिबिम्बभावदर्शनात्। वि०प्र०सं० पृ० 231

   तथा—जानुमात्रप्रमाणेऽपि जले दूर विशालाकाशदर्शनात्, जलान्तराकाशप्रतिबिम्बयुक्तो दृश्यत इति वक्तुमशक्यत्वात्। पं०पा०वि० पृ० 289 तथा वि०प्र०सं० पृ० 231

मानना ही होगा। अतएव अमूर्त एवं नीरूप वस्तु का भी प्रतिबिम्ब संभव है। नीरूप वस्तु में प्रतिबिम्बत्व के सम्बन्ध में दिए गए आकाश के दृष्टान्त के बारे में यह कहा जा सकता, जल आदि में तो उसी आकाश का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है जो कि हमें जल के बाहर ऊपर आसमान में दिखलाई पड़ता है। यद्यपि आकाश सर्वथा नीरूप है तथापि वह आलोकादि के सम्बन्ध से नीला प्रतीत होता है, उसी नील रूप से प्रतिभासमान आकाश का ही जलादि का प्रतिबिम्ब संभव नहीं है। इस पर यह कहा जाता है कि जैसे जपाकुसुम का रूप नीरूप एवं निरवयव होते हुए भी सन्निहित शुभ्र स्फटिक में प्रतिबिम्बत होता है तथा शुभ्रस्फटिक जपाकुसुम की अरुणिमा के कारण अरुण प्रतीत होता है। वैसे ही नीरूप एवं निरवयव चैतन्य का भी अन्त:करण में प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।[1] रूप के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, चलन, सुखत्व इत्यादि नीरूप वस्तुओं का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है।[2] इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि रूप, संख्या, परिमाण इत्यादि सभी गुण हैं, अतएव ये रूप रूपी गुणान्तर का आश्रम नही बन सकते, क्योंकि गुण में गुण नहीं रह सकता। अतएव ये सभी रूपहीन हैं, किन्तु रूपहीन होते हुए भी इनका प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। अत: यह शंका ठीक नहीं कि नीरूप का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है?

इस पर यह शंका हो सकती है कि नीरूप आदि गुणों का प्रतिबिम्ब संभव होने पर भी नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब संभव नहीं है, किन्तु विचार करने पर यह शंका भी उचित प्रतीत होती, क्योंकि वेदान्त मत में द्रव्य और गुण की कोई परिभाषा नहीं है। पृथिव्यादि में अनुगत किसी द्रव्यत्वरूपी धर्म की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उन-उन पदार्थों में यह द्रव्य है, इस प्रकार के किसी अनुगत प्रत्यय का अभाव है।[3]

1. जपाकुसुमस्य नीरूपस्य निरवयवस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात्। सि.वि.पृ० 14
2. रूपवत् एव प्रतिबिम्ब इति नास्ति नियम:, रूपसंख्यापरिणामसंयोगविभागपरत्वापरत्व-चलनसुखत्वादिजातीनां प्रतिबिम्बदर्शनात्। वे०क० पृ० 156
3. पृथिव्यादिनवकानुगतस्य द्रव्यत्वासिद्धे:, द्रव्यं द्रव्यमिति तत्र-तत्र लौकिकानुमानुगत-प्रत्ययाभावात्। वे०क० प० 1/1/4 पृ० 156

अतएव वेदान्त में गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य की सत्ता नहीं मानी जाती। यदि गुण के अतिरिक्त गुणाश्रयरूप द्रव्य (गुण की सत्ता) मानी जाए तो इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती, गुण और गुणी में संयोग सम्बन्ध को तो माना नहीं जा सका, क्योंकि ये एक दूसरे से पृथक् नही रह सकते। इन दोनों के बीच नैयायिक सम्मत–समवाय सम्बन्ध को भी नहीं माना जा सकता क्योंकि समवाय की कल्पना करने पर अनवस्था दोष की प्रसक्ति होती है, अतएव वेदान्त में गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक 'ब्रेडले' ने भी गुणाधिष्ठान रूप द्रव्य को वास्तविक नहीं माना है। गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य की सत्ता सिद्ध न होने से यह शंका उचित नहीं कि नीरूप रूपादि के प्रतिबिम्बित होने पर भी नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव नहीं।

नीरूप गुणादि का प्रतिबिम्ब संभव होने पर भी नीरूप गुणाश्रय का प्रतिबिम्ब संभव नहीं, यदि यह कहा जाए तो भी ठीक नहीं, क्योंकि नीरूप संख्या के संख्यारूप गुणाश्रय होने पर भी उसका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि संख्या में संख्या नहीं रहती, क्योंकि **संख्याया अवयवे तयाप** यह पाणिनि का सूत्र की इस बात में प्रमाण है कि संख्या में भी संख्या विद्यमान रहती है। यदि यह कहा जाए कि संख्या का संख्याश्रयत्व गौण है, मुख्य नहीं, तो यही बात आत्मा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आनन्द इत्यादि धर्म से अभिन्न है, अत: आत्मा को भी मुख्य रूप से गुणाश्रय नहीं माना जा सकता।[1]

प्रतिबिम्बवाद के विरोध में एक दूसरा दोष यह दिखाया जाता है कि अन्त:करण रूप उपाधि के नीरूप होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। प्रतिबिम्बपात के लिए वहाँ बिम्ब का रूपवान् होना आवश्यक

---

1. न संख्याया मुख्यं गुणाश्रयत्वमिति चेत् उच्यते–तुल्यमेतदात्मनोऽपि। आनन्दादिधर्मास्तदभिन्ना इति तस्यापि हि न मुख्यं गुणाश्रयत्वम्॥ वे०क०प० 1/1/4 पृ० 156

है। वहीं प्रतिबिम्बोपाधि का रूपवान् होना भी आवश्यक है। रूपवान् उपाधि में ही प्रतिबिम्ब संभव है, रूपहीन उपाधि में नहीं। रूप दर्पण में ही मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, रूपहीन वायु में नहीं। अतः अन्तःकरण रूप उपाधि के रूपहीन होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इस दोष के निवारणार्थ कहा जाता है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण के निमित्त प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्व की कोई आवश्यकता नहीं है। नीरूप उपाधि में भी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। नीरूप ध्वनि में वर्ण प्रतिबिम्ब को मानना आवश्यक है, क्योंकि ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि ध्वनि के धर्मों का आरोप 'आकार' आदि वर्णों में किया जाता है। यह आरोप तभी संभव है, जबकि ध्वनि में वर्णों का प्रतिबिम्ब माना जाए। वर्ण प्रतिबिम्ब को स्वीकार कर लेने पर जैसे दर्पण में रहने वाला मालिन्य प्रतिबिम्ब द्वारा मुख में आरोपित होता है, वैसे ही ध्वनि में रहने वाले ह्रस्वत्व आदि का आरोप प्रतिबिम्ब द्वारा वर्णों में मानना संभव हो सकेगा। अतएव नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों के प्रतिबिम्ब को मानना आवश्यक है। इस प्रणाली से नीरूप अन्तःकरण में नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी माना जा सकता है।

यहाँ यह शंका होती है कि ध्वनित धर्मों का वर्णों में आरोप, ध्वनि के सान्निध्य मात्र से ही संभव है। अतः इसके लिए ध्वनि में वर्ण–प्रति को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? जैसे कि जपाकुसुम के आरुण्य का आरोप सामीप्य मात्र से स्फटिक में हो जाता है, वैसे ही सामीप्य मात्र से वर्णों में ध्वनि गत धर्मों का आरोप संभव है, अतः ध्वनि के वर्ण–प्रतिबिम्ब की कल्पना उचित नहीं।[1]

इसके समाधान में 'प्रतिबिम्बवाद' की ओर से यह कहा जा सकता है कि नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों के प्रतिबिम्बत्व को भले ही न माना जाए। किन्तु प्रतिध्वनि को तो पूर्व ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानना ही होगा। प्रतिध्वनि,

1. ध्वनौ वर्णप्रतिबिम्बवादोऽप्ययुक्तः व्यंजकतया सन्निधानमात्रेण ध्वनिधर्माणामुदात्तादि–स्वराणां वर्णेष्वारोपोपपत्तेः ध्वनेर्वर्णप्रतिबिम्बग्राहिकत्वकल्पनायानिष्प्रमाणकत्वात्। सि०ले०सं० पृ० 10

ध्वनि का प्रतिबिम्ब मात्र है, मुख्य ध्वनि नहीं, क्योंकि उसका कोई उत्पादक नहीं है। अतएव जैसे नीरूप ध्वनि, नीरूप आकाश में प्रतिध्वनि के रूप में प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही नीरूप चैतन्य भी नीरूप अन्त:करण में प्रतिबिम्बित क्यों नही हो सकता?

किन्तु यहाँ एक दूसरी शंका उत्पन्न होती है। प्रतिध्वनि को नीरूप ध्वनि का, नीरूप आकाश में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह आकाशगुणवाली नहीं मानी जा सकती। यदि प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब माना जाए तो या तो इसे बिम्ब से भिन्न मानना पड़ेगा या अभिन्न। यदि इसे बिम्ब से भिन्न माना जाए तो प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब के प्रातिभासिक होने से उसमें व्यावहारिकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती और यदि इस दोष से बचने के लिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद पक्ष को स्वीकार किया जाए तो प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब के बिम्बभूत पृथिवी आदि से उत्पन्न शब्द की अपेक्षा भिन्न न होने से इसमें आकाश गुणत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानने पर दोनों पक्षों (भेद और अभेद) में दोष प्रसक्त होता है। अतएव प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। प्रतिध्वनि वस्तुतः ध्वन्यन्तर ही है। इसका उत्पादक आकाश है तथा निमित्त कारण है पूर्वध्वनि। यह पूर्वध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु पूर्वध्वनि से उत्पन्न होने वाला ध्वन्यन्तर ही है।[1]

वर्णरूप प्रतिशब्द भी पूर्व वर्ण का प्रतिबिम्ब नहीं है, अपितु शब्दान्तर है[2], क्योंकि वर्ण की अभिव्यजंक ध्वनि से उत्पन्न होने वाली प्रतिध्वनि भी मूल ध्वनि के समान वर्ण की अभिव्यंजक है, ऐसा मान लेने से ही उपपत्ति संभव है। अतएव प्रतिध्वनि के दृष्टान्त के आधार पर नीरूप उपाधि में प्रतिबिम्बपात की संभावना समीचीन नहीं है।

---

1. प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः। सि०ले०सं० पृ० 110-11
2. वर्णरूप प्रतिशब्दोऽपि न पूर्ववर्णप्रतिबिम्बः। वर्णाभिव्यंजकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेर्मूल-ध्वनिवदेव वर्णाभिव्यंजकत्वोपपत्तेः। सि०ले०सं० पृ० 110-11

उपर्युक्त शंका के समाधान में प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जाता है कि प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्व के आधार पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब का निराकरण नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए अपेक्षित उपाधि के रूपवत्व का क्या अभिप्राय है। प्रतिबिम्ब ग्रहण के लिए क्या उपाधि का रूपवत्व ही प्रयोजक है, अथवा उपाधि के रूपवत्व के उपाधि के ग्रहण भी अपेक्षित है। इनमें से प्रथम पक्ष में आत्मा के अन्तःकरणोपाधि में प्रतिबिम्बित होने में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि त्रिवत्यकरण अथवा पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण रूपवान् है। द्वितीय पक्ष में भी कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि जैसे स्फटिक के निज रूपवत्वेन गृहीत न होने पर भी सन्निहित जपाकुसुम के प्रतिबिम्बन से स्फटिक अरुण दृष्टिगत होता है, वैसे ही प्रकृति में भी अन्तःकरण के रूपत्वेन गृहीत होने पर भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव है।[1]

नीरूप चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने के सम्बन्ध में एक अन्य शंका यह होती है कि प्रतिबिम्बपात के लिए यह आवश्यक है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बोपाधि एक दूसरे से पृथक् एवं विप्रकृष्ट देशस्थ हों। सूर्यादि मूर्त पदार्थों से पृथक् एवं विप्रकृष्ट देशस्थ मूर्त जल में ही सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, किन्तु चैतन्य तो न मूर्त है और न अन्तःकरणोपाधि इससे पृथक् तथा विप्रकृष्ट देशस्थ है। क्योंकि चैतन्य सर्वगत एवं सर्वानन्य है। अतः सूर्यादि के समान चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव नहीं है।[2] प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध में इस शंका का समाधान शङ्कराचार्य ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक के विक्षितांश को छोड़कर पूर्ण सारूप्य को देख सकना संभव नहीं है, क्योंकि यदि दोनों में पूर्ण सारूप्य हो जाए तो

---

1. किं प्रतिबिम्बोपाधेर्वस्तुतो रूपवत्वं प्रतिबिम्बने प्रयोजकमिष्यते आद्येमात्मनोऽन्तःकरण- प्रतिबिम्बनानुपपत्तिः, अन्तःकरणस्य त्रिवृत्करणेन पञ्चीकरणेन वा रूपवत्वं। न द्वितीयः निजरूपवत्वेना गृह्यमाणेऽपि स्फटिके सन्निहितजपाकुसुमप्रतिबिम्बेन अरुणः स्फटिक इति व्यवहारदर्शनात्। वे०क०प० 1/1/4 पृ० 156

2. सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादि प्रतिबिम्बोदयः। न त्वात्मा चास्मात्पृथग्भूतो विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। ब्र०सू०शा०भा० 3/2/99 पृ० 359

इनके दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव का ही उच्छेद हो जाए। प्रतिबिम्बपरक जल सूर्यादि दृष्टान्तों का एक विशेष प्रयोजन है और वह यह दिखाता है कि जैसे जल में विद्यमान सूर्य प्रतिबिम्ब तल वृद्धि से बढ़ता है, जल ह्रास से घट जाता है, जल में चलने से चलता, और जलभेद से भिन्न होता है, तथापि परमार्थतः सूर्य वैसा हो नहीं जाता, वैसे ही ब्रह्म परमार्थतः अविकृत रहते हुए भी देहादि उपाधियों के कारण वृद्धि ह्रासादिक उपाधि धर्म को प्राप्त सा होता है, किन्तु वैसा हो नहीं जाता।[1]

शङ्कराचार्य के इस समाधान से यह स्पष्ट है कि उन्हें चैतन्य के प्रतिबिम्बन में कोई आग्रह नहीं है। चैतन्य के प्रतिबिम्बित हो सकने के सम्बन्ध में जो पूर्वपक्ष का आक्षेप है, उसके विरुद्ध उनका केवल यही कहना है कि प्रतिबिम्बपरक सूर्य जलसूर्यादि दृष्टान्तों के प्रयोग का एक विशेष प्रयोजन है और उसी प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इन दृष्टान्तों की संगति लगानी चाहिए। प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का प्रयोग अमूर्त चैतन्य के प्रतिबिम्बन क्षमत्व को प्रदर्शित करने के प्रयोजन से नहीं हुआ है। इसी प्रकार अवच्छेदपरक घटाकाश आदि दृष्टान्तों का प्रयोग भी भाष्यकार ने प्रयोजन विशेष्य से ही किया है। इन दृष्टान्तों के द्वारा शङ्कराचार्य ने आत्मा की असङ्गता का प्रतिपादन किया है। यही घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों के प्रयोग का प्रयोजन है। वस्तुतः जिस प्रकार आत्मा के अमूर्त होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब संभव नहीं है, उसी प्रकार आत्मा का अवच्छेद संभव नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब के समान अवच्छेद भी मूर्त पदार्थ से ही संभव है अमूर्त से नहीं। जीव को प्रतिबिम्ब रूप मानने में यह शंका होती है कि प्रतिबिम्ब सदा अचेतन ही होता है, अतः जीव को भी अचेतन ही मानना होगा।

इस शंका के समाधान में विवरणकार का कथन है कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीव को अचेतन नहीं माना जा सकता। मुख प्रतिबिम्ब

1. जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति, जल चलने चलति, जलभेदे भिद्यते, इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमणि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत् इवोपाधिमान् वृद्धिह्रासादीन्। ब्र०सू०शा०भा० 3/2/20 पृ० 359

के अचेतन होने के कारण यह नहीं है कि वह प्रतिबिम्ब है, अपितु यह है कि उसका बिम्बभूत मुख भी अचेतन है। बिम्बभूत मुख के अचेतन होने के कारण ही उसका प्रतिबिम्ब भूत मुख भी अचेतन है। एवं अपने बिम्बेकरूपकत्व को जानने में असमर्थ है।[1]

यदि लोकायत मतानुसार मुख को चेतन मान लिया जाए तो भी उसके चैतन्य के प्रतिबिम्ब हेतु दर्पणादि के जाड्य से आस्पन्दित होने के कारण मुख प्रतिबिम्ब अपने बिम्बकरूपत्व को जानने में असमर्थ रहता है। यहाँ बिम्बेकरूपत्व के अनवबोध के कारण अचेतनत्व है, प्रतिबिम्बत्व नहीं।[2] अतएव चैतन्य के प्रतिबिम्ब रूप जीव को अचेतन नहीं माना जा सकता।

यहाँ एक दूसरी शंका यह उठती है कि लोक में बिम्ब ही भ्रम निर्वतक तत्त्व ज्ञान का आश्रम देखा जाता है, प्रतिबिम्ब नहीं। अतएव बिम्ब होने के कारण ब्रह्म को ही भ्रम निर्वतक तत्त्वज्ञान का आश्रय होना चाहिए, प्रतिबिम्बरूप जीव का नहीं। इस शंका के समाधान में विवरणकार का कथन है कि तत्त्वज्ञानाश्रयत्व बिम्बत्वकृत नहीं होता अपितु भ्रान्तत्वकृत होता है। जिसे भ्रान्ति होती है, वही तत्त्वज्ञान का आश्रय होता है तथा भ्रान्ति उसी को हो सकती है जो अज्ञ हो और अज्ञता के कारण जीवत्व वही है।

अतः अज्ञ जीव ही भ्रम निवर्तक तत्त्वज्ञान का आश्रय बन सकता है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि ब्रह्म में भ्रान्ति की संभावना ही नहीं है।[3] जिसमें भ्रान्ति <u>उत्पन्न होती है, उसी में सम्यग् ज्ञान</u> की उत्पत्ति से भ्रान्ति की निवृत्ति होती है।[4]

1. अचेतनत्वप्रयुक्ता तत्रानवगतिः, न प्रतिबिम्बत्वप्रयुक्ता। पं०पा०वि० पृ० 288
2. देवदत्तस्याचेतनांशस्यैव प्रतिबिम्बत्वात् सचेतनांशस्यैव च प्रतिबिम्बहेतोः श्यामादि-धर्मेणेव जाड्येनाप्यास्पन्दितत्वात् न तत् प्रतिबिम्बं बिम्बैकरूपतामात्मनो जानाति अचेतन-त्वात्। पं०पा० पृ० 110
3. न बिम्बत्वकृतं तत्त्वज्ञानाश्रयत्वं, किन्तुभ्रान्तत्वकृतम्, तदप्यज्ञत्वकृतम्, तदपि जीवत्वनिमित्तमितिभावः। पं०पा०वि० पृ० 288
4. यस्य हि भ्रान्तिरात्मनि परत्र वा समुत्पन्ना तद्गतेनेव सम्यग्ज्ञानेन सा निर्वतते। पं०पा० पृ० 110

प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यदि जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना जाए तो जीव और ब्रह्म में भेद मानना आवश्यक होगा, क्योंकि लोक में बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद स्पष्ट रूप से अनुभूत होता है। ग्रीवास्थ मुख तथा दर्पणस्थ-प्रतिबिम्ब मुख का भेद स्पष्ट है। यदि मुख और मुख-प्रतिबिम्ब के समान ही जीव और ब्रह्म के भेद को मान लिया जाए तो जीव की ब्रह्मरूपता के सिद्धान्त की हानि होती है। अत: जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानना उचित नहीं। इस आक्षेप के सम्बन्ध में पञ्चपादिकाकार का कथन है कि प्रतिबिम्ब-बिम्ब से पृथक् नहीं अपितु बिम्बरूप है। अहं कर्त्ता का अनिदमंश जीव, चैतन्य ब्रह्म से वस्त्वन्तर नहीं अपितु ब्रह्म रूप है। पृथगवभास तथा विपर्ययरूपता मात्र मिथ्या है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में एकस्व लक्षणता का बोध होता है।[1] पञ्चपादिकाकार कहते हैं कि बहि: स्थित देवदत्त वेश्मान्त: प्रविष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं, वैसे ही वह दर्पणतल स्थित देवदत्त से भी भिन्न नहीं। इन सभी व्यवस्थाओं में वह स्वलक्षण ही प्रतीत होता है। यह बात तभी संभव है, जबकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब को वस्त्वन्तर नहीं माना जाए।[2]

इस प्रकार पञ्चपादिकाकार ने बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद का प्रतिपादन करते हुए जीव की ब्रह्मरूपता को प्रदर्शित किया है। 'विवरणप्रमेय-संग्रहकार' विद्यारण्य ने भी प्रबल युक्तियों के आधार पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद पक्ष का खण्डन करते हुए इनके अभेद पक्ष का समर्थन किया है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद के आधार पर जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया गया है।

अवच्छेदवाद

सर्वज्ञ तथा एकमात्र पारमार्थिक सत्य ब्रह्म नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाववाला है, फिर उसमें प्रपञ्चरूप विवर्त कैसे हो सकता है? इसके

---

1. अहङ्कर्तुरनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम् किन्तु तदेव तत्, पृथगव-भासविपर्ययस्वरूपतामात्रं मिथ्या इति दर्शयितुम् कथं पुनस्तदेव तत्? एकस्वलक्षणताव-गमात्। पं०पा० पृ० 104
2. यथा बहि: स्थितो देवदत्तो यत्स्वलक्षण: प्रतिपन्न: तत्स्वलक्षण एव वेश्मान्त: प्रविष्टोऽपि प्रतीयते, तथा दर्पणतलस्थिलोऽपि। न तत् वस्त्वन्तरत्वे युज्यते। पं०पा० पृ०104-105

प्रत्युत्तर में कहा गया है कि अपनी औपाधिक या मायिक शक्तियों द्वारा ही वह प्रपञ्चरूप में भासता है।[1] परमेश्वर अपनी मायिक शक्तियों द्वारा अनेक रूप धारण करता है और जो वस्तु जैसी होती है, उसी का प्रतिरूप बन जाया करता है। इस प्रकार श्रुतियों के आधार पर एक चेतन की अनेक रूपापत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। एक वस्तु किस प्रकार अनेक रूपों में आ सकती है, इस प्रश्न का उत्तर मनीषियों ने कई प्रकार से दिया है। कुछ आचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार एक सूर्य अनेक जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूप धारण कर लिया करता है, उसी प्रकार एक ब्रह्म अनेक अज्ञान खण्डों या अन्त:करणों में प्रतिबिम्बत होकर जीव कहलाने लगता है। इस सिद्धान्त को बिम्ब–प्रतिबिम्बवाद कहा जाता है। अन्य विचारकों ने एक ही अनेकरूपता का एक दूसरा ही निमित्त बतलाया है। जैसे एक ही आकाश अनेक घट–मठ–मणिक और मल्लिका आदि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाशादि अनेक रूपों में विभक्त सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनन्त अज्ञानखण्डों या अन्त:करणों से अवच्छिन्न होकर अनेक रूपों में प्रतीत होता है इस मत का ही नाम अवच्छेदवाद है। आचार्य वाचस्पति के पूर्ववर्ती आचार्य पद्मपाद ने उपाधि की व्याख्या बिम्ब–प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से की है, उनका कहना है कि जीव ब्रह्म का एक प्रतिबिम्ब है, जैसे कि जल में सूर्य प्रतिबिम्ब पड़ता है और एक ही सूर्य के अनन्त प्रतिबिम्ब द्वारा अनन्त जलखण्ड जाज्वल्यमान हो उठते हैं। उनका तरंगित वक्ष:स्थल प्रति तरंगों के आन्दोलन, अनुलोम–प्रतिलोम प्रवाहों से प्रभावित हो जाता है।[2] प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब से पृथक् नहीं मानी जाती, क्योंकि जल सदृश स्वच्छ धरातल से टकराकर नेत्ररश्मियाँ

---

1. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव — कठोपनिषद् 2/2/9; इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते— ऋग्वेद 6/47/18

2. (अ) तत्त्वमिति बिम्बस्थानीयब्रह्मस्वरूपता प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते। पं०पा०वि० पृ० 108

   (ब) जीव: पुन: प्रतिबिम्बकल्प: सर्वेषां न: प्रत्यक्षश्चिद्रूपो नान्त:करणजाड्यमास्कन्दित:। स चाहं कर्त्तत्वमात्मनो रूपं मन्यते। न बिम्बकल्पब्रह्मैकरूपताम्। अतो युक्तस्तद्रूपावगमे मिथ्यावगम:। पं०पा०वि० पृ० 119

आकाशस्थ सूर्य पर पहुँचकर उसका ग्रहण करने लग जाती हैं। जल में बिम्बोद ग्रहण केवल भ्रममात्र, कल्पनामात्र या स्वप्नमात्र होता है। प्रतिबिम्बभूत जीव अपनी उपाधि, अन्तःकरण या व्यष्टि अज्ञान की विकराल कार्य–प्रणाली से विह्वल हो जाता है, उसकी व्याकुलता का आकलन करके उसके वास्तविक बिम्ब स्वरूप का स्मरण दिलाता है, और कहता है कि तू कर्त्ता और भोक्ता नहीं तथा सांसारिक वातावरण एवं प्रमाणों से सर्वथा अछूता, निर्लिप्त और असङ्ग है। इस प्रकार बिम्बरूपता का ज्ञान होते ही जीव की आँखें खुल जाती हैं और सदा के लिए उसके सामने उसका अपना नैसर्गिक भव्य भूम स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है और सदा के लिए उसके जगत् के घोर अन्धकार से छुटकारा पा जाता है। यह विमल शैली 'पद्मपादाचार्य' की देन है, किन्तु आचार्य वाचस्पति ने इससे असहमति प्रकट करते हुए स्वयं प्रतिकर्म व्यवस्था के लिए जीव को ब्रह्म का एक अवच्छिन्न–परिच्छिन्न स्वरूप मानकर अपनी वेदान्त मर्यादा का अभिनव व्याख्यान प्रस्तुत किया है तथा अवच्छेदवाद की स्थापना की है। उनका कहना है कि बिम्ब–प्रतिबिम्बवाद का गम्भीरता पूर्वक अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रूपवान् द्रव्य में रूपवान् द्रव्य का प्रतिबिम्ब होता देखा जाता है, जिस प्रकार रक्त जपाकुसुम का शुक्ल स्फटिक में प्रतिबिम्ब हुआ करता है। नीरूप आकाश में किसी दूसरी का एवं नीरूप आकाश का किसी दूसरे में प्रतिबिम्ब देखा नहीं जाता। ब्रह्म स्वतः नीरूप है, उसका प्रतिबिम्ब अज्ञान या अन्तःकरण में सभव नहीं हो सकता। अतः बिम्ब–प्रतिबिम्बवाद दूषित सा प्रतीत होता है। फलतः अन्तःकरणावच्छिन्न या व्यष्टि अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को ही जीव मानना पड़ेगा। वह अवच्छिन्न चैतन्य अवच्छेदक उपाधि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर दुःख, कर्त्तव्य, भोक्तृत्व, जनन, मरण के प्रवाह का अनुभव करता हुआ अनन्त पीड़ाओं से पीड़ित रहता है, जब उसे अपने अवच्छिन्न विभु, व्यापक, स्वच्छ स्वरूप का साक्षात्कार, अभिन्नदर्शन होता है, तब वह सदा के लिए मुक्त, दुःख बन्धनों से दूर, आनन्दमग्न हो जाया करता है।[1] वाचस्पति की इस विशेषता की

---

1. भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मु०उ० 2/2/8

ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अलमलानन्द सरस्वती ने भी ध्यानाकर्षण किया है।[1]

अतः माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य मुक्त पुरुषों द्वारा प्रापणीय नहीं हो सकता क्योंकि उसकी प्राप्ति मान लेने पर वह परिच्छिन्न है। परिच्छिन्न के ज्ञान से श्रुति प्रतिपादित सर्वज्ञान संभव नहीं हो सकता। अतः अनवच्छिन्न चैतन्य ही मुक्त पुरुषों के द्वारा तादात्म्य रूप से प्राप्त किया जाता है। वह अविच्छिन्न चैतन्य अज्ञान विषयोपलक्षित माना जाता है, उसी प्रकार जीवाज्ञान विषयीभूत ईश्वर से जगत् की रचना मानी जाती है। वह ईश्वर अज्ञान की विषयता से विशिष्ट माना जाता है और विशुद्ध चैतन्य उस विषयता से उपलक्षित होता है। मोक्षावस्थापन्न जीव उसी ब्रह्म का स्वरूप हो जाया करते हैं। वह एक है, अखण्ड है, अनवच्छिन्न है। अर्थवाद वाक्यों में उसी की प्रशंसा की गई है।[2] ग्रहिता में स्थित अविद्या भी ग्राह्यगत स्वसमानजड़ावभास की हेतुता की नियामिका उसी प्रकार मानी जाती है जैसे कि पित्त दोष के विषयीभूत शंख में पीतिमाप्रतिभास की हेतुता।

इन दोनों पक्षों का पर्यालोचन करते हुए आचार्य 'अप्पयदीक्षित' ने कहा है।[3] वेदान्त के समस्त ग्रन्थों में जीवस्वरूप का वर्णन करने के लिए प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद दो वादों का विशेष रूप से आश्रयण किया है। इन दोनों वादों में आचार्य वाचस्पति मिश्र का क्या सिद्धान्त है ? यदि यह कहा जाए कि अवच्छेदवाद ही वाचस्पति मिश्र का सिद्धान्त है, क्योंकि

---

1. न मायाप्रतिबिम्बस्य विमुक्तैरुपसृप्यता।
अवच्छेदान्न तज्ज्ञानात् सर्वविज्ञानसंभवः।
अधिष्ठाने तु जैवीभिरविद्याभिरपावृते।
जगद्भ्रमप्रसिद्धौ किं साधारण्येह मायया॥ कल्पतरु पृ० 379 1/4/3

2. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं
स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छा०उ० 6/1/4

3. अत्रेदं सकलमूलपूर्वापरग्रन्थगतजीवविषयप्रतिबिम्बावच्छेदव्यवहारद्वयतात्पर्यवधारणाय
अन्योः पक्षयोराचार्याणां पक्षः सिद्धान्त इति। परिमल पृ० 155 1/1/4

प्रतिबिम्ब में उन्होंने दोष दिखाया है।[1] ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिबिम्बवाद में जो दोष वाचस्पति मिश्र ने दिखाया है, वह अभ्यास के पूर्व पक्ष में ही दिखाया है, सिद्धान्त पक्ष में नहीं। सिद्धान्त पक्ष में उस दोष का परिहार नहीं किया गया, अतः दोष उस पक्ष में अभीष्ट नहीं है ऐसा समझा जाता है, किन्तु उस दोष के महत्त्वपूर्ण न होने पर भी तो उसके निराकरण की उपेक्षा सिद्धान्तपक्ष में की जा सकती है। वहाँ दोष दिया गया है कि रूपवान् द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है, क्योंकि रूप, संख्या, परिणाम, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सुखत्वादि, गुण-जातियों का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जो कि न रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है क्योंकि यह भी नियम नहीं कर सकते, क्योंकि द्रव्य क्या है ? यह कहना ही कठिन है क्योंकि पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में जनसाधारण को 'द्रव्यं द्रव्यम्' इस प्रकार की अनुगम प्रतीति नहीं होती, जिसके आधार पर सिद्ध द्रव्यत्व जाति के द्वारा संगृहीत वस्तु को द्रव्य कहा जा सके।

तार्किक परिभाषा समस्त लोगों के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती। गुणाश्रय वस्तु का प्रतिबिम्ब रूपवत्ता की अपेक्षा करता है। संख्यारूप गुणाश्रयीभूत नीलादि रूप का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। किन्तु रूप में रूपान्तर नहीं माना जाता। वह रूपरहित ही है। स्वयं संख्या में संख्या की प्रतीति होती है, जैसे एक एकत्व, अनेक अनेकत्व। इस प्रकार संख्याश्रयीभूत संख्या का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, किन्तु उसमें रूप नहीं होता। अतः मुख्यरूप से संख्या, गुणरूप का आश्रय संख्या नहीं, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म को आनन्दादि गुणों का आश्रय-अभेद होने पर भी औपचारिक रूप से कहा जा सकता है, वस्तुतः गुण का आश्रय ब्रह्म नहीं होता। अतः ब्रह्म के प्रतिबिम्ब में भी रूपवत्ता का नियम अपेक्षित नहीं।

कथित दोषों में यह भी एक दोष है कि एक रूपवान् द्रव्य का ही दूसरे रूपवान् द्रव्य में प्रतिबिम्ब हुआ करता है, अर्थात् प्रतिबिम्बधारता के िए भी

---

1. रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात् चिदात्मान्वरूपो, विषयी न विषयच्छायामुदग्राहयितुमर्हति। भामती पृ० 7-8

रूपवत्ता की अपेक्षा होती है। यह दोष भी महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि प्रतिबिम्ब की आधारवस्तु में वास्तविक रूपवत्ता अपेक्षित होती है अथवा प्रातीतिक रूपवत्ता। प्रथम पक्ष अन्तःकरण में चैतन्य प्रतिबिम्ब का विरोधी नहीं, क्योंकि पञ्चीकरण प्रक्रिया के द्वारा अन्तःकरण में भी रूपवत्ता का सम्पादन हो जाता है। दूसरा पक्ष भी विरोधी नहीं, क्योंकि स्फटिक के अपने रूप का ग्रहण न होने पर भी सन्निहित जपाकुसुम प्रतिबिम्ब द्वारा **अरुणः स्फटिकः** यह व्यवहार देखा जाता है। प्रतिबिम्ब पक्ष ही सूत्रकारादि के द्वारा सम्मत और समर्थित प्रतीत होता है। **अंशो नानाव्यपदेशात्**[1] इस अधिकरण में **आभास एव च**[2] इस सूत्र के द्वारा जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही सूचित किया गया है। भाष्यकार ने वैसी ही व्याख्या भी की है।[3]

आभास ही यह जीव है, परब्रह्म का, जैसे कि जल में सूर्य का, न तो जीव परब्रह्म से अभिन्न है और न भिन्न। अतः जिस प्रकार बहुत से जल से प्रतिबिम्बित सूर्यों के कम्पन से किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती, प्रतिकर्म व्यवस्था सुरक्षित रहती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म प्रतिबिम्ब को जीव मान लेने पर किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती। टीकाकारों ने भी उसी अधिकरण में जीव ब्रह्म अभेद पक्ष में सकल जीवों के दुःख का ब्रह्म में प्रसङ्ग निवारण करने के लिए इसी प्रतिबिम्बवाद का सहारा लिया है और कहा है कि अनेक प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध जीव से ही है, ब्रह्म से नहीं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी धर्म–सांकर्य प्रतिबिम्ब में नहीं है, जैसा कि कल्पतरु काल ने उनके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है।[4] प्रतिबिम्बगत

---

1. ब्र०सू० 2/3/43
2. ब्र०सू० 2/3/50
3. आभास एवैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः न स एव साक्षाद् नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा वैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्याकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनी जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः, एवं अव्यतिकर एव कर्मफलयोः इति। शा०भा पृ० 625–26; ब्र०सू० 2/3/50
4. बिम्बप्रतिबिम्बयोरवदातत्वश्यामत्वादिव्यवस्थानान्न धर्म सांकर्यमित्यर्थः। कल्पतरु पृ० 632–2/3/46

नीलिमा आदि धर्मों का सांकर्य बिम्ब में नहीं देखा जाता। अत: धर्म सांकर्य प्रतिबिम्ब पक्ष में प्रसक्त नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य वाचस्पति मिश्र को प्रतिबिम्बवाद ही सम्मत था। अतएव भामती के आरंभिक मंगलश्लोकगत[1] **'चराचर'** पद की व्याख्या करते हुए कल्पतरुकार ने वाचस्पति का अभिप्राय बतलाया है।[2]

अन्य आचार्यों का मत है कि **म स्थानतोऽपि पर स्योभयलिङ्ग सर्वत्र हि**[3] इस अधिकरण में ही प्रतिबिम्बवाद का निराकरण कर दिया है।[4] वहाँ सूत्रों की व्याख्या करते हुए कहा गया है।[5] जैसे सूर्यादि से जल भिन्न प्रतीत होता है और उस जल में प्रतिबिम्बगत योग्यता अनुभूत होती है, उस प्रकार ब्रह्म से भिन्न प्रतिबिम्बन–योग्य कोई ऐसी वस्तु प्रतीत नहीं होती। अत: सर्वगतात्मा कहीं भी प्रतिबिम्बयुक्त नहीं हो सकता। इसलिए **वृद्धिह्रास–भाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्।**[6] सूत्र की व्याख्या दूसरे ढंग से की गई है कि जैसे सूर्यादि प्रतिबिम्ब जलादिगत वृद्धि–ह्रास आदि से प्रभावित होता देखा जाता है, उसी प्रकार अन्त:करणगत पुण्य–पाप आदि से जीव प्रभावित होता है। केवल इसी अंश में जल सूर्यादि दृष्टान्त दिया गया है। उसके बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव को दृष्टिकोण में बिल्कुल नहीं रखा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में भी आचार्य शङ्कर ने इस वाक्य की व्याख्या

---

1. नि:श्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
   स्थितमेतस्य चराचरस्य च सुप्तं महाप्रलय:। भामती मङ्गल श्लोक सं० 21
2. जीवानामपि चराचरशरीरोपाधिकानां तत्प्रतिबिम्बत्वेन तद् विवर्तते इत्यादि। कल्पतरु पृ० 4
3. ब्र०सू० 3/2/1
4. अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्—ब्र०सू० 3/2/18 तथा अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्। ब्र०सू० 3/2/19
5. सूर्यादिभ्यो हि भूतेभ्य: पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र मुक्त: सूर्यादिप्रतिबिम्बोदय:, न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधय: सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त:। ब्र०सू०शा०भा० 3/2/19
6. बुद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्। ब्र०सू० 3/2/20

करते हुए कहा है[1] कि सर्वगत विभु आत्मा का प्रवेश कैसा? प्रतिबिम्ब ही प्रवेश है—इस पक्ष का। **अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्** इस सूत्र में कथित मुख की अपेक्षा दर्पण की विप्रकृष्ट देश की स्थिति संभव न होने के कारण, निराकरण कर दिया और प्रवेश शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है[2] कि देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार प्रवेश पदार्थ की अन्यथा व्याख्या करके प्रतिबिम्ब पक्ष का दूषण स्थिर सा कर दिया है। लोक में भी यह देखा जाता है कि जिस प्रकार जल से दूर तट पर स्थित देवदत्त का प्रतिबिम्ब जल में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु वही देवदत्त जब उस जल की सतह के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, तब उसका प्रतिबिम्ब उसमें नहीं देखा जाता।

अतः प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि बिम्ब की अपेक्षा उपाधि कुछ दूर और सम्मुख स्थित हो। यदि कहा जाए कि देवदत्त के शरीर का जो भाग जलमग्न है उससे भिन्न भाग का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म का जो भाग अन्तःकरण में मग्न है, उसको छोड़कर दूसरे भाग का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, तो यह कहना संगत नहीं क्योंकि देवदत्त के शरीर के समान आत्मा सावयव नहीं माना जाता, अन्यथा आत्मा को निरवयव, निष्फल करने वाले श्रुति वाक्यों का विरोध उपस्थित होगा। अतः पूर्ण पात्रों में जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र के अनेक प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं उसी प्रकार अन्तःकरण देशों में आत्मा के प्रतिबिम्ब मानने होंगे। जिस प्रकार एक स्तम्भ के अनेक प्रतिबिम्ब क्यों नहीं हो सकते, यह संदेह भी अनुचित है, क्योंकि बाँस सावयव वस्तु है। यदि आत्मा भी सावयव होता तब उसी प्रकार अनेक प्रतिबिम्ब माने जा सकते थे, किन्तु आत्मा निरवयव है। प्रखर ताप सन्तप्त प्राणी जाह्नवी के शीतल जल में डुबकी लगाता है उस समय उसके नख से लेकर शिखा तक पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस प्रकार मध्यम परिणाम वाले अन्तःकरण को सम्मुख दूर देशस्थ आत्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देना चाहिए।

---

1. न तु सर्वगतत्वस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः कदाचिदप्युपद्यते। बृ०उ०शा०भा० 1/4/7
2. शा०भा० 3/2/19

इस प्रकार निरवयव आत्मा का प्रतिबिम्ब बन जाने से भाष्यचर्चित दोष शिथिल होते देखकर आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रतिबिम्ब पक्ष को दूषित करने के लिए प्रबल दूसरा दोष दिया कि रूपरहित आत्मा का प्रतिबिम्ब संभव नहीं। रूपवान् द्रव्य का ही रूपवान् दर्पणादि में चाक्षुष प्रतिबिम्ब होता है। इस नियम का कहीं व्यभिचार देखने में नहीं आता। रूपरहित शब्द का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनि के रूप में ही पर्वत–कन्दराओं में जिस प्रकार उपलब्ध होता है, वैसे ही रूपरहित आत्मा का प्रतिबिम्ब संभव हो सकेगा, यह युक्ति भी असंगत ही प्रतीत होती है, क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं अपितु प्रथम शब्द से उत्पन्न आकाश का शब्दान्तर माना जाता है।

प्रतिबिम्ब सदैव चाक्षुष होता है। पुष्प का प्रतिबिम्ब दर्पण में चाक्षुष है, किन्तु पुष्प का सौरभ दर्पण में अनुभूत नहीं होता। उसका प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार रूप या रूपवान् द्रव्य को छोड़कर और किसी गुण का प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता अन्यथा रूप–प्रतिबिम्ब के समान फूल के सौरभ, सुकुमार, स्पर्श आदि का भी अनुमान होना चाहिए। रूप एवं रूपवान् द्रव्य से भिन्न वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। यह सत्य है कि रूपवान् वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है, किन्तु बिम्बगत रूप आरोपित या अनारोपित हो इसका कोई विशेष नियम नहीं। जिस प्रकार अनारोपित रूप वाले सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में देखा जा सकता है, वैसे ही आरोपित रूप वाले नील नभ का प्रतिबिम्ब भी जल में देखा जाता है। इसी प्रकार आरोपित रूप वाले आत्मा का भी प्रतिबिम्ब बन जाएगा, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि नील नभ का प्रतिबिम्ब लोग जिसे कहा करते हैं वह वस्तुतः आकाश मण्डल परिव्याप्त पार्थिव स्त्रेणु समूह का प्रतिबिम्ब होता है, आरोपित रूप का प्रतिबिम्ब, इस प्रकार परस्पर सम्मुख दर्पणों में एक लम्बी प्रतिबिम्ब श्रृंखला देखने में आती है। उसी प्रकार दो अन्तःकरणों में प्रतिबिम्ब परम्परा से अनन्त जीवों की प्रत्येक अन्तःकरण में अनुभूति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा संभव नहीं। अतः अवच्छेदवाद, जिस पर कि किसी प्रकार का दोष नहीं दिया गया और सूत्र, भाष्य तथा भामती के किसी अंश से विरोध नहीं, वही वाचस्पति मिश्र ने अपना सिद्धान्त माना है। अवच्छेदवाद में केवल अवच्छेदिका उपाधि है। उपाधि ही बन्धन पदार्थ होती

है। उसके निवृत्त होते ही चेतन अनवच्छिन्न, स्वतन्त्र, मुक्त हो जाता है। किन्तु प्रतिबिम्ब–पक्ष में प्रतिबिम्बभाव की निवृत्ति बिम्ब के न रहने पर या उपाधि के न रहने पर, दोनों प्रकार से देखी जाती है। अतः मोक्षावस्था में बिम्ब रूप ब्रह्म की निवृत्ति हो जाती है अथवा उपाधिरूप अन्तःकरण की निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार के प्रश्नों का उचित उत्तर मिलना संभव नहीं। आचार्य वाचस्पति मिश्र इन उलझनों से अभिज्ञ थे, अतः उन्होंने अवच्छेदवाद को ही माना है।

इसलिए डॉ० हसूरकर का यह कथन है कि वाचस्पति मिश्र कहीं अवच्छेदवाद को तो कहीं प्रतिबिम्बवाद को अपनाते हुए प्रतीत होते हैं[1], चिन्तनीय प्रतीत होता है। वस्तुतः प्रसङ्गानुसार भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति जब प्रतिबिम्बवाद का व्याख्यान करते हैं, तब आपाततः प्रतिबिम्बवाद का समाश्रयण करने से अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को ही निर्दुष्ट पक्ष मानते हैं, न कि प्रतिबिम्बवाद को। इसलिए वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने वाचस्पति मिश्र को अवच्छेदवादी माना है।

आभासवाद

आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य ग्रन्थों में जहाँ जीव को परमात्मा का प्रतिबिम्ब कहा है, वहाँ इसे परमात्मा का आभास बतलाया है। शारीरक–भाष्य में जीव के स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास समझना चाहिए।[2] छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में भी उन्होंने जीव को आभासमात्र बतलाया है।[3] इसी तरह लघुवाक्यवृत्ति में भी उन्होंने जीव को बोधाभास कहा है।[4] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शङ्कराचार्य जीव को चैतन्य का आभास मानते हैं। उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार

---

1. *Vacaspati Mishra on Advaita Vedanta, pp 174-175*
2. आभास एषः चैव जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। ब्र० सू० शा० भा० 2/3/50
3. जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्। छा०उ०शा०भा० 6/3/2
4. बोधाभासो बुद्धिगतः कर्त्ता स्यात् पुण्यपापयोः। लघुवाक्यवृत्ति, वृत्ति 2

की पंक्तियों के आधार पर जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में 'आभासवाद' का प्रवर्तन किया है। उन्होंने जीव को अविद्या के कार्य बुद्धि में परमात्मा का आभास माना है।[1] चिदाभास की अविवेक-भ्रान्ति के कारण कार्यकारण रहित चैतन्य को भी संसारी समझ लिया जाता है। किन्तु संसारित्व उसमें वैसा ही कल्पित है, जैसे नभस्थल में नीलिमा।[2]

इस प्रकार आभासवाद के प्रवर्तक 'सुरेश्वराचार्य' के मत में जीव चैतन्य का आभासरूप होने के कारण मिथ्या है। उनके मत में ईश्वर भी जीव के समान आभास रूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव माना है। इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों ही आभास रूप के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या हैं।

इसके विपरीत प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब के बिम्ब से अभिन्न एवं सत्य होने के कारण प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव तथा ईश्वर दोनों को ही सत्य माना गया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रतिबिम्बवाद के दो प्रमुख भेद हैं। एक के प्रवर्तक संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि हैं। इनके मत में जीव तथा ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्ब रूप हैं। इन्होंने अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ईश्वर तथा अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब को जीव माना है।[3] दूसरे मत के प्रवर्तक 'विवरणकार' हैं। इनके अनुसार अविद्या (अन्तःकरण) में चैतन्य का प्रतिबिम्बित जीव है तथा बिम्बस्थानापन्न चैतन्य ईश्वर है। इन्होंने ईश्वर को प्रतिबिम्ब रूप न मानकर बिम्बरूप माना है। इस मत में ईश्वर परमार्थतः ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है। संक्षेपशारीरक के मत में भी जीव तथा ईश्वर दोनों ही बिम्बाभिन्न होने के कारण सत्य हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद के दोनों भेदों में जीव तथा ईश्वर को ब्रह्माभिन्न तथा सत्य माना गया है।

---

1. अविद्याकार्य बुद्धिस्थ प्रत्यगाभासरूपवत्।
   बोद्धेत्यादि समुत्थानं भण्यते परमात्मनः॥ बृ०उ०भा०व०अ० 2, ब्रा० 4, वा० 427
2. आत्मा संसारितां यातो यथा काष्र्ण्य वियत्तथा। वही अं० 2, ब्रा० 4, वा० 436
3. कार्योपाधिर्भवेज्जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
   प्रतिबिम्बोऽत्र संक्षेपशारीरककृतां नये। सि०ले०सं० पृ० 85

आभास तथा प्रतिबिम्बवाद के भेद

1. प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बरूप ही है, वस्त्वन्तर नहीं, जबकि आभास बिम्ब से भिन्न एवं मिथ्या है। प्रतिबिम्ब बिम्बरूप होने के कारण सत्य है, जबकि आभास बिम्ब से भिन्न होने के कारण मिथ्या है।[1]

2. पारमार्थिक बिम्बैकरूप प्रतिबिम्ब सर्वथा सत्य है जबकि आभास स्वरूपतः मिथ्या, किन्तु लक्ष्यत्वेन सत्य है।[2]

3. प्रतिबिम्ब के सत्य होने से प्रतिबिम्बवाद में उपाधि के बाध में समानाधिकरण्य होता है तथा प्रतिबिम्ब का अभेद में समानाधि-करण्य होता है। इसके विपरीत आभासवाद में आभास के मिथ्या होने के कारण आभास तथा उपाधि दोनों का बाध में समानाधिकरण होता है।[3]

4. 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में अखण्डार्थबोध के लिए प्रतिबिम्बवाद में तत् और त्वम् पदों में अभेद समानाधिकरण्य के लिए 'जहदजहल्लक्षणा' का आश्रय लिया जाता है, जबकि आभासवाद में बाध समानाधिकरण्य के लिए 'जहदजहल्लक्षणा' स्वीकार की जाती है।

5. चैतन्यभिन्न अज्ञानादि उपाधियों के भेद, कारणाभास तथा कार्याभास इन दोनों रूपों में प्रतीत होता है। तथा आभाषक चैतन्य अपने इन

---

1. बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणोवस्त्वन्तरम् किन्तु तदेव तत्। पं०पा० प्रथम वर्णन पृ० 100

   आभास मिथ्यात्वः। मा०उ० गौडपदीय भाष्य व्याख्या, 4/52 पृ० 192

2. किं च शास्त्रीयोऽपि व्यवहारः प्रतिबिम्बस्य पारमार्थिकमेव बिम्बैकरूपत्वं दर्शयति, नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्ये नभसो गतम्॥ पं०पा० प्रथम वर्णन पृ० 108

3. न च सोऽयं स्थाणुः पुनामेष इतिवत् बाधायां समानाधिकरण्यम्, फलिनोऽसत्त्वेनानि-र्मोक्षपातादित्यर्थः। प्रबोधपरिशोधिनी पंचपादिका व्याख्या, पृ० 108

दोनों रूपों का अतिक्रमण करता है, परन्तु बिम्ब अपने स्वरूपभूत प्रतिबिम्ब का अतिक्रामक नहीं होता।

6. आभास के लिए गुण या प्रकार की आवश्यकता होती है, जबकि प्रतिबिम्ब के लिए द्रव्य की अपेक्षा होती है।

विद्वानों का जीव के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए शोधकर्ता ने अद्वैत चिन्तकों द्वारा जीव के विषय में जो अवधारणाएँ की गई हैं उनके अनुसार मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या की उपाधि से उपहित चैतन्य से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों को इस भाग में संकलित किया गया है। अन्य प्रकार से जीवसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के संकलन का आधार इन बिन्दुओं को बनाया गया है—अल्पज्ञत्व, अविद्यावशत्व, कोशमयत्व, सुखदुःखानु–भवितृत्वादि।

विद्वानों की सामान्य अवधारणाओं को ध्यान में रखते हुए उपनिषदों में उपलब्ध जीव विषयक शब्दों को एकत्र कर क्रमशः इसका अध्ययन किया गया है। वस्तुतः जीव के शीर्षक में ईश्वर सम्मत पारिभाषिक शब्दों को रखा गया है जिसे साक्षी कहा गया है। जीव विषयक शब्दों में अबुध, अनसूरि, अमानव, आर्त, अजानज, अन्यराट्, आत्मयाजी आयतन, कवि गोअश्व, गन्धर्व, कर्मदेव, जीवात्मा, जीव, देव, देवसुषि धीर, धर्म, प्राणायाम इत्यादि शब्दों को लिया गया है।

1.6.1.3 जगत् की सत्ता तथा ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध

ब्रह्म जगत् का कारण है और जगत् ब्रह्म का कार्य है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अविकार्य ब्रह्म का वास्तव में किसी काल विशेष के रूप में परिणाम होता है, किन्तु इसका आशय यही है कि जिस प्रकार कारण के बिना कार्य की सत्ता संभव नहीं उसी प्रकार ब्रह्म के बिना जगत् की सत्ता संभव नहीं। जिस प्रकार कार्य कारण के बीच एक अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है उसी प्रकार जगत् और ब्रह्म के बीच एक अपृथक् सम्बन्ध है। इसमें जगत् के मिथ्यात्व अथवा जगत् और ब्रह्म के एकत्व का कहीं भी संकेत नहीं है। यदि

एक पदार्थ की सत्ता दूसरे पदार्थ की सत्ता पर आश्रित है और उसके बिना पूर्व पदार्थ की सत्ता संभव नहीं तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस कारण पूर्व पदार्थ असत्तावान् होने के अर्थ में मिथ्या है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका अविविक्त भाव रूप में एकत्व है। अस्तु, जगत् सत्य है, यद्यपि ब्रह्म से पृथक् उसकी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती, और यह नहीं कहा जा सकता कि केवल ब्रह्म सत्य है और इसके अतिरिक्त अन्य 'सत्ता' नहीं है। अत: आचार्य शङ्कराभिमत वेदान्त को कठोर 'एकत्ववाद' कहने का कोई समीचीन आधार नहीं है। ब्रह्म से अपृथक् तादात्म्य भाव से जगत् की सत्ता है, अविविक्त एकत्व भाव से नहीं, अत: वेदान्त को एकत्ववाद सिद्ध करने का दूसरा कल्प भी असाध्य हो जाता है।

यहाँ प्रसंगवश यह विचारणीय है कि जगत् के ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्यभाव को 'सम्बन्ध' की संज्ञा भाषा और प्रयोग की सीमाओं के कारण दी गई है। ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्यभाव से जगत् की सत्ता है। इस अपृथक् तादात्म्यभाव को साधारण अर्थ में 'सम्बन्ध' नहीं समझना चाहिए। यह एक असाधारण 'सम्बन्ध' भी नहीं है। वस्तुत: यह कोई और भी सम्बन्ध नहीं, क्योंकि 'सम्बन्ध' केवल एक मर्यादा सूचक पद *(limiting concept)* है। एक पूर्व पक्ष वचन में किन्तु समर्थन के भाव में आचार्य शङ्कर ने मितों के साथ मितों के ही सम्बन्ध की कल्पना को संगत माना है।[1]

इससे यह स्वाभाविक अर्थ निकलता है कि अमित और मित में अथवा दो अमितों में सम्बन्ध की कल्पना असंगत है। ब्रह्म नि:संदेह अमित है, जगत् चाहे मित हो या अमित, ब्रह्म के साथ जगत् सम्बन्ध की कल्पना असंभव अथवा असंगत है। सम्बन्ध का भाव उन्हीं दो पद अथवा पदार्थों के बीच संभव है जो एक दूसरे से विभज्य हों और जिनके बीच द्वैत हो।[2] मित अमित का न प्रतियोगी है और न विरोधी, अत: न अमित से पृथक् मित की कल्पना

---

1. मितानां मितेनैव सम्बन्ध:। ब्र०सू०भा० 3/2/31।
2. सम्बद्धिध्यां भिन्नत्वे सति द्विष्ठत्वे सति विशिष्टबुद्धि नियामकत्वम् (सम्बन्धत्वम्)।

की जा सकती है और न उन दोनों के बीच सम्बन्ध संभव है। दोनों अमितों की कल्पना न्याय की दृष्टिकोण से असंगत है और उनका पृथग्भाव और भी अधिक अन्याय्य है। जगत् और ब्रह्म दो विभज्य पद *(separable terms)* नहीं हैं। क्योंकि ये एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। अतः उनमें सम्बन्ध की कल्पना संभव नहीं। आचार्य शङ्कर ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध (भाषा और प्रयोग की सीमाओं के कारण 'सम्बन्ध' पद अनिवार्य है) की सूचना के लिए जितने पदों का प्रयोग किया है उन सब का तात्पर्य ब्रह्म से जगत् के अपृथग्भाव से है। सनातन रूप से ब्रह्म के साथ अपृथग्भाव से स्थित जगत् का साधारण अर्थ में ब्रह्म के साथ सम्बन्धभाव अकल्पनीय है। वस्तुतः यह कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यदि भाषा और प्रयोग की सीमाओं के कारण सम्बन्ध पद का प्रयोग अनिवार्य ही हो तो हमें इस सम्बन्ध को अन्य साधारण सम्बन्धों से नितान्त भिन्न अर्थ में समझना होगा (इतरसम्बन्धानवच्छिन्नमूलकसम्बन्ध)। इन तात्विक कठिनाइयों के प्रति सतर्क होने के प्रति कारण ही वेदान्त की प्रतिष्ठाओं ने उसे द्वैतवाद अथवा एकत्ववादी की संज्ञा नहीं दी। ब्रह्म के साथ जगत् का अपृथक्तादात्म्य भाव की अपूर्व कल्पना ही वेदान्त की विनम्र अद्वैत संज्ञा का अभिप्राय है।

अध्यास का स्वरूप

शङ्कराचार्य ने अध्यास की परिभाषा **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः** कह कर दी है। इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु में तद्भिन्न वस्तु का मिथ्याभास होना ही अध्यास है। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प का अनुभव अध्यास का ही रूप है। अध्यास ही कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक एवं सम्पूर्ण लोक का विषय है। यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या है।[1]

अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास होता है, इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा विषय नहीं है उसमें विषय और विषय के धर्म का अध्यास किस प्रकार संभव

1. एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोक-प्रत्यक्षः। ब्र०सू०शा०भा०भ० उपोद्घात।

हो सकता है, क्योंकि किसी पुरोवर्ती विषय के ऊपर ही तदितर विषय या उसके धर्मों का आरोप अध्यास कहलाता है। शङ्कराचार्य इस शंका का समाधान कुशलतापूर्वक देते हुए कहते हैं कि प्रथम तो आत्मा अविषय है ही नहीं क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ आदि तो उस समय उक्त प्रकार के विभिन्न ज्ञानों का विषय आत्मा ही होता है। अतः आत्मा की विषयता का सार्वकालिक निषेध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य का कथन है कि इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है जिसके अनुसार पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। उदाहरण के लिए अज्ञानी पुरुष अप्रत्यय आकाश में भी तह्लीनता आदि का अध्यास करता है।[1] अतः यह कहना तर्क संगत नहीं है कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास नहीं हो सकता।

अध्यास के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शंका करते हुए कहता है कि यदि अध्यास-रजत का अधिष्ठान चेतन है तो चेतननिष्ठ रजत का **इदं रजतम्** यह रजत है। इत्याकारक पुरोवर्ती अध्यास किस प्रकार संभव है। वेदान्त परिभाषाकार ने उक्त शंका का बड़ा समीचीन उत्तर देते हुए कहा है कि जिस प्रकार न्यायदर्शन में आत्मनिष्ठ सुखादियों का, ज्ञान शरीर के सुखादियों की अधिकारणता का अवच्छेदक होने से उपलब्ध होता है उसी प्रकार चैतन्यमात्र के सत्य रजत का अधिष्ठान न होने पर भी इदमवच्छिन्न चैतन्य से उसका (रजत का) अधिष्ठान होने से एवं 'इदम्' को उसके रजत का अवच्छेदक होने से अध्यस्त रजत का पुरोदेशवर्ती संसर्गज्ञान संभव है। वेदान्तपरिभाषाकार ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि विषय चैतन्य (इदमवच्छिन्न) के अन्तःकरण उपहित साक्षि-चैतन्य के साथ अभिन्न होने से पुरोवर्तिविषयचैतन्य में भी अध्यस्त रजतादि वस्तुतः साक्षी में ही अध्यस्त है।

अध्यास के विभिन्नरूप

अध्यास के कारण ही जीव, पुत्र-पुत्री की पूर्णता एवं अपूर्णता के होने पर (मैं ही पूर्ण और अपूर्ण हूँ) इस प्रकार अनुभव करके बाह्य पदार्थों के धर्मों

1. ब्र०सू०शा०भा० उपोद्घात।

का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गौर वर्ण हूँ इत्यादि अनुभव करके आत्मा में देह के धर्मो का अध्यास देखा जाता है। इन्द्रिय धर्मों के अध्यास के द्वारा जीव 'मै मूक हूँ' और 'मैं अंधा हूँ' ऐसा अनुभव करता है।[1] इस प्रकार काम, संकल्प, संशय और निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास देखा जाता है। इसके अतिरिक्त मैं इस ज्ञान का उत्पादक, अन्तःकरण का, अन्तःकरण के समस्त वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास होता है और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास होता है।

अज्ञान

अज्ञान शब्द का विग्रह **न ज्ञानमिति अज्ञानम्** के रूप में किया गया है। सामान्यतः नञ् के छह प्रसिद्ध अर्थ हैं।[2] यहाँ अज्ञान शब्द में नञ् विरोध का वाचक है, अभाव का नहीं। इसको स्वीकार करने का कारण है क्योंकि अज्ञान भाव रूप होता है। उसकी प्रतीति 'अहम् अज्ञः' अर्थात् मैं नहीं जानता हूँ के रूप में होती है। अतः अज्ञान की भाव रूप में सत्ता होने से तथा उसका ज्ञान के द्वारा निवर्तन किए जाने से उसे 'ज्ञानविरोधी' कहा जाता है। सदानन्द ने वेदान्तसार में अज्ञान का लक्षण प्रस्तुत किया है।[3] इस परिभाषा में प्रयुक्त विशेषणों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है—

1. अनिर्वचनीय

आचार्य शङ्कर अपने प्रकरण ग्रन्थों में अज्ञान को अनादि और निवर्चनीय कहते हैं—**अनाद्यविद्यानिर्वाच्यकारणोपाधिरुच्यते**[4] परन्तु उन्होंने अपने अध्यास भाष्य में अविद्या या अज्ञान के लिए अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग

---

1. ब्र०सू०, शा०भा० उपोद्घात।
2. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
   अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।
3. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधिभावरूपं यत् किञ्चिदिति। (वेदान्तसार 6)
4. प्रकरणपञ्चकम्, आत्मबोध, श्लो० 14

किया है।[1] वेदान्तसार में अज्ञान को सदसद् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। अज्ञान न सत् है और न असत् है और न सदसद्रूप ही है, अतः इन सभी रूपों से विलक्षण होने के कारण उसे अनिर्वचनीय कहा गया है।

2. त्रिगुणात्मक

अज्ञान को अनिर्वचनीय कहने से यह सम्भावना हो सकती है कि उसे सर्वथा ही न जाना जा सके और सर्वथा अज्ञान रहने से इसके असद्भाव का प्रसंग भी उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार की आशंका का निवारण करने के लिए अज्ञान को त्रिगुणात्मक कहा गया है। यह अज्ञान सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त है, अतः इसे त्रिगुणात्मक कहा गया है। अज्ञान की त्रिगुणात्मकता श्रुति एवं स्मृति वाक्यों के आधार पर सिद्धि की जाती है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्[2]' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता[3]' में माया को गुणमयी कहा जाता है। युक्ति के आधार पर भी अज्ञान को त्रिगुणात्मक सिद्ध किया जा सकता है। चूँकि कार्य में जो गुण देखे जाते हैं वह कारण में विद्यमान होते ही हैं यह साधारण नियम है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाले तेज लोहित, जल में शुक्ल और अन्न (पृथिवी) में कृष्ण गुण विद्यमान हैं।[4] अज्ञान से उत्पन्न विभिन्न कार्यों अर्थात् अग्नि, जल और अन्न में तीन गुणों का वर्णन किया गया है। अतः अब अज्ञानजनित कार्य लोहित, शुक्ल और कृष्ण के रूप में त्रिगुणात्मक हैं, तो उसका कारण अज्ञान भी स्वतः त्रिगुणात्मक सिद्ध हो जाता है।

3. ज्ञानविरोधी

न ज्ञानमित्यज्ञानम् इस प्रकार अज्ञान शब्द का विग्रह किया गया है। यहाँ नञ् शब्द अभावार्थक नहीं है, अपितु विरोधार्थक है। इसलिए अज्ञान के

1. *Kar. Bijayanand, The Theory of Error in Indian Philosophy, p 103*
2. देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् श्वे०उ० 1/3
3. गीता 7/14
4. यदग्नेः लोहितं रूपं तेजस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य। छा०उ० 6/4/1

लक्षण में 'ज्ञानविरोधिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है। रामतीर्थ के अनुसार इसका अर्थ—ज्ञानापनोद्यत्वम्।[1] इसका भाव यह है कि अज्ञान को ज्ञान के द्वारा निवर्तित किया जा सकता है। ज्ञान रूपी सूर्योदय होने पर अज्ञान विलुप्त हो जाता है इस अर्थ को आचार्य सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में प्रतिपादित किया है।[2]

इस प्रकार अज्ञान ब्रह्म-साक्षात्कार में बाधा उपस्थित करता है, अतः ज्ञान विरोधी है। परन्तु श्रवण, मनन आदि साधनों का अनुष्ठान करता हुआ, साधक जब ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है तो अज्ञान निवृत्त हो जाता है, इसलिए ज्ञान को अज्ञान का विरोधी माना गया है। इस प्रकार उभयरूप में उपनिर्दिष्ट 'ज्ञानविरोधी' पद का विग्रहजनित अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है।

4. भावरूपम्

अद्वैत वेदान्त में शङ्कराचार्य ने अज्ञान को भावरूप माना है। अद्वैत सिद्धि के अनुसार अज्ञान को भावरूप कहने का अभिप्राय, उसे अभाव से विलक्षण प्रतिपादित करना।[3] इस निर्दिष्ट विलक्षणत्व का अर्थ है कि यह न सद्रूप है और न असद् तथा उभय रूप भी नहीं है। अपितु सभी रूपों से विलक्षण है। इसकी उत्पत्ति 'अहमज्ञः' तथा 'मयि ज्ञानं नास्ति' के आधार पर की जाती है। अज्ञान की भावरूपता तब तक रहती है जब तक आत्म-साक्षात्कार के द्वारा अज्ञान नष्ट नहीं होता अज्ञान नष्ट होते ही यह भी अस्तित्वहीन हो जाती है।

5. यत्किञ्चित्

वेदान्तसार में अज्ञान को यत्किञ्चित् कहा गया है। टीकाकारों ने इस शब्द की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। 'नृसिंहसरस्वती' का कथन है

---

1. विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० 86
2. सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
   सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्॥ नै०सि० 3/36
3. भावत्वञ्चात्राभावविलक्षणमात्रविवक्षितम् अद्वैतसिद्धि, पृ० 544

कि यद्यपि अज्ञान त्रिगुणात्मक एवं भावरूप है, तथापि उसके विषय में यह ऐसा नहीं है तथा 'यही है' नहीं कहा जा सकता। इसलिए इसे यत्किञ्चित् कहा गया है। इसका अर्थ है 'अघटितघटनापटीयस्' अर्थात् जिससे अघटित घटनाओं से घटित हो जाने की संभावना रहे। यह अज्ञान की विलक्षणता है अनिर्वचनीयता नहीं।[1] यह अज्ञान सद्रूप में, असद्रूप में अथवा उभयरूप से विलक्षण होने से अनिर्वाच्य तथा दिवान्ध के द्वारा परिकल्पित अन्धकार के समान है यही यत्किञ्चित् का अभिप्राय है।

अज्ञान के भेद : समष्टि तथा व्यष्टि

यद्यपि अद्वैत वेदान्त के अनुसार अज्ञान को एक माना जाता है, तथापि समष्टि के अभिप्राय से उसे एक तथा व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है, जैसे अनेक वृक्षों के समूह को वन कह दिया जाता है और जब एक-एक वृक्ष को व्यष्टि रूपों में कहने की इच्छा होती है, तो उन्हें आम, जामुन आदि नामों से अनेक रूप में अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण की उपाधियों से नाना रूपों में प्रतीत हो रहे जीवगत अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार का व्यवहार होता है। वस्तुतः अज्ञान एक है, परन्तु उपाधि भेद से उसके लिए एकत्व और अनेकत्व का व्यवहार होता है।

1. समष्टिरूप अज्ञान

नाना रूप में प्रतिभासित हो रहे जीवगत अज्ञान की समष्टि के अभिप्राय से अज्ञान के एकत्व का प्रतिपादन किया जाता है।[2] वेदान्तसार में समष्टिरूप अज्ञान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अज्ञानगत समष्टि, उत्कृष्ट के कारण विशुद्ध सत्त्वप्रधान होती है।[3] इस उपाधि से चैतन्य को ईश्वर कहा जाता

---

1. त्रिगुणात्मकभावरूपत्वेऽपीदमित्थमेवेति पिण्डीकृत्य प्रदर्शयितुं न शक्यते इत्याह यत्किञ्चदिति। किमत्यघटितघटनापटीय इत्यर्थः। वेदान्तसार, सुबोधिनी, पृ० 8
2. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां .... जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। श्वे०उ० 4/5
3. इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं ..... जगत्कारणमीश्वरः इति च व्यपदिश्यते। वे०सार खण्ड० 7

है, जो जगत् का कारण भी कहलाता है। वेदान्तसार में समष्टिरूप अज्ञान को उत्कृष्टोपाधि से युक्त कहा गया है।

2. व्यष्टिरूप अज्ञान

अज्ञान की सामूहिक रूप से विवक्षा होने पर उसे अज्ञान समष्टि कहा जाता है तथा नाना जीवगत अज्ञान को व्यष्टिरूप में बताने की इच्छा होने पर 'अनेक ज्ञान' इस प्रकार का व्यवहार होता है। अज्ञान का यह व्यष्टिरूप अर्थात् अनेकत्व श्रुतिवचन से अनुमोदित है। ऋग्वेद में वर्णित है[1] कि वह परमेश्वर मायाओं अर्थात् व्यष्टिभूत अज्ञानों के द्वारा अनेक रूपों वाला प्रतीत होता है। सदानन्द के अनुसार[2] यह अज्ञान-व्यष्टि के कारण अथवा अल्पज्ञत्वादि गुणों से युक्त होने के कारण तथा ईश्वर से निकृष्ट बने हुए जीव की उपाधि होने के नाते निकृष्ट उपाधि कही जाती है। यह अज्ञानव्यष्टि मलिन सत्त्वप्रधान होती है, क्योंकि इसमें रहने वाला सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत होने के कारण मलिन हो जाता है।[3]

अज्ञान की दो शक्तियाँ

अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में अज्ञान की आवरण और विक्षेप नाम से दो शक्तियाँ मानी गई हैं। ब्रह्म के स्वरूपप्रकाशस्वरूप होते हुए भी अज्ञान से उसके प्रकाश का तिरोधान कैसे हो जाता है? तथा ब्रह्म जब उदासीन तथा असङ्ग है तो वह आकाशादि प्रपञ्च की क्यों और कैसे रचना करता है? इन दोनों प्रश्नों का समाधान करने के लिए अज्ञान की दो शक्तियों की परिकल्पना की गई है—आवरण एवं विक्षेप शक्ति।

---

1. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋग्वेद 6/47/18
2. इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वमीश्वरत्वादि-गुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते। वेदान्तसार, विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० 93
3. वेदान्तसार खण्ड० 7

1. आवरण शक्ति

सच्चिदानन्द स्वरूपमावृणोत्यावरण शक्तिः[1] अर्थात् यह आत्मा के वास्तविक सत् चित् एवं आनन्द रूप को आवृत्त कर लेने वाली शक्ति है। परन्तु चिद्रूप, प्रकाश स्वरूप अपरिच्छिन्न आत्मा को जड़, परिच्छिन्न एवं अव्यापक ज्ञान के द्वारा कैसे आवृत्त कर लिया जाता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ कहा जाता है कि अज्ञान आत्मा को आवृत्त नहीं करता, वह केवल प्रमाता की बुद्धि को आच्छादित कर लेता है। अज्ञान की तरह यह आवरण शक्ति सीमित होते हुए भी असीम आत्मा को आवृत्त कर लेती है। जैसे कोई अत्यन्त मूढ़ व्यक्ति मेघ से दृष्टि आच्छन्न हो जाने पर सूर्य को मेघ से ढका और निस्तेज समझता है।

अज्ञान की आवरण शक्ति से अवच्छिन्न आत्मा को कर्तृत्व भोक्तृत्व तथा सुखदुःख मोहात्मक तुच्छ सांसारिक भावनाओं का अनुभव होता है। यह अनुभव ऐसा ही है जैसे अन्धकार अज्ञान से आवृत्त हुई रस्सी में सर्पत्व की कल्पना कर लेना।[2] कर्तृत्वादि की यह कल्पना वैसे ही समाप्त हो जाती है जैसे कि प्रकाश के आने पर सर्पत्व की कल्पना विलीन हो जाती है। रस्सी में सर्पत्व की भावना (कल्पना) जैसे अवास्तविक है वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व आदि की भावना मिथ्या है।

जीव आत्मा में कर्तृत्व आदि का जो अभिप्राय है, वह मिथ्या है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार—**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः** अर्थात् परमेश्वर के द्वारा न तो कर्तृत्व आदि भावों की और न कर्मों की सृष्टि की जाती है। ये सभी कर्तृत्व आदि भाव अज्ञान कल्पित हैं, अतः मिथ्या हैं।[3]

---

1. लये केनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरंगके। तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येके यथा पुरा॥ व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात् प्रातिभासिके। तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवसन्ति साक्षिणि॥ वाक्यसुधा 46-47
2. अनयैवारणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्व ...... स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना। वे०सा० खण्ड 10
3. गीता 5/4

विक्षेप शक्ति

आत्मा जब असंग और उदासीन है तो उसे जगत् का कारण कैसे माना जा सकता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए विक्षेप शक्ति का निरूपण किया जाता है।[1] जिस प्रकार रज्जु विषयक अज्ञान अपने द्वारा आवृत्त की गई वस्तु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना कर देता है, उसी प्रकार अज्ञान भी अपने द्वारा आवृत्त की गई वस्तु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना कर देता है, उसी प्रकार अज्ञान भी अपने द्वारा आवृत्त की गई आत्मा में विक्षेप शक्ति से आकाशादि प्रपञ्च की उद्भावना कर देता है। विक्षेप शक्ति का मुख्य कार्य है—सूक्ष्म शरीर से लेकर स्थूल ब्रह्माण्ड तक जगत् की रचना करना।[2] ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त नाम रूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। यह सृष्टि आत्मा में होती है और जलबुद्बुद् की भाँति नश्वर है।[3] अज्ञान आवरण और विक्षेप से सम्पन्न होकर अपने विषय और आश्रय रूप में आत्मा का बल पाकर आत्मा के स्वयम्प्रकाशस्वरूप को आच्छादित कर उसमें ईश्वर, जीव और जगत् की आवृत्ति के रूप में मिथ्याप्रपञ्च की सृष्टि करता है।[4]

जगत् विषययक शब्दों के अन्तर्गत यहाँ माया, अज्ञान, भ्रम, अविद्या, आवर्त, जगत्, इत्यादि शब्दों को रखा गया है। इन शब्दों के अतिरिक्त भी जगत् के अन्तर्गत शब्दों को लिया गया है जिसके लिए द्वितीय अध्याय का तृतीय खण्ड द्रष्टव्य है। यहाँ मुख्य शब्दों के स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है।

सर्वसंसार धर्मशून्यता आत्मा का स्वभाव है, इसका सांसारिक धर्मों से युक्त होना अन्य उपाधि के कारण है, और जिस हेतु से इसका परोपाधिकृत संसारधर्मित्वं है वह अविद्या है।[5] अर्थात् इस अविद्या के कारण ब्रह्म और जीव में भेद उत्पन्न होता है तथा दोनों अलग-अलग प्रतीत होने लगते हैं किन्तु जैसे

---

1. विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्जवज्ञानं ..... तादृशं सामर्थ्यम्। वेदान्तसार, खण्ड 10
2. विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्। वाक्य सुधा
3. ब्रह्मादि स्थावरान्तं जगत् ..... विक्षेप शक्तिः। सुबोधिनी, पृ० 13
4. अच्छाद्य विक्षिपति ..... दात्मत्वमात्र विषयाश्रयता बलेन। संक्षेपशारीरक 1/20
5. बृ०उ०शा०भा० 4/3/9

ही अविद्या की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है ब्रह्म और जीव की एकता प्रकट हो जाती है इस प्रकार आत्मा से जो भी भिन्न वस्तु है वह अविद्या है। इसी प्रकार सभी जगत् विषयक शब्दों को वर्णक्रम में रखकर अध्ययन किया गया है।

1.6.2 ज्ञानमीमांसीय पारिभाषिक शब्द

अद्वैत वेदान्त में ज्ञानमीमांसा साक्षिज्ञान एवं वृत्तिज्ञान इन दो ज्ञानों अथवा प्रमाणमीमांसीय पर आधारित है। साक्षिज्ञान आत्मा का स्वरूप होता है। अद्वैत की आत्मा चैतन्य या ज्ञान स्वरूप ही है। किन्तु ज्ञान को इस अर्थ में लेने पर कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि इस प्रकार से 'ज्ञान उत्पन्न हुआ', 'ज्ञान सीखा' ये व्यंजनाएँ अर्थहीन हो जाएँगी, क्योंकि आत्म चैतन्य नित्य व अपरिवर्तनीय तत्त्व है, वह न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट और न ही तिरोहित। अर्थात् वे त्रिकालाबाधित है। दूसरी ओर जो ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उत्पन्न होता है वह 'वृत्तिज्ञान' है। अद्वैत वेदान्ती छह प्रमाण मानते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। ये सारे प्रमाण वृत्तिज्ञान को उत्पन्न करते हैं।

साक्षिज्ञान जहाँ सुषुप्ति में भी बना रहता है अर्थात् वह नित्य, अखण्ड एवं निर्विकार है। वहीं वृत्तिज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

'वेदान्तपरिभाषा' के अनुसार चैतन्य तीन प्रकार का होता है अर्थात् 'प्रमातृचैतन्य', 'प्रमाणचैतन्य' और 'विषयचैतन्य'। अन्त:करण की उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमातृचैतन्य' है, अन्त:करण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमाणचैतन्य' है और ज्ञान के विषय से अवच्छिन्न चैतन्य (अर्थात् वह चैतन्य जिसमें विषय का अध्यास हो रहा है) 'विषयचैतन्य' है।

भारतीय दार्शनिकों की यह सामान्य धारणा है कि बाह्य विषय के ज्ञान की स्थिति में अन्त:करण की वृत्ति बाहर जाकर दृश्य वस्तु से सम्पर्क करती है। यहाँ वृत्ति शब्द का अर्थ है अन्त:करण का परिणाम विशेष। उदाहरण के लिए, चाक्षुष प्रत्यक्ष में तैजस अन्त:करण आँख के माध्यम से निकलकर घट

आदि ज्ञान के विषय तक पहुँचता है और उसका आकार धारण कर लेता है। इस प्रकार 'विषय के आकार के रूप में परिणत हुआ अन्तःकरण वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष की अपेक्षा करती है, इस अन्तःकरण की वृत्ति को उपचारवश ज्ञान कहते हैं।'

अन्तःकरण वृत्ति के अतिरिक्त भी परिणाम होते हैं, सुख-दुःख आदि ऐसे ही परिणाम हैं। सुख-दुःख का ज्ञान भी वृत्तियों द्वारा होता है, परन्तु उसके ज्ञान में वृत्ति को 'बाहर' नहीं जाना पड़ता। सुख-दुःख का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, इसलिए इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक नहीं माना गया। न्याय के मत में प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है, उस दर्शन में मन को भी इन्द्रिय माना गया है। अद्वैत मत में मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण के ही नाम हैं जो उसके विभिन्न कार्यों को प्रकट करते हैं। विवरणप्रस्थान के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय नहीं है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हो और मन को इन्द्रिय माना जाए तो अनुमिति ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो जाएगा। वृत्ति का विषयाकार हो जाना ही प्रत्यक्ष का हेतु है। वेदान्त का निश्चित सिद्धान्त है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता, मिथ्या ज्ञान का भी 'विषय' होता है। प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की सत्ता अवश्य होती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि ज्ञेय वस्तु का इन्द्रिय से ही ग्रहण हो। जीव का अपना स्वयं प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इसी कारण 'अहं प्रत्यक्ष' को इन्द्रियों का विषय नहीं कह सकते। स्वप्नदशा में केवल सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है और स्थूल शरीर से संयोग छूट जाता है। यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या स्वप्न प्रत्यक्ष में भी ज्ञेय वस्तुओं की सत्ता होती है? यह सुनकर आश्चर्य होगा कि वेदान्त का उत्तर स्वीकारात्मक है। सुषुप्ति दशा में सूक्ष्म शरीर का भी साथ छूट जाता है और कारण शरीर मात्र रह जाता है, कारण शरीर से अभिप्राय साक्षी की अज्ञानोपाधि से है। सुषुप्ति दशा में सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग-शरीर अविद्या में लय हो जाता है। साक्षी चैतन्य का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होना ही जीव की सत्ता का हेतु है। सुषुप्ति अवस्था में वस्तुतः जीव की, जो कर्त्ता और भोक्ता है, सत्ता नहीं रहती। उपनिषद् में लिखा है कि सब प्राणी प्रतिदिन ब्रह्म से सम्पन्न होते हैं पर उसे जानते नहीं। सुषुप्ति में मनुष्य को ही नहीं बल्कि हर प्राणी को, ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है

(समाधिसुषुप्तिमुक्तिषु ब्रह्मरूपता) अन्तःकरण के निष्क्रिय हो जाने के कारण सुषुप्ति में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता।

1.6.2.1 प्रमा की परिभाषा

प्रमा का शाब्दिक अर्थ है प्रमाणें से उत्पन्न अर्थात् यथार्थ ज्ञान। अद्वैत वेदान्त में एक प्रकार से ब्रह्म का ज्ञान ही प्रमा है। किन्तु दूसरी दृष्टि में व्यावहारिक सत्य में भी प्रमा और अप्रमा का भेद किया जाता है। प्रमा के कारण या असाधारण कारण को प्रमाण कहते हैं। यहाँ प्रमाण की परिभाषा प्रमा से सम्बद्ध कर दी गई है। प्रमा के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्ती का मत मीमांसकों से मिलता जुलता है। मीमांसकों के अनुसार ही ये भी स्मृतिज्ञान को प्रमा नहीं मानते, इसलिए प्रमा स्मृति से भिन्न है। प्रमा की परिभाषा—अनधिगत (अज्ञात, पहले से न जाने हुए), अबाधित अर्थविषयक ज्ञान प्रमा है। जिस ज्ञान का विषय दूसरे ज्ञान से बाधित हो जाता है वह ज्ञान प्रमा नहीं है—वह अप्रमा है। उदाहरण के लिए, रज्जु में सर्प का ज्ञान बाद में रज्जु ज्ञान से बाधित हो जाता है, इसलिए रज्जु में सर्प का ज्ञान अप्रमा है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सर्पज्ञान का विषय बाद में रज्जुज्ञान होने पर बाधित हो जाता है। जो बाद के ज्ञान से बाधित होता है वह अतात्विक या मिथ्या है। शङ्कराचार्य कहते हैं—

सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।
यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते।
अतो विकारोऽनृतम्।[1]

एकरूपेण ह्यवस्थितोऽर्थः परमार्थः लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति।[2]

अर्थात् जिस पदार्थ का जिस रूप से निश्चय किया गया है उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है। जिसका जो रूप निश्चित

1. तै०उ०भा० 2/1
2. ब्र०सू०शा०भा० 2/1/11

है अगर उससे वह बदलता है तो वह अनृत हो जाता है। अत: विकार अनृत होता है।

अद्वैत मत में ब्रह्म या आत्मा ही पदार्थ है जो सदैव एकरूप रहता है। वही तात्विक है और उसका ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म कूटस्थ नित्य है, वह विकारी या परिणामी नहीं है। जिसमें विकार या परिणाम होता है, जैसे सांख्य की प्रकृति में, वह वास्तविक अर्थ में नित्य नहीं है, वह पारमार्थिक सत् या परमार्थ रूप में तात्विक भी नहीं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत्त्व पदार्थ नित्य, परिणामी और विकारहित है, उसका ज्ञान ही वास्तविक अर्थ में प्रमा है। विकारी वास्तव में तात्त्विक नहीं भ्रान्ति ज्ञान का विषय रज्जु–सर्पवाद के ज्ञान से बाधित होता है इसलिए रज्जु–सर्प को मिथ्या कहते हैं।

1.6.2.2 प्रत्यक्षप्रमाण

प्रत्यक्षप्रमा का कारण प्रमाण है। प्रमा वृत्ति विशिष्ट चैतन्य है, प्रमाण भी वृत्ति विशिष्टि चैतन्य ही है। वृत्ति का अर्थ है अन्त:करण का विषयज्ञानुकूल परिणाम। उस परिणत अन्त:करण के ही तीन अंशों से अवच्छिन्न होने के नाते चैतन्य के भी तीन रूप व्यवहार की सिद्धि के लिए मानने पड़ते हैं, वे तीन हैं—

1. देह में स्थित अन्त:करण भाग।
2. देह से निकलकर विषय तक गया हुआ अन्त:करण भाग। तथा
3. विषय को व्याप्त किया हुआ अन्त:करण भाग।

व्यापक रूप से ये तीनों ही वृत्ति पदार्थ हैं, तब भी इनमें से द्वितीय को क्रिया या करण रूप मानते हुए 'वृत्ति' नाम दिया जाता है। प्रथम को कर्त्ता या तृतीय को कर्म। इन तीनों से अवच्छिन्न चैतन्य क्रमश:।

1. प्रमातृचैतन्य
2. प्रमाणचैतन्य

3. प्रमेयचैतन्य

कहलाता है। अतः ज्ञाता व ज्ञेय के मध्यस्थ दोनों आवरणों का भङ्ग करना तथा दोनों चैतन्यों के अभेद को अभिव्यक्त करना ही करण वृत्ति का 'विशेष' है जो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण बनाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है, सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक ज्ञान वैशिष्ट्य का अवगाहन करने वाला ज्ञान होता है। वैशिष्ट्य का अर्थ सम्बन्धमूलक विशेषता। घट के सविकल्पक ज्ञान का अर्थ है घट को उसके अनुयोगी अथवा प्रतियोगी से सम्बद्ध करके जानना। घट का प्रतियोगी घटाभाव है, घट अपने अभाव का अनुयोगी है। इस प्रकार सविकल्पकज्ञान सम्बन्धमूलक होता है। सम्बन्ध या संसर्ग की अवगति से शून्य ज्ञान अर्थात् वस्तु के स्वरूपमात्र का ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है।

अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि वाक्य या शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। पूर्व वर्णित है कि विषय की प्रत्यक्षता का अर्थ विषय-चैतन्य की प्रमातृ-चैतन्य अथवा (प्रमाण-चैतन्य) से अभिन्नता है। 'वही देवदत्त है' यह वाक्य देवदत्त का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कराता है। यहाँ चूँकि ज्ञान का विषय निकट है, इसलिए माना जाता है कि अन्तःकरण की वृत्ति बाहर जाती है। इस प्रकार वेदान्त विषय से अवच्छिन्न चैतन्य उस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है और इस प्रकार देवदत्त का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ ज्ञान का विषय प्रमाता स्वयं होता है। इसलिए विषय चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य की अभिन्नता घटित हो जाती है। यही 'तत्त्वमसि' आदि का अखण्डार्थत्व है। ये वाक्य आत्मतत्त्व का संसर्गानवगाही (अर्थात् सम्बन्ध-विरहित, स्वरूपावगाही) यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।

1.6.2.3 अनुमान प्रमाण

अनुमान की उत्पत्ति व्याप्तिज्ञान के द्वारा होती है जो कि इसका निमित्तकारण है। जब इस प्रकार का ज्ञान होता है कि व्याप्यपद के अन्दर गुण

उपस्थित है जैसे 'पर्वत धुएँ वाला है' इस वाक्य में पूर्व प्रत्यक्ष मानस पटल पर विद्यमान रहता है कि धुआँ बराबर अनिवार्य रूप से आग के साथ रहता है परिणाम यह होता है कि अनुमानत: यह ज्ञान हो जाता है कि 'पर्वत पर आग है।' व्याप्ति की परिभाषा यह है कि यह हेतु तथा साध्य के मध्य निरंतर साहचर्य रूप से रहने वाला सम्पर्क है जो हेतु के समस्त आधारों अर्थात् पक्षपद (लघुपद) में विद्यमान रहता है। इसकी प्राप्ति साध्य पद और हेतुपद के साहचर्य के पाए जाने तथा इनके पार्थक्य के कभी न पाए जाने से होती है।[1]

निश्चित दृष्टान्त हमें व्याप्ति की ओर ले जाती है और व्याप्ति का समर्थन अभावात्मक साक्षी के द्वारा होता है। अद्वैत सिद्धान्तों के अनुसार यथार्थ अर्थों में अनुमान का आधार एक ऐसा साहचर्य है जिसका प्रकाश इस प्रकार के निश्चयात्मक कथन के द्वारा होता है, जैसे इस कथन में कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है। साहचर्य के ज्ञान का एक कथन अभावात्मक व्याप्ति में, 'जहाँ कहीं आग नहीं होती वहाँ धुआँ भी नहीं रहता' हमें अर्थापत्ति अथवा संकेतात्मक तर्क की ओर ले जाता है। वस्तुत: केवल अभाव नाम की कोई वस्तु नहीं और सब निश्चयात्मक वस्तुओं में कुछ न कुछ अभावात्मक अंश विद्यमान रहता है। नितांत निश्चयात्मक सम्बन्धों को (केवलान्वयी) जहाँ पर कि हेतु (मध्यपद) तथा साव्यपक्षपद अनिवार्य रूप से प्रत्येक पक्ष पद में एक साथ पाए जाते हैं और कभी भी अनुपस्थित नहीं पाए जाते, जैसे इस कथन में क्योंकि यह जाना जा सकता है इसलिए इसे नाम भी दिया जा सकता है। कभी साध्यपक्ष नहीं स्वीकार किया जाता क्योंकि उनके विषय में विपक्षी दृष्टान्तों का अभाव है। इसके अतिरिक्त क्योंकि प्रत्येक गुण अपने अभाव के विपरीत पदार्थ है और सब गुण अभाव ब्रह्म की परम यथार्थ सत्ता के अन्दर निहित है, जो ब्रह्म के गुणों से सर्वथा रहित है, इसलिए ऐसा कोई केवल निश्चयात्मक गुण ब्रह्म के विषय में हो ही नहीं सकता। और क्योंकि ब्रह्म समस्त भेदों का निरंतर रहने वाला आधार है इसलिए सब वस्तुओं के अभाव का भी अस्तित्व है। बराबर तर्क रूप से यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है।

1. वेदान्त परिभाषा / 2 — स च व्यभिचाराज्ञाने सति सहचारदर्शने गृह्यते।

अद्वैत स्वीकार करता है कि स्वार्थ के लिए अनुमान किया जाता है। उसमें और पदार्थ के लिए किए गए अनुमान में परस्पर भेद है। पदार्थ अनुमान के तीन अवयव होते हैं अर्थात् साध्यपन्दा, हेतु और दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त उसका विनियोग और निर्णय।

1.6.2.4 उपमान प्रमाण

सादृश्य-ज्ञान का साधन उपमान प्रमाण है। अमुक वस्तु अमुक के सदृश है इस प्रकार से दो वस्तुओं की सदृशता या एक वस्तु में स्थित दूसरी वस्तु के सादृश्य का आकलन (अवश्य ही तुल्य रीति से किसी वस्तुओं के वैधर्म्य या विलक्षणता का भी आकलन) जिस अन्तःकरण वृत्ति से होता है उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। इसे अवश्य ही प्रत्यक्ष अनुमान आदि से पृथक् करना पड़ता है क्योंकि उनमें से किसी में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष वर्तमान काल के ही स्थूल-सूक्ष्म विषय से इन्द्रिय सन्निकर्ष होकर उदित हुए विषयाकार मनः परिणाम को कहा गया है तथा व्याप्तिज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाले अप्रस्तुत इन्द्रियासन्निकृष्ट वस्तु के ज्ञान को अनुमिति कहा है। दृश्यमान वस्तु से भिन्न ही किसी वस्तु की इस वस्तु से तुलना कर पाने का इन दोनों में ही कोई अवकाश नहीं। जितना सा जो कुछ सामने स्थित है या प्राप्त है, उसे ही प्रकाशित करना भर प्रत्यक्ष प्रमाण का कार्य है। इस प्रकाशित या ज्ञात होती हुई वस्तु की किसी अन्य वस्तु से सम्बद्ध तुलनात्मक (साधर्म्य या वैधर्म्यरूपा) विशेषता किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकती और अनुमान की परिस्थिति ही सर्वथा भिन्न है, अतः इन दोनों से पृथक् ही एक ऐसा प्रमाण मानना अनिवार्य है जो सादृश्य नाम की वस्तु को विषय बना सके, उसके ज्ञान का साधन बन सके वही उपमान है।

वेदान्त में सादृश्य ज्ञान उपमिति है, उसका कारण उपमान है। नगर में या घर में जिसने गौ देखी है, ऐसा व्यक्ति जंगल में कदाचित् नीलगाय को देखता है इस नए पशु से इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उसे पहले प्रतीति होती है कि यह शरीर गौ के समान है, फिर प्रतीति होती है कि मेरी गौ इस पशु के समान

है। इसमें पहली प्रतीति गवयनिष्ठ गोसादृश्य करण है दूसरी गोनिष्ठ गवयसादृश्य फल है।[1]

1.6.2.5 अर्थापत्तिप्रमाण

अद्वैत वेदान्त में प्रमाण-प्रमेय आदि समस्त व्यावहारिक पक्ष भाट्टमीमांसकों का अनुसरण करता है। अत: वेदान्त में भी भाट्टरीति से ही पञ्चम प्रमा व उसके करण का निरूपण हुआ है तथा प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि में अनुमान का प्रबल सहायक बना है या पञ्चम प्रमाण है। सिद्धान्तत: इसका स्वरूप है—उपपाद्य के ज्ञान द्वारा उपपादक की कल्पना (ज्ञान) तथा इसे संज्ञा दी गई है अर्थापत्ति।[2] यह संज्ञा इस ज्ञान विधा के करण रूप तथा फल रूप दोनों की बोधक है, अपने व्युत्पादक प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से अर्थस्य (उपपादकस्य) आपत्ति: इस षष्ठीतत्पुरुष से अर्थापत्ति-प्रमा कही जाती है तथा अर्थस्य आपत्ति: यस्मात् तत् ऐसे बहुब्रीहि समास द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है।

यथा हम यह देखते हैं कि सामान्य व्यक्ति अच्छा हृष्ट-पुष्ट दिखाई देता है जबकि वह दिन में कुछ भोजन नहीं करता इतना तो हमारे अनुभव सिद्ध हैं कि भोजन ही शारीरिक पुष्टि का कारण है यहाँ देखा जाता है कि शारीरिक पुष्टि तो है किन्तु दिन भर भोजन नहीं करता अत: इस हृष्ट-पुष्टता को देखकर हम अनुमान के आधार पर जब कहते हैं कि यह निश्चित रूप से रात में भोजन करता होगा इस प्रकार के प्रमाण को अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है।

किसी के बिना जो अनुपपाय हो वह उपपाद्य होता है अर्थात् जिसे किसी ऐसी वस्तु की अपेक्षा हो जो इसकी असमञ्जसता दूर कर सके वह उपपाद्य होता है। तथा जिसके अभाव में कुछ अनुपन्न है।

---

1. सादृश्यप्रमाणम् उपमानम्। तथाहि—नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीति: अयं पिण्डो गोसदृश इति, तदनन्तरं च भवति अनेन सदृशी मदीया गौरिति। तंत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवनिष्ठ गोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यमानं फलम्। वे०प० पृ० 176-77
2. उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्ति:। वे०प० पृ० 236

अर्थात् अनुपपत्ति हटने में जिसकी अपेक्षा है वह उपपादक होता है जैसे दिन में न खाने वाले का अति हृष्ट-पुष्ट रहना अनुपपन्न है रात्रिभोजन के बिना तो यह पुष्टि उपपाद्य है, और इस पुष्टि की अनुपपत्ति हटने के लिए अपेक्षा है रात्रिभोजन की, तो वही उपपादन है। उपपाद्य का ज्ञान करण बनता है और उपपादक का ज्ञान फल होता है। पूर्वोक्त रीति से ये दोनों अर्थापत्ति शब्द के अर्थ हैं। रात्रिभोजन ही उपपादन अर्थ की आपत्ति रूप प्रमिति है।[1] अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—

दृष्टार्थापत्ति

सा च अर्थापत्तिः द्विविधा दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र दृष्टार्थापत्तिः यथा, इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयति।[2]

श्रुतार्थापत्ति

श्रुतार्थापत्तिः यथा श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेन अर्थान्तरकल्पनम्, यथा तरति शोकमात्मविदति। अत्र श्रुतस्य शोक-शब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्य तस्य अन्यथानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते।[3]

---

1. येन विना यद् अनुपपन्नं तत् तत्र उपपाद्यम्। यस्य अभावे यस्य अनुपपत्तिः तत् तत्र उपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वम् उपपाद्यम्। यथा वा रात्रिभोजनस्य अभावे तादृशीपीनस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्। रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितौ अर्थस्यापत्तिः कल्पनेति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्तत, कल्पनाकरण पीनत्वादिज्ञाने तु अर्थस्यापत्ति, कल्पना यस्मादिति बहुब्रीहिसमासेन वर्तते इति फलकरणयोः उभयोः तत् पदप्रयोगः। वही 236-38
2. वही 238-39
3. वही 39

अत: दिन में न खाने वाले पुरुष की पुष्टि का अभाव रात्रि–भोजन का व्यापक है। ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व पीनत्व होना ही उस (पीनत्व) की अनुपपत्ति है वही उपपाद्यज्ञान है।

1.6.2.6 अनुपलब्धि प्रमाण

उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं। यह अनुपलब्धि प्रमाण वहाँ कार्य करता है, जहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो रही हो। यह अनुपलब्धि नाम का छठा प्रमाण है, इस प्रमाण के माध्यम से घट–पट आदि का ज्ञान होता है। घट–पटादि के अभाव के ज्ञान, इन्द्रिय व्यापार के बिना भी होता है। क्योंकि अभाव कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क हो सके। घट–पट आदि का तो चक्षुरिन्द्रिय के साथ संयोग हो सकता है, उनके अभाव का नहीं इसलिए अद्वैतवेदान्ती मीमांसकों की तरह ही कहते हैं कि घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि के कारण होता है। अत: अनुपलब्धि का अन्तर्भाव तभी हो सकता है, जब अनुपलब्धि अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान हो। यदि अनुपलब्धि अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध मान लें तो अतिशय उपस्थित होगा। आप्त वाक्य के न होने से शब्द–प्रमाण में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता और सादृश्य ज्ञान के न होने की स्थिति में उपमान में भी नहीं रखा जा सकता। इसलिए भाट्ट और वेदान्ती अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप सें स्वीकार करते हैं, जिससे 'अभाव' की प्रमिति (ज्ञान) हो पाती है। इस अनुपलब्धि को 'योग्यानुपलब्धि' समझना चाहिए। अनुपलब्धि मात्र से अभाव नहीं माना जाता। गहरे अन्धकार में वस्तु होती हुई भी दिखाई नहीं पड़ता। पाप, पुण्य परमाणु आदि वस्तुएँ नहीं दीख पड़ती, तथापि उनका अभाव महीं माना जाता। जिस वस्तु की जिस परिस्थिति में उपलब्धि होनी चाहिए, उस परिस्थिति में उसकी उपलब्धि न होने से ही उसका अभाव माना जाता है। अत: अभाव–प्रमिति में करण (साधन) योग्यानुपलब्धि को ही समझना चाहिए। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती ने अनुपलब्धि को अलग से प्रमाण माना है तथा इसका भरपूर प्रयोग आत्म तत्त्व के विवेचन में उपनिषदों में किया है।[1]

1. यन्नोपलभ्यते तस्यै नास्तिता। बृ. उ. शा. भा. 1/2/1

1.6.2.7 शब्द प्रमाण

शब्द को सुनकर (या उसकी संकेतरूपा अक्षरकाया को देखकर) उसके अर्थ का ज्ञान होना जन्य ज्ञानों की प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि कोटियों से सर्वथा पृथक् है। यथार्थ ज्ञान के विविध साधनों में शब्द भी अन्यतम अवश्य है अतः यह प्रमाणों में भी अन्यतम है। श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का ध्वनि रूप से ही ग्रहण होता है। किसी अर्थ के प्रत्यायक ध्वनि-संघटन विशेष रूप से नहीं। ध्वनियों की आनुपूर्वी के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को समझना अथवा किसी अज्ञात वस्तु या तथ्य को जान लेना-अन्य सभी ज्ञान-विधाओं से विलक्षण है।

साथ ही वेदान्त में इसी (शब्दप्रमाण) का महत्त्व अधिक है, क्योंकि अन्य किसी भी प्रमाण से जानी न जा सकने वाली (यत्तदत्रेश्यमग्राह्यं......... यन्मनसा न मनुते........, येन सर्वमिदं विदितं भवति तं केन विजानीयात्) वस्तु (ब्रह्म)-जो कि वेदान्त की एकमात्र प्रतिपाद्य है, तथा चिन्तक-चिन्तन-चिन्त्य सभी कुछ का मूलभूत है, इसी एक प्रमाण से जानी जाती है। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसा क्यों ? इसका उत्तर है कि तत्त्वजिज्ञासु ने नाना प्रपञ्च-विलास में एक स्वर का विविध प्रस्तार देखा, जगत् को एक पट पर अंकित नानात्मक चित्र समझा, स्वयं को भी उस चित्र की ही एक रेखारूप समझा। उस एक तत्त्व को जानने से सभी कुछ जाना जाएगा, ऐसी घोषणा भी सुनी, किन्तु साथ ही 'यो बुद्धेःपरतस्तु सः' इत्यादि से उसका अज्ञेय होना भी सामने आया। उसे वैसी जानकर बाहर लौट आना चाहा तो **नो चेदवेदीन्महती विनष्टिः** इस अर्गला से द्वार रुद्ध मिला और उसी स्थिति में बारम्बार-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योः ......निदिध्यासितव्य** इत्यादि ने चिन्तक को विवश किया कोई उपाय (उप+इण्+घञ्=समीप पहुँचाने वाला) खोजने के लिए। तब समस्त सृष्टि में से वाक् तत्व ही एक ऐसा सूत्र जान पड़ा जो ब्रह्म की ही भाँति निखिल 'व्यवहार' का मूल है एवं स्वरूपतः (व्यावहारिक दृष्टि से) ब्रह्म के सर्वाधिक सदृश है, निकटतम है, एवं जिसे ब्रह्म से अभिन्न ही कहने अथवा ब्रह्म-पर्याय समझने से भी सिद्धान्त-क्षति नहीं होती। वैयाकरण दार्शनिकों ने शब्दब्रह्म को ही मूल तत्त्व माना, मण्डन मिश्र तथा तदनुयायी वेदान्तियों

ने भी ब्रह्म को परमा वाक् रूप तथा जगत् को वाग्विवर्त कहा तथा तत्त्व प्रेप्सु के प्रति श्रुति भी प्रकट हुई–**शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति**[1] इस कारण वाक् तत्त्व को ब्रह्माधिगम के लिए सर्वप्रमुख आलम्बन समझा गया। इसलिए वाक्तत्त्व के लौकिक–पारमार्थिक दोनों रूपों का विश्लेषण समेटे हुए शब्द प्रमाण का वेदान्त में सर्वाधिक महत्त्व है।

उपनषिदों के शाङ्कर भाष्य में उपलब्ध प्रमाणमीमांसा से संबंधित शब्दों का अध्ययन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। इस अध्याय में क्रमशः अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार एवं वृत्तिज्ञान का विवेचन करने के उपरांत सभी छः प्रमाणों का विवेचन किया गया है।

1.6.3 आचारमीमांसा

मोक्ष आत्मा का नित्य स्वरूप है और कोई उत्पाद्य पदार्थ अथवा घटना नहीं है। अज्ञान के कारण इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता जैसे ही यह अविद्यारूपी आवरण ज्ञान एवं लौकिक व्यवहार (आचरण) के द्वारा दूर हो जाता है, इसका स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त में मोक्ष–प्राप्ति का साधन व्यावहारिक आचरण ही है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष जीवन का परमार्थ है। आत्मानुभव ही मोक्ष है। आत्मा समस्त अनुभव और कर्म का आधारभूत अध्यात्म तत्त्व है, अतः अन्य ज्ञान साधनों द्वारा यह ज्ञेय नहीं और न ही वह कर्म द्वारा साध्य है। हमारा अन्तरतम तत्त्व होने के कारण न यह हेय है और न उपादेय।[2] प्रो. राधाकृष्णन के शब्दों में यह तथ्य है फिर भी प्रत्यक्षसाध्य है, एक नित्य अधिकार है, फिर भी एक समस्या है।[3] श्री शङ्कराचार्य का कथन है कि आत्मज्ञान हमें स्वतः अनायास प्राप्त नहीं हो जाएगा।[4] इसकी सिद्धि के लिए महान् यत्न की आवश्यकता है।[5] इन यत्नों में श्रुति को मोक्ष का प्रधान मूल

---

1. ब्र. वि. 7
2. आत्मत्वादेव सर्वेषां हेयो न उपादेयः। ब्र.सू.भा. 1/1/4
3. *Indian Philosophy Vol. l, p 209*
4. अतोऽयत्नतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम्।
5. तस्मात्तल्लाभे महान् यत्न आस्थेयः। बृ.भा. 1/4/8

साधन माना गया है। आचार्य शङ्कर ने अनेक स्थलों पर कहा है कि सत्य केवल श्रुति से ही जाना सकता है।[1] अध्यात्मज्ञान की भण्डार–रूपा श्रुति भाषा, अर्थ और स्वर की कठिन प्रणाली पर निर्मित होने के कारण किसी सिद्ध आचार्य की कृपा के बिना, जिसने किसी प्राचीन गुरु–परम्परा से श्रुति किया हो गम्य नहीं थी, अतः वेदान्त साधना में गुरु ने बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। वेद के उत्तरभाग उपनिषदों में निहित ज्ञान तत्त्व एक ब्रह्मज्ञानी गुरु के बिना, जिसने स्वयं सत्य का साक्षात् अनुभव किया हो, दुर्गम हो गया तो गुरु का स्थान और भी बढ़ गया। सत्य एक सजीव अनुभव है, ग्रन्थों से प्राप्त पाण्डित्य नहीं। ग्रन्थों में सत्य निहित है किन्तु वे सत्य की आत्मा से हमारा दर्शन नहीं करा सकते। श्रुति हमें प्रकाश दे सकती है किन्तु दृष्टि दान नहीं कर सकती। आचार्य भी गौ के सींग को पकड़कर गो–दर्शन की भाँति आत्मदर्शन नहीं करा सकते,जैसा कि उषस्ति चाक्रायण चाहते थे। एक सच्चे विद्यार्थी को ब्रह्मज्ञानी गुरु के सजीव आध्यात्मिक सम्पर्क में आत्म–ज्ञान की प्राप्ति का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन मिल सकता है।

1.6.3.1 साधन चतुष्टय

श्रुति और आचार्य, यद्यपि एक में सत्य निहित है तथा दूसरे को इसका साक्षात्कार प्राप्त है, सत्य को साधकर साक्षात् अनुभव का रूप देने के लिए पर्याप्त नहीं। जिसमें स्वयं अग्नि–ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है उस पदार्थ को अग्नि कितनी ही तीव्र होकर भी दीप्त नहीं कर सकती। साधक में स्वयं आत्मानुभव की सामर्थ्य उत्पन्न होनी चाहिए। ब्रह्म समस्त भूतों की आत्मा है। अतः ब्रह्मप्राप्ति की अन्तर्निहित संभावना सभी में रहती है। किन्तु हमारे भौतिक व्यक्तित्व की सीमाओं ने हमारी आत्मा के सत्य को आवृत कर रखा है। अतः नैतिक साधना द्वारा भौतिक साधना को विजित करना है जिससे सत्य अपनी महिमा में प्रकाशित हो सके। नैतिक साधना द्वारा अध्यात्म ज्ञान की ओर कुछ अभिरुचि बनने पर भी श्रुति और आचार्य उपयोगी हो सकते हैं। आचार्य शङ्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ में नैतिक साधन 'चतुष्टय' को तत्त्वज्ञान के अधिकारी के लिए आवश्यक बतलाया है।

---

1. केवल शास्त्राचार्योपदेशगम्यम्। छा.भा. 6/1/2

1. नित्यानित्यवस्तुविवेक—नैतिक साधना का प्रथम चरण है जब तक मनुष्य लौकिकता की मृगतृष्णा में ही व्यस्त रहता है तब तक उसे न तो इस परिवर्तनशील व्यवहारलोक के अन्तर्भूत किसी स्थायी तत्त्व का बोध होता है और न ही उसे प्राप्त करने की आकांक्षा। किन्तु इस नित्यानित्य वस्तुविवेक का तात्पर्य नित्य-अनित्य की भेद की पूर्णता तथा नित्य का पूर्ण ज्ञान नहीं। वह तो आध्यात्मिक साधना के अन्त में ही संभव है। आरंभ में साधक को उसकी आशा करना अन्याय है।

2. नित्यानित्यवस्तुविवेक की ही सामान्य आध्यात्मिक अभिरुचि साधक के मन में स्वाभाविक रूप से नित्य के ज्ञान तथा लाभ की आकांक्षा उत्पन्न करेगी तथा उसके परिणाम स्वरूप अनित्य से विराग की ओर प्रवृत्त करेगी। इहलोक एवं परलोक में प्राप्त होने वाले सभी भौतिक पदार्थ अनित्य हैं। क्षण में नष्ट होकर अपनी क्षणभंगुरता के कारण एक क्षोभ-सा छोड़ जाते हैं। देवलोक की स्थिति पुण्य क्षय होने तक ही है। पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्य लोक में आना होता है।[1] पुण्य कर्म से प्राप्त अमृतत्त्व भी सापेक्ष है। यह एक दीर्घकालीन स्थिति है किन्तु प्रलय के साथ इस अमृतत्त्व का भी अन्त हो जाता है।[2] अमृतत्त्व की कामना नित्य अमृत आत्मा की प्राप्ति में ही शान्त हो सकती है। जिसके लिए इहलोक और परलोक में प्राप्य फल-भोग का त्याग आवश्यक है। जो वेदान्त सम्बन्धी साधना का दूसरा अवस्थान है।

3. कर्म फलानुराग बड़ी चिन्ता और व्यग्रता का कारण है तथा समस्त अनर्थों का मूल है, अतः 'इहामुत्रभोग-विराग' से शान्ति तथा अन्य गुणों की प्राप्ति होती है जो आत्म-सिद्धि में बड़े सहायक हो सकते हैं। अस्तु, साधना का तीसरा चरण शमदमादि

---

1. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गी० 9/21
2. आभूतसम्प्लवस्थानममृतत्वमिहोच्यते। विष्णुपुराण 29/17

षट्साधन-सम्पत्ति की प्राप्ति है। यहाँ भी इसका तात्पर्य यह है कि इन नैतिक गुणों की पूर्णता आरंभ में ही साधक से अपेक्षित है। यह भी अध्यात्म-साधना के अन्त में संभव है।

4. नित्यानित्यवस्तुविवेक का आशय परिणामशील जगत् के अन्तर्भूत एक आन्तरिक अपरिणामशील नित्य-तत्त्व के ज्ञान की ओर एक अभिवृत्ति है। उसके परिणामस्वरूप 'इहामुत्रभोग-विराग' शमदमादि षट् सम्पत्ति से युक्त होने पर साधक के मन में मुमुक्षत्व की भावना उत्पन्न होती है, जो चतुर्थ साधन है। मोक्ष जीवन का परमार्थ है, उसकी प्राप्ति के लिए उसकी आकांक्षा का पूर्ववर्तित्व आवश्यक है।

1.6.3.2 श्रवणादिसाधनत्रय

1. श्रवण (श्रुति)

ब्रह्म के स्वरूप का प्रारंभिक ज्ञान श्रुति द्वारा ही प्राप्य है। अतः श्रवण-मनन-निदिध्यासन की साधन परम्परा में श्रवण का प्रथम स्थान है। आचार्य शङ्कर में श्रुति का अत्यधिक प्रयोग के कारण ही उसको रूढ़िवादी अध्यात्म के लिए कर्म को चरम मूल्य नहीं देते, किन्तु आत्मसंस्कार के साधन-रूप में उपयोगी मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने वेद के पूर्वभाग का उत्तरभाग से सामंजस्य किया है। दोनों भागों का समान महत्त्व नहीं है, किन्तु उसमें कोई विषमता भी नहीं है। वेदों के उत्तरभाग का महत्त्व अधिक है, क्योंकि उसमें ब्रह्म का निरूपण किया गया है जो सनातन सत्य है। श्रुति को ब्रह्म ज्ञान का एकमात्र साधन मानने से वेद से इस ज्ञानकांड का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। किन्तु जब शङ्कराचार्य सत्य के अन्यथाकरण में श्रुति की असमर्थता घोषित कहते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति से उनका अभिप्राय ग्रन्थों के शब्दों से नहीं वरन् तद्गत सत्य से है। 'सहस्र श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल नहीं बना सकतीं।[1]'

---

1. न ह्यग्निः शीतः आदित्यो न तपतीति वा दृष्टान्तशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्।
-बृ० भा० 2/1/20

इसका अर्थ यही हो सकता है कि पदार्थों का स्वरूप उनकी सत्ता का चरम सत्य है और श्रुति के शब्द उसे अन्यथा नहीं कर सकते। आचार्य शङ्कर के लिए सत्य ही चरम सत्य है तथा स्वत: परम मूल्यवान् है। श्रुति का मूल्य और महत्त्व उसके अन्तर्निहित सत्य का प्रतीक होने के कारण है। श्रुति उस सत्य का कारण नहीं, ज्ञापक मात्र है।[1] वह यथाभूत की प्रकाशक है, अविद्यमान अर्थ का कारक नहीं।[2] श्रुति की प्रामाणिकता का आधार उनका ईश्वरोक्त होना है।[3] साथ ही श्रुतियों में उन ऋषियों के सत्यानुभव का ज्ञानलोक सुरक्षित है जो हमारे जीवन–पथ को सदा प्रकाशित रहेगा। प्राय: श्री शङ्कराचार्य की रचनाओं में यह वचन मिलता है कि श्रुति पदार्थों का स्वरूप को अन्यथा नहीं बनाती है, वह केवल यथार्थ को प्रकाशित करती है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रुति हमें आध्यात्मिक साधना तथा खोज में हमारे लिए ज्ञानचक्षु का काम करती है।

2. आचार्य

प्राचीन ऋषियों के समान जिनको तत्त्व दर्शन हुआ था जिसे सनातन तत्त्व का कुछ आभास प्राप्त हुआ हो ऐसे किसी तत्त्वज्ञानी महात्मा के दिग्दर्शन के बिना श्रुति का वास्तविक रहस्य नहीं समझ सकते। केनोपनिषद् भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि 'ब्रह्म आचार्य के बार–बार उपदेश द्वारा ही जाना जा सकता है, तर्क, प्रवचन बुद्धि, बहुश्रवण, तप, यज्ञ आदि द्वारा नहीं।[5]

'छान्दोग्य उपनिषद्' भाष्य का वचन और भी दृढ़ है। ब्रह्म केवल शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से अवगम्य है।[6] आचार्य की आवश्यकता न

---

1. ज्ञापकं शास्त्रं न कारकं इति स्थिति:। बृ०भा० 1/4/10
2. ज्ञापकत्वाद् वचनस्य, वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानकर्तृ। तै०भ० 1/11
3. तद्वचनादाम्नादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै०सू० 1/11
4. वचनस्य न कारकत्वात्। न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते, किं तर्हि? यथाभूतार्थवद्यतने। प्रश्न०भा० 6/2
5. ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाभिगन्तव्यम् न तर्कत: प्रवचनमेधाबहुश्रुततपो–यज्ञादिभ्यश्च। के०वा०भा० 1/3
6. केवल शास्त्राचार्योपदेशगम्यम्। छा०भा० 6/1/2

सिर्फ तत्त्वज्ञानार्थ ही नहीं वरन् काव्य, चित्रकला, संगीत, स्थापत्य आदि कलाओं का सौन्दर्य तत्त्वसम्बन्धी शास्त्रों से उनके लक्षण-ज्ञान मात्र से नहीं समझा जा सकता। किन्तु उनको समझाने वाले किसी ज्ञाता के सम्पर्क से सहज ही समझा जा सकता है। उसका सजीव सम्पर्क हमारी सौन्दर्यानुभव की सहज शक्ति को जाग्रत कर देता है। जो सौन्दर्यानुभव के विषय में सत्य है वह आध्यात्मिक अनुभव के विषय में और अधिक सत्य है।

वेदान्त में यह स्पष्ट कहा गया है कि आचार्य को अधिकारी को इस विद्या में दीक्षित करना चाहिए। जिसका उपनिषद् के आचार्यों ने पूरा ख्याल रखा है। उपनिषदों के आचार्य किसी भी योग्य अधिकारी को सत्य से वंचित नहीं रखते थे। जब श्वेतकेतु के पिता ने उससे पूछा कि 'क्या तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें उस सत्य की दीक्षा दी है, जिसके जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है?' तब पुत्र ने नि:संकोच अपना अज्ञान स्वीकृत किया और अपने पिता से उस सत्य की दीक्षा देने की प्रार्थना की। साथ ही अपने गुरु के विषय में उसने कहा कि 'यदि मेरे आचार्य इसे जानते होते तो इसका कोई कारण नहीं है कि वह मुझ जैसे योग्य तथा गुणवान् शिष्य को न बतलाते।[1]' इस प्रकार आचार्य शङ्कर का कथन है कि आचार्य को भी अपने शिष्यों के साथ असत्य कथन नहीं करना चाहिए तथा योग्य शिष्य को इसकी शिक्षा खुले मन से प्रदान करनी चाहिए।

1.6.3.3 मनन

केवल गुरु के द्वारा श्रुति-निहित ब्रह्मज्ञान की दीक्षा प्राप्त कर लेने मात्र से ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। साधक को ब्रह्मज्ञान की निष्ठा प्राप्त करने के लिए उस तत्त्व का निरन्तर मनन करना आवश्यक है। श्रुति और आचार्य साधक के सत्यपथ में सहायक मात्र हैं। वे उनके विचार स्वातन्त्र्य तथा यत्न स्वातन्त्र्य को तनिक भी आघात नहीं पहुँचाते। तर्क और चिन्तन के उचित अधिकार का वेदान्त में निषेध नहीं किया गया है। समस्त साधन समवेत रूप से कार्य करते

1. यद्यपि ह्यवेदिष्यन्विदितवन्त एतद्वस्तु कथं ते गुणवते भक्तायानुगताय नावक्ष्यन्नोक्तवन्तः। छा०उ०भा० 6/1/7

हुए आत्मानुभव में पर्यवसित होते हैं। ब्रह्मविज्ञान का पर्यवसान एक आध्यात्मिक अनुभव से होता है[1], तथा श्रवणादिक साधनों का तत्त्वदर्शन में पर्यवसान होता है।[2] ज्ञान की अपेक्षा इसे 'अनुभव' कहना अधिक उचित होगा। 'ज्ञान' शास्त्र तथा आचार्य से प्राप्त आत्मावबोध है, विज्ञान का विशेष अनुभव है।[3] श्रवण आध्यात्मिक साधना का अन्त नहीं, आरंभ है। वेदविद् गुरु से श्रुति का शाब्दिक उपदेश ग्रहण कर लेना पर्याय नहीं है। जब तक निरंतर मनन तथा निदिध्यासन द्वारा श्रुति का तात्पर्य आत्मगत न हो जाए तब तक यह नहीं कहा जा सकता है कि श्रुति का वास्तविक बोध प्राप्त हो गया। श्रुति हमें केवल प्रकाश दे सकती है, दृष्टि प्रदान नहीं कर सकती।

गुरु हमारे केवल आध्यात्मिक पथ का प्रदर्शन कर सकता है, किन्तु उस पथ पर गमन साधक को स्वयं करना होगा। हम श्रुति और आचार्य दोनों से सहयोग ले सकते हैं किन्तु मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उस आगमाचार्य प्राप्त सत्य को अपने आध्यात्मिक अनुभव में परिणत करना होगा। श्रुति, आचार्य, चिन्तन, निदिध्यासन समस्त समवेत साधनों का चरम परिणाम का आत्मानुभव है।[4] श्रुति निहित तत्त्व का मनन तथा विज्ञान द्वारा निश्चित दर्शन होता है।[5] मनन द्वारा न्याय बुद्धि से सम्यक् अवधारण के बाद ही वेद-वाक्यों का तात्पर्य अन्त में दृढ़ होता है।[6] आगम और न्याय से निश्चित वेदार्थ असंदिग्ध होने के कारण अधिक श्रद्धेय होता है।[7] अस्तु, आध्यात्मिक साधना का क्रम इस प्रकार है—पहले आगम तथा आचार्य से तत्त्व का उपदेश ग्रहण कर, पुनः

---

1. अनुभवावसानं ब्रह्मविज्ञानं। ब्र०सू०भा० 2/1/4
2. दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि। ब्र०सू०भा० 4/1/1
3. ज्ञानं च शास्त्रत आचार्यतः च आत्मादीनामवबोधः विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः। गी०भा० 3/41
4. आगमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन संगत्यर्थम्। के०वा०भा० 21
5. मननविज्ञानाभ्यां हि सम्भूतः शास्त्रार्थो निश्चितो दृष्टो भवेत्। छा०आ० 7/15/4
6. परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषां वाक्यानां विषयविभाग शक्यतेऽवधारयितुम्। बृ०भा० 1/15/5
7. आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवति अव्यभिचारात्। बृ०भा० 4/5/1

तर्क पूर्वक उसका मनन करें तब वह निदिध्यासन द्वारा अनुभव का स्वरूप ग्रहण करेगा।[1] अतः साधक को चाहिए कि वे वेदविद् आचार्य से श्रद्धापूर्वक श्रुति का अध्ययन करे, तर्क द्वारा विचार कर उसे निश्चित करे, तदन्तर निदिध्यासन द्वारा उसे अनुभव का स्वरूप दे।[2]

1.6.3.4 निदिध्यासन

किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है वेदान्त बुद्धिवाद नहीं, अध्यात्मवाद है। यद्यपि तर्क का ज्ञान साधन के रूप में दर्शन में आदरणीय स्थान है, फिर भी तत्त्व का अन्तिम निर्णायक नहीं। आचार्य से प्राप्त श्रुति पाठ पर मनन करने से सत्य की बौद्धिक निष्ठा प्राप्त होती है। किन्तु इस बुद्धि-निष्ठ-ज्ञान को निरंतर निदिध्यासन द्वारा आध्यात्मिक अनुभव का रूप देना होगा। श्रुति के वाक्यों का निरंतर परायण करने से उनका अर्थ मनोगत होता है। निरंतर चिन्तन से शब्द प्रत्यय रूप ग्रहण करते हैं तथा बुद्धिनिष्ठ होते हैं। निरंतर ध्यान से वह बुद्धि-निष्ठ प्रत्यय आध्यात्मिक अनुभव का रूप धारण करता है। किन्तु यह आध्यात्मिक अनुभव आत्मगत भाव है, मनोगत कर्म नहीं है। यह नित्यवर्तमान आत्मा के स्वरूप का अनुभव है। आत्मा अखिल अनुभव का आधार है, अतः इस आत्मानुभव का कोई आत्मेतर अन्य कर्त्ता नहीं हो सकता। आत्मानुभव आत्मा द्वारा ही प्राप्य है। अतः श्रवण-मननादि कोई भी साधन उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। वे केवल समस्त नैतिक और आध्यात्मिक-प्रयासों के एक चल अनुभव के रूप में पर्यवसान में सहायक होते हैं। उनका साध्य के साथ कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता और न साध्य उन साधनों का परिणाम है। किन्तु वे साधन-साध्य के बहिर्भूत नहीं है। जैसा कि 'मैकन्जी' का मत है—साधनों के नैतिक मूल्य का साध्य मे नाश नहीं अन्तर्भाव हो जाता है।[3] उनसे उत्पन्न नैतिक व्यक्ति अन्त में आत्मानुभव की ज्योति-शिखा के रूप में दीप्त हो उठती है।

---

1. पूर्वमाचार्यगमाभ्यां श्रुतेः पुनः तर्केणोपपत्त्याः मते विचारिते पश्चात् विज्ञाते। बृ०भा० 5/5/6
2. समाहितः सन् यथोक्तमाचार्येण आगमार्थतो विचार्य तर्कश्च निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वा।
3. कृत्स्नस्य कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात्। बृ०उ०भा० 4/4/22

साधनों का असकृत् प्रयोग, जिसका वेदान्त में विधान किया गया है, दो अरणियों के पुनः–पुनः संघर्षण के समान है, जिससे उष्णता उत्पन्न होती है और जिसका पर्यवसान अग्निशिखा में होता है। उष्णता चाहे वह किसी भी परिणाम में हो, अग्निशिखा उत्पन्न नहीं कर सकती। उसी प्रकार श्रवण (अध्ययन) तथा मनन (चिन्तन) भी चाहे कितना ही हो आत्मानुभव उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु जिस प्रकार अत्यन्त तीव्र संघर्षण की उष्णता अग्नि–दीपन करक देती है उसी प्रकार साधन–प्रयोग तीव्रता से उत्पन्न आध्यात्मिक शक्ति का परिणाम आत्मानुभव में होता है। अग्नि उष्णता का परिणाम नहीं पर्यवसान है, उसी प्रकार आत्मानुभव साधना–जन्य जागरण का परिणाम नहीं पर्यवसान है। जिस प्रकार उष्णता का अग्नि में अन्तर्भाव हो जाता है और वह दीप्ति की एक नई कोटि धारण कर लेती है, उसी प्रकार समस्त साधनों के नैतिक मूल्य का आत्मानुभव में अन्तर्भाव हो जाता है, जिसमें वह आध्यात्मिकता की एक नूतन कोटि धारण कर लेता है।

इसके साथ ही बद्ध की सत्ता से अवगत कराने के लिए आचार्य शङ्कर ने अनेक उपासनाओं का भी वर्णन किया है जिसके माध्यम से परम सत्ता से साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार मीमांसा तत्त्व के ज्ञान रूपी लक्ष्य का मुख्य सोपान है जिनकी अनुपस्थिति में निश्चितरूप वहाँ तक साधक नहीं पहुँच सकता तथा अध्यात्म ज्ञान से अपने को आलोकित करने में सर्वदा अक्षम महसूस करता है।

उपर्युक्त तीन अध्याय के अतिरिक्त प्रकीर्ण पारिभाषिक नामक एक अध्याय बनाया गया है जिसके अन्तर्गत ऐसे शब्दों का अध्ययन किया गया है जिन शब्दों को उपर्युक्त तीनों में से किसी में नहीं रखा जा सकता है किन्तु अद्वैत के स्वरूप को बताने में समर्थ हैं।

द्वितीय अध्याय

तत्त्वमीमांसीय पारिभाषिक शब्द

शङ्कराचार्य के वेदान्त का मुख तत्त्व अद्वैत है। प्राणिमात्र में जो भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होती है, वह एक ही आत्मा है। यह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है। अन्य सब मिथ्या है, प्राणियों से भिन्न जो पार्थिव जगत् है, वह भी असत्य है। आत्मा ही सत्य रूप है। सारे मानसिक तथा भौतिक व्यापार क्षणिक हैं। अन्य सारे दर्शन जीवन में वस्तु सत्य का अन्वेषण करते हुए पार्थिव जगत् में हमारे व्यवहार के हेतु प्रामाणिक तथ्य को उपस्थित करते हैं। उसकी दृष्टि वस्तुवादी और संसार की व्यावहारिक मर्यादाओं से सीमित है। परन्तु वेदान्त इस दृश्यमान जगत् को भी कोई महत्त्व न देते हुए इसे माया का कार्य मानकर उस मूल तत्त्व की ओर दृष्टिपात करता है, जिससे यह सारा संसार प्रतिभासित हो रहा है। वेदान्त उस अन्तिम सत्य का अन्वेषण करता है जो इस अनेकविध, सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल में अवस्थित है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में श्वेतकेतु को परमतत्त्व की शिक्षा देते हुए कहा है कि 'हे श्वेतकेतो तत्त्वमसि' तुममें ही वह महान् निहित है। तुम ही वह सत्य हो। तुम ही आत्मा और ब्रह्म हो। 'तत्त्वमसि' वेदान्त का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य (महावाक्य) बन गया है। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्यज्ञान है। क्योंकि जैसे ही यह ज्ञान हो जाता है, संसार की माया का स्वयमेव लोप हो जाता है। सत्य के ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य इधर-उधर भटकता फिरता है। साथ ही जब तक मन में वासनाओं और तृष्णा का आवेग शान्त नहीं होता, हम इस महान् सत्य को सच्चे अर्थों में ग्रहण नहीं कर पाते। शुद्धचित्त होकर जब आत्मा मोक्ष की इच्छा से इस अन्तिम सत्य को खोजती है तब गुरु शिक्षा देते हैं कि तुम ही वह महान् सत्य हो (तत्त्वमसि)। इस दीक्षा से वह स्वयं उस सत्य के साथ आत्मसात् होकर एकनिष्ठ हो जाता है। सत्-चित्-आनन्दरूप में रमता हुआ निर्धूम प्रकाश के समान जाज्वल्यमान हो उठता है। सारी अविद्या ममत्व आदि का नाश हो जाता है। साधारण संज्ञान मेरा-तेरा आदि का भी कोई

महत्त्व नहीं रहता। यह संसार इन्द्रजाल के समान प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई देता है। माया के बन्धन स्वयमेव अलग हो जाते हैं एवं एक केवल ज्ञानी होकर निर्द्वन्द्व विचरण करता है। इस प्रकार इस तत्त्व के स्वरूप को जानने के उपरांत इसके तीनों घटक रूप **जगत्, जीव** एवं **ब्रह्म** से सम्बद्ध अद्वैत सम्मत पारिभाषिक शब्दों का चयन कर अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णक्रम अध्ययन प्रस्तुत है—

2.1 ब्रह्मविषयक पारिभाषिक शब्द

विशेषत: उपनिषदों के आधार पर ही आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मविद्या का निरूपण किया है। शङ्कर अद्वैत वेदान्त के अनुसार अद्वैततत्त्व ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। जगत् की सत्ता शङ्कर अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायिक बतलाई गई है। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म में भिन्नत्व है, वस्तुत: जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐक्य ही है। आचार्य शङ्कर ने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में अद्वैत ब्रह्म की परिभाषा इस प्रकार दी है—

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्यरचना-रूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म।[1]

प्रस्तुत अध्ययन में ब्रह्म विषय शब्दावली के अन्तर्गत ब्रह्म, आत्मा, पुरुष इत्यादि से सम्मत पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन किया गया है जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित है। अध्ययन के क्रम में सर्वप्रथम 'अकाममय[2]' अर्थात् ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त करने पर कामना का कोई अस्तित्व नहीं रहता। कामना इत्यादि तो व्यावहारिक जगत् में ही देखने को मिलती है। इस कामना का जहाँ अन्त होता है वहाँ चित्त प्रसन्न तथा निष्कल्मष हो जाता है एवं चित्त शान्त हो जाता है। इस अवस्था को अकाममय कहा गया है। दूसरा पारिभाषिक शब्द 'अखण[3]' है। 'अखण' यहाँ ब्रह्म को कहा गया है। अखण

---

1. ब्र०सू०शा०भा० 1/1/2
2. बृ०उ०शा०भा० 4/4/5
3. छा०उ०शा०भा० 1/2/7

अर्थात् जिसे काटा न जा सके या जिसको छिन्न न किया जा सकता है। गीता में भी कहा गया है—**नैनं छिन्दन्ति.......मारुतः ॥** अर्थात् इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकता है और न ही आग इसे जला सकती है, न पानी इसे गीला कर सकता है और न वायु इसे सुखा सकती है। अर्थात् यह आत्मा अजर और अमर है।

इस ब्रह्म या आत्मा में जन्म लेने का गुण नहीं है, इसलिए इसे 'अजम्[1]' कहा गया है। जिस प्रकार सांसारिक जीव बार-बार इस जगत् में जन्म-मरण के चक्र में फंसकर घूमता रहता है। इस प्रकार का स्वभाव इसमें नहीं पाया जाता इसलिए इस आत्मा को जन्मरहित बतलाया गया है। इस आत्मा को किसी कामना में भी संलग्न नहीं देखा जाता। अतः यह कामना-रहित है, अतः इसे 'अतिच्छन्दरूप' कहा गया है। वस्तुतः छन्द काम को कहा जाता है।[2] यह ब्रह्म व आत्मा मृत्यु से भी परे माना जाता है, अतः 'अतिमृत्यु[3]' है। यह आत्मा या ब्रह्म 'अनन्त[4]' है अर्थात् जिसका अन्त अर्थात् कार्य विद्यमान न हो उसे अनन्त कहते हैं। ब्रह्म का स्वरूप निर्विकार होता है—इसके पाणि-पाद आदि विकार नहीं देखे जाते अतः इन्हें 'अपाणिपाद' कहा गया है।[5] इसी गुण के कारण इसे 'अशरीर' भी कहा गया है। इस प्रकार चेतना भूतों का धर्म है यह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म प्रज्ञानं ब्रह्म' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म विज्ञानघन एवं इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि उत्पत्तिनाश रूप धर्म से रहित चेतन ही आत्मा है।[6] यह 'आत्मा[7]' ही शरीर में प्रवेश करके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान की क्रियाएँ करता है।

---

1. मा०उ० / अद्वैत 47
2. बृ०उ० 4/3/21
3. छा०उ० 2/10/1
4. क०उ० 1/3/15
5. श्वे०उ० 3/19
6. छा०उ० 8/12/2
7. बृ०उ० 1/4/10

इस प्रकार आत्मा को सर्वान्तर तथा सबका अन्तवर्ती कहा गया है।[1] जो दृष्टि का द्रष्टा है, क्योंकि दृष्टि आदि का द्रष्टा होना आत्मा का स्वभाव है।[2] इसी क्रम में आत्मा को अविकारी अन्तर्यामी तथा आत्मक्रीड कहा गया है।[3] आगे आत्मा या ब्रह्म को 'आदित्य' कहा गया है, जो पुनः-पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों के आयु और कर्मफल को आदान अर्थात् ग्रहण कर चलते हैं। वे चूँकि इस प्रकार सबका आदान करते हुए चलते हैं। इसलिए 'आददाना यान्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे आदित्य कहा गया है।[4] इस ब्रह्म व आत्मा का सबसे प्रियतम एवं समीपवर्ती नाम ॐ है।[5] इस ब्रह्म व आत्मा का स्वभाव झुण्ड में चलने का नहीं है जिस प्रकार मानव चला करता है बल्कि ये अकेला ही चलता है, इस कारण से इसको 'एकहंस[6]' भी कहा जाता है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक अन्य शब्द के लिए यहाँ वर्णक्रम से अध्ययन प्रस्तुत है।

2.1.1.1 अकाममय

कामना में दोष देखने पर जब तत्सम्बन्धी अभिलाषा निवृत्त हो जाती है, तब चित्त प्रसन्न निष्कल्मष अर्थात् शान्त हो जाता है, उसे तन्मय अर्थात् अकाममय कहा जाता है।[7]

2.1.2.1 अखण

जिसे कुद्दालादि से भी न खोदा जा सके तथा टांकियों (छैनियों) से भी छिन्न न किया जा सके उसे 'अखण' कहते हैं।[8]

---

1. वही 3/4/4
2. वही 3/4/2
3. वही 4/5/14
4. बृ०उ० 3/9/5
5. छा०उ० 1/1/1
6. बृ०उ० 4/3/11
7. तस्मिन् कामे दोषं पश्यतस्तद्विषयाभिलाषप्रशमे चित्तं प्रसन्नमकलुषं शान्तं भवति, तन्मयोऽकाममयः। बृ०उ०शा०भा० 4//4/5
8. अखणं न शक्यते खनितुं कुद्दालादिभिरपि, टङ्कैश्चच्छेन्तुं न शक्योऽखणः। छा०उ०शा०भा० 1/2/7

2.1.3.1 अग्नि

अविद्या और उसके कार्य का दाह करने वाला होने के कारण से वह (ईश्वर) अग्नि के समान है, कहा भी गया है—'ईश्वर आकाशातीत अग्नि है।[1]'

2.1.4.1 आजानदेव

आजान अर्थात् उत्पत्ति से ही जो देवता होते हैं, वे आजानदेव कहलाते हैं।[2]

2.1.5.1 अज

उत्पत्ति के सिद्ध न होने से सबकुछ आत्मा ही है, इसलिए वेदान्तों में सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः इत्यादि रूप से सबको अज ही कहा गया है।[3]

2.1.5.2 जो किसी से उत्पन्न न हो, क्योंकि अपने से भिन्न कोई उसके जन्म का निमित्त है ही नहीं, जिस प्रकार जल से उत्पन्न होने वाले बुद्बुदों का कारण वायु आदि है।[4]

2.1.6.1 अजम्

जिस प्रकार विषय संबंधी सुख उत्पन्न हुआ करता है, उस प्रकार से ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता इसलिए इसे अजम् कहा गया है।[5]

---

1. अग्निरिवाग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात् उक्तं च 'व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः।' श्वे०उ०शा०भा० 6/15
2. आजानत एव उत्पत्तित एव ये देवास्ते आजानदेवाः। बृ०उ०शा०भा० 4/3/33
3. अप्रसिद्धत्वादुत्पादस्यात्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः इति। मा०उ० / अ०शा०प्र० 38, पृ० 217
4. अजो न जायते कुतश्चियत्स्वतोऽन्यस्य जन्म-निमित्तस्य चाभावात्। यथा जलबुद्बुदा-देर्वारवादि। मु०उ० 2/1/2
5. न जातिमित्यजं यथा विषय विषयम्। अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तं सत्स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः। मा०उ०, अद्वैत प्र० 47

2.1.7.1 अतिच्छन्दरूप

छन्द काम को कहते हैं, अतः जिस रूप से छन्द (काम) की निवृत्ति हो गयी है, वह अतिच्छन्दरूप कहलाता है।[1]

2.1.8.1 अतिमृत्यु

जो मृत्यु को जीतने का हेतु हो अतिमृत्यु कहते हैं।[2]

2.1.9.1 अद्वैत

आत्मज्योतिः स्वभावा दृष्टि का लोप न होने के कारण वह द्रष्टा है तथा अन्य द्रष्टव्य का अभाव होने के कारण वह अद्वैत है।[3]

2.1.10.1 अदिति

सर्वदेवतामयी सर्वदेव स्वरूपा अदिति जो प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप परब्रह्म से उत्पन्न होती है जो शब्दादि विषयों का अदन (भक्षण) करती है उसे अदिति कहते हैं।[4]

2.1.11.1 अदृश्य

दृश्य देखे जाने वाले अर्थात् विकार का नाम है; क्योंकि विकार देखे जाने के ही लिए है; जो दृश्य न हो उसे अदृश्य अर्थात् अविकार कहते हैं।[5]

---

1. छन्दः कामः, अतिगतश्छन्दो यस्माद् रूपात् तदतिच्छन्दं रूपम्।
   बृ०उ० शा०भा० 4/3/21, पृ० 969
2. अतिमृत्यु मृत्युजयहेतुत्वात्। छा०उ० शा०भा० 2/10/1, पृ० 181
3. द्रष्टा दृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्मज्योतिः स्वभावायाः, अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्।
   बृ०उ० 4/3/32, पृ० 1001
4. या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम्। क०उ० 2/1/7
5. अदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारो दर्शनार्थत्वाद्विकारस्य। न दृश्यमदृश्यमविकार इत्यर्थः।
   तै०उ० 2/7/1

2.1.12.1 अधिमात्र

पादरूप में विभज्यमान ओंकार मात्रा पर आश्रित होने के कारण अधिमात्र कहलाता है।[1]

2.1.13.1 अध्यक्षर

आत्मा अध्यक्षर है, क्योंकि अक्षर का आश्रय लेकर इसका अभिधान किया जाता है।[2]

2.1.14.1 अनेजत्

जो चलने वाला न हो उसे अनेजत् कहते हैं।[3]

2.1.15.1 अन्तःप्रज्ञ

अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन अधिक अन्तःस्थ है, स्वप्नावस्था में जिसकी प्रज्ञा उस (मन) की वासना के अनुरूप रहती है, उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं।[4]

2.1.16.1 अनुच्छित्ति धर्मा

जीव से रहित होकर यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता, ''जरा मृत्यु ये शरीर के धर्म हैं'' यह आत्मा अविनाशी और अनुच्छित्तिधर्मा (कभी न उच्छिन्न होने वाला) है।[5]

---

1. सोऽयमोङ्कारः पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम् मा०उ० / आ०प्र० 8
2. सोऽयमात्माध्यक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम्। मा०उ०/आ०प्र० 8
3. अनेजत् न एजत्। ई०उ० 4
4. इन्द्रियापेक्षयान्तः स्थित्वान्मनस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञायस्येत्यन्तःप्रज्ञः। मा०उ०/सौड; प०का०4
5. जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। छा०उ० 6/11/3
''जरामृत्युशरीरस्य'' अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छिति धर्मा (बृ०उ० 4/5/14) इति। श्वे०उ० 1/1

2.1.17.1 उच्छित्ति

उच्छेद को कहते हैं, उच्छेद्-अन्त अर्थात् विनाश उच्छित्ति जिसका धर्म हो उसे उच्छित्तिधर्मा कहते हैं, जो उच्छित्ति धर्मा नहीं है वही अनुच्छित्तिधर्मा कहा गया है।[1]

2.1.18.1 अनीड

नीड शरीर को कहते हैं, अतः अशरीर नाम वाले, भाव और अभाव (सृष्टि और प्रलय) करने वाले को अनीड कहते हैं।[2]

2.1.19.1 अन्तर्यामी

अत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञारूप उपाधि से सर्वज्ञ तथा जगत् के सर्वसाधारण और अव्यक्त बीज का प्रवर्तक वह ईश्वर ही सबका नियन्ता होने के कारण 'अन्तर्यामी' नामवाला है।[3]

2.1.20.1 अन्तरात्मा

पुरुष से ब्रीहि, यव आदि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुरादि छः प्रकार के रस उत्पन्न हुए हैं, जिस रस से पाँच स्थूल भूतों द्वारा परिवेष्टित हुआ, अन्तरात्मा लिङ्गदेह यानि सूक्ष्म शरीर में स्थित रहता है वही (पुरुष) यह शरीर और आत्मा के मध्य में आत्मा के समान रहने के कारण अन्तरात्मा कहलाता है।[4]

---

1. उच्छित्तिरुच्छेदः, उच्छेदोऽन्तो विनाशः, उच्छित्तिर्धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा, नोच्छित्तिधर्मा अनुच्छित्तिधर्मा। बृ०उ० 4/5/14
2. अनीडाख्यं नीडं शरीरमशरीराख्यम्। श्वे०उ० 5/14
3. तदत्यन्तविशुद्धप्रज्ञोपाधिसंबन्धेन सर्वज्ञमीश्वरं सर्वसाधारणाव्याकृतजगद्बीजप्रवर्तकं नियंतृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति। ऐ०उ० 3/1/3
4. अस्मादेवपुरुषात् सर्वा ओषधयो ब्रीहियवाद्याः। रसश्चमधुरादिः षड्विधो येन रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः पारिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम्। तद्ध्यन्तराले शरीरस्यात्मनश्चात्मवद्वर्तत इत्यन्तरात्मा। मु०उ० 2/1/9

2.1.21.1 अनन्त

(यह आत्मा अनन्त भी है।) जिसका अन्त अर्थात् कार्य विद्यमान न हो उसे अनन्त कहते हैं।[1]

2.1.22.1 अनन्तमात्र

अमात्र – तुरीय ओंकार हैं जिससे मान किया जाये उसे मात्रा अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं। वह मात्रा जिसकी अनन्त हो उसे 'अनन्तमात्र' कहते हैं।[2]

2.1.23.1 अन्तरिक्षसत्

आत्मा केवल एक ही शरीर रूप पुर में रहने वाला नहीं बल्कि सभी पुरों में रहता है। वह वायु रूप से आकाश में चलता है, इसलिए अन्तरिक्षसत् कहा जाता है।[3]

2.1.24.1 अनिरुक्त

ब्रह्म सम्पूर्ण विकार का कारण होने से स्वयं अविकार ही है। जो अविकारी है वह अनिरुक्त कहलाता है।[4]

2.1.25.1 अनीशा

मैं किसी कार्य के लिए समर्थ नहीं हूँ मेरा पुत्र नष्ट हो गया, स्त्री मर गयी, अब मेरे जीने से क्या लाभ है? इस प्रकार दीनभाव ही अनीशा (असमर्थता) है।[5]

---

1. तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम्। क०उ० 1/3/15
2. अमात्रस्तुरीय ओंकारः। मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः–सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः। मा०उ०/आ०प्र० 27
3. वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। क०उ० 2/2/2
4. अविकारं च ब्रह्म, सर्वविकारहेतुत्वात्तस्मादनिरुक्तम्। तै०उ० 2/7/1
5. अतोऽनीशया 'न कस्यचित्समर्थोऽहं पुत्रो मम नष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेन इत्येवं दीनभावोऽनीशा। श्वे०उ० 4/7

2.1.26.1 अनुवेदन

विद्या के परिपाक की अपेक्षा से जो उसकी फल पर्यन्त स्थिति की प्राप्ति है, उसे अनुवेदन कहते हैं।[1]

2.1.27.1 अनुज्ञाक्षर

जो अनुज्ञा हो और अक्षर भी हो उसे अनुज्ञाक्षर कहते हैं। अनुज्ञा अनुमति का नाम है, अर्थात् ॐकार अनुज्ञा है।[2]

2.1.28.1 अपाणिपाद

ब्रह्म का निर्विकार रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—इसके (ब्रह्म के) पाणि और पाद नहीं हैं, इसलिए इसे अपाणिपाद कहा जाता है।[3]

2.1.29.1 अपरब्रह्म

ओंकार को ही अपरब्रह्म कहा गया है।[4]

2.1.30.1 अप्रवर्ति

जिसका कभी कहीं प्रवृत्त होने का स्वभाव न हो उसे अप्रवर्ति कहते हैं।[5]

2.1.31.1 अमृत

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु यानी मृत्यु शब्दवाच्य स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान इन दोनों को तैरकर पार करके

---

1. अनुवेदनं नाम विद्याया: परिपाकापेक्षया फलावसानतानिष्ठाप्राप्ति: । बृ०उ० 4/4/8
2. अनुज्ञाक्षरमनज्ञा च साक्षरं च तत्। अनुज्ञाचानुमतिरोङ्कार इत्यर्थ: । छा०उ० 1/1/8
3. अपाणिपाद इति। नास्य पाणिपादावित्यपाणिपाद: । श्वे०उ० 3/19
4. अपरं च ब्रह्म यदोङ्कार: । बृ०उ० 5/1/1, पृ० 1179
5. अप्रवर्ति न कुतश्चित्क्वचित्प्रवर्तितुं शीलमस्येत्यप्रवर्ति। छा०उ० 3/12/9

विद्या अर्थात् देवता ज्ञान से अमृत यानी देवतात्मभाव को प्राप्त हो जाता है, देवत्वभाव का प्राप्त होना है, वही अमृत कहा जाता है।[1]

2.1.31.2 कर्म जनित फल होता है। जब तक सौ करोड़ कल्प तक भी कर्मों का नाश नहीं होता तब तक उनका फल भी नष्ट नहीं होता, इसलिए कर्मफल को अमृत कहा है।[2]

2.1.31.3 अमरत्व यानी मोक्ष की प्राप्ति के लिए (नदी पार जाने के साधनभूत) सेतु के समान सेतु (अमृत) है।[3]

2.1.31.4 यह जो नेत्रों के भीतर पुरुष दिखायी देता है, वही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभयपद है और यही ब्रह्म है।[4]

2.1.31.5 सत् अमृत है, सत् शास्त्रीय कर्म और विज्ञान का नाम है, वह अमरता का हेतु के कारण अमृत है।

2.1.31.6 जो इन्द्रियरूप, शरीर का आन्तर आधारभूत और आत्मस्वरूप है वह प्राण ही अमृत है।[6]

---

1. अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिनां मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्। ई०उ० 11
2. कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम्। यावत्कर्माणि कल्पकोटि शतैरपि न विनश्यति तावत्फलं न विनश्यति इत्यमृतम्। मु०उ० 1/8, पृ० 21
3. सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेः। मु०उ० 2/2/5
4. 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवा चैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' के०उ० 2/1, छा०उ० 8/7/4
5. सदमृतम् – सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने अमरण–हेतुत्वादमृतम्। बृ०उ० 1/3/28
6. प्राणो वा अमृतं करणात्मकोऽन्तरुषष्टम्भक आत्मभूतोऽमृतः। बृ०उ० 1/6/3

2.1.31.7 सम्पूर्ण सांसारिक–धर्मों से रहित एवं समस्त संसारियों के कर्मफलों का विभाग करने वाला आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।[1]

2.1.31.8 खाये हुए अन्न जो रस मातृजनित लोहित की निष्पत्ति का कारण होता है, वही अमृत है।[2]

2.1.32.1 अनात्म

अनात्म विषयक कामनाएं ही अविद्यारूपी मृत्यु है, अतः मृत्यु का वियोग हो जाने पर विद्वान् जीवित रहते हुए भी अमृत हो जाता है।[3] वह यहाँ–इस शरीर में रहता हुआ ब्रह्म को अर्थात् ब्रह्मभाव रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

2.1.33.1 अमृतज्योति

आदित्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशक होने के कारण ज्योतियों के जिस ज्योति की देवगण आयु के रूप में उपासना करते हैं, वह अमृतज्योति है।[4]

2.1.34.1 अमृताक्षर

जो अमृत और अक्षर है उसे अमृताक्षर कहा है।[5]

2.1.35.1 अलुप्तदृक्स्वभावा

जिससे बोधस्वरूप या साक्षी स्वभाव का कभी लोप नहीं हुआ है। उसे

---

1. अमृतः सर्वसारधर्मवर्जितः सर्वसंसारिणां कर्मफल विभागकर्त्ता एष – ते आत्मान्तर्याम्यमृतः। बृ०उ० 3/8/15–23
2. अमृतमिति यो भुक्तस्यान्नस्य रसो मातृजस्य लोहितस्य निष्पत्ति हेतुः। बृ०उ० 3/9/10
3. अर्थादनात्मविषयाः कामा अविद्या लक्षणा मृत्यव इत्येतदुक्तं भवति; अतो मृत्युवियोगे विद्वन् जीवन्नेव अमृतो भवति। बृ०उ० 4/4/7
4. आदित्यादित्योतिषामप्यवभासकत्वात्, आयुरित्युपासते देवाः, अमृतज्योतिः। बृ०उ० 4/4/16
5. अमृतं च तदक्षरं चामृताक्षरमृतं। श्वे०उ० 1/10/, पृ० 107
6. तेन स्वेन भासा विषय भूतेन, स्वेन च ज्योतिषा तद्विषयिणा विविक्तरूपेण अलुप्तदृक्स्वभावेन। बृ०उ० 4/3/9, पृ० 929

अलुप्तदृक्–स्वभावा कहा जाता है।[6]

2.1.36.1 अव्ययात्मा

संसार की स्थिति पर्यन्त रहने वाला अव्यय स्वभाव पुरुष अर्थात् सबसे पहले उत्पन्न हुआ जो हिरण्यगर्भ है। वह अव्ययात्मा है।[1]

2.1.37.1 अविनाशी

जो अनित्यों–नाशवानों में नित्य है वह अविनाशी है।[2]

2.1.37.2 जो (अमृत) आयतन सम्पूर्ण प्राणों का आश्रय है, यही अमृत अविनाशी है।[3]

2.1.37.3 जो इन्द्रिरूप, शरीर का आन्तर–आधारभूत और आत्मस्वरूप है, वह प्राण ही अमृत अविनाशी है।[4]

2.1.37.4 जिसका विनष्ट होने का स्वभाव है उसे विनाश कहते हैं, जो विनाशी न हो वह अविनाशी है।[5]

2.1.38.1 अशरीर

वायु अशरीर है, इसके शिर एवं हाथ–पाँववाला शरीर नहीं है, इसलिए यह अशरीर है।[6]

2.1.39.1 असङ्ग

---

1. यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्मा। मु०उ० 1/2/11
2. नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्। क०उ० 2/2/13
3. एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमेतदमृतम् अविनाशि। प्र०उ० 1/10
4. प्राणो वा अमृतं करणात्मकोऽन्तरुपष्टम्भक आत्मभूतोऽमृतोऽविनाशी। बृ०उ० 1/6/3
5. यतो विनष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाश्यविनाशी। बृ०उ० 4/5/14
6. अशरीरो वायुविद्यमानं शिरः पाण्यादिमच्छरीरमस्येत्यशरीरः। छा०उ० 8/12/2

आत्मा का किसी से सङ्ग नहीं होता। संग रहित और सबका पालन करने वाला है। ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध है।[1]

2.1.40.1 अहर्जर

अह: प्रतिदिन परिवर्तनशील हो कर जो लोकों को जीर्ण करता है अथवा जिसमें दिन जीर्ण यानी अन्तर्भूत होते हैं, वह अहर्जर है।[2]

2.1.41.1 अक्षर

जो क्षरण (च्युत होना) क्षत (व्रण) और क्षय (नाश) से रहित है वह अक्षर कहलाता है।[3]

2.1.41.2 जो स्वरूप से च्युत नहीं होता उसे अक्षर कहते हैं।[4]

2.1.41.3 जो क्षीण नहीं होता अथवा क्षरित नहीं होता, वह अक्षर है।[5]

2.1.41.4 नित्य निरतिशय ज्ञान शक्तिरूप उपाधि वाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है, वही उपाधि शून्य केवल और शुद्ध होने पर अपने स्वरूप से अक्षर कहा जाता है।[6]

2.1.42.1 आकाशतुल्य

जो आकाश की अपेक्षा कुछ असम्पूर्ण हो उसे आकाशकल्प अर्थात् आकाशतुल्य कहते हैं।[7]

---

1. ''असङ्गो न हि सज्जते।'' के०उ० 2/4, बृ०उ० 3/9/26
2. अहोभि: परिवर्तमानो लोकोञ्जरयतीत्यहानि वास्मिञ्जीर्यन्त्यन्तर्मवन्तीत्यहर्जर: तै०उ० 1/4/3
3. अक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च। मु०उ० 1/2/13
4. न क्षरतीत्यक्षरम्। श्वे०उ० 1/7/9
5. अक्षरम् यन्नक्षीयते न क्षरतीति वान्क्षरम्-तदक्षरम्। बृ०उ० 3/8/8
6. नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्मान्तर्यामीश्वर उच्यते, स एव निरुपाधि: केवल: शुद्ध: स्वेन स्वभावेनाक्षरं उच्यते। बृ०उ० 3/14/2
7. आकाशेनेषदसमाप्तमाकाश कल्पमाकाशतुल्यमेतत्। मा०उ०/आ०शा० 1

2.1.43.1 आकाशात्मा

जिसका आत्मा यानी स्वरूप आकाश के समान हो उसे आकाशात्मा कहते हैं।[1]

2.1.44.1 आत्मा

लोहा जिसके द्वारा जलाया जाता है, उसे अग्नि कहते हैं, उसी प्रकार जिसके द्वारा लोक देहादि विषयों को जानता है, उसे आत्मा कहते हैं।[2]

2.1.44.2 (चेतना भूतों का धर्म है) ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' विज्ञानघन एव इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि उत्पत्तिनाश रूप धर्म से रहित चेतन ही आत्मा है।[3]

2.1.44.3 व्यान अर्थात् व्यान नाम की वृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है। आकाश आत्मा है। यहाँ प्राणवृत्ति का अधिकार होने के कारण (आकाश शब्द से) आकाश में स्थित जो समानसंज्ञक प्राण की वृत्ति है, वही आत्मा है।[4]

2.1.44.4 मन ही आत्मा है; क्योंकि मन के रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व-भोतृत्व सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं; इसी से 'मन ही आत्मा है।[5]'

---

1. आकाशात्मा, आकाश इवात्मा स्वरूपं यस्य स आकाशात्मा। छा०उ० 3/14/2
2. यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत्। क०उ० 2/1/3
3. (अनपायोपजनधर्मक चैतन्यमात्मा) नामरूपा रूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तै०उ० 2/1/1, विज्ञानमघनमेव, बृ०उ० 2/4/12
प्रज्ञानं ब्रह्म ऐ०उ० 5/3 इत्यादिश्रुतिभ्यः। प्र०उ० 6/2
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, बृ०उ० 3/9/28
4. व्यानो व्यानवृत्तिर्दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरपक्षः। आकाश आत्मा। या आकाशस्थो वृत्ति-विशेषः समानाख्यः स आत्मेवात्मा। तै०उ० 2/2/1
5. मनो ह्यात्मात्मनः कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वं च सति मनसि नान्येथेति मनो ह्यात्मेत्युच्यते। छा०उ० 7/3/1

2.1.44.5 अशरीरता ही आत्मा का स्वरूप है। जिस अपने पर ज्योति: स्वरूप को सम्प्रसाद प्राप्त होता है वही आत्मा है।[1]

2.1.44.6 यह जो सम्प्रदाय है, जो इस शरीर से सम्यग् रूप से उत्थान कर परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है यह आत्मा है।[2]

2.1.44.7 मैं यह सुगन्धि या दुर्गन्धि सूँघूँ अर्थात् इसकी गन्ध जानूँ–ऐसा जो जानता है वह आत्मा है।[3]

2.1.44.8 उसके गन्ध अर्थात् गन्धज्ञान के लिए घ्राण है। और जो ऐसा जानता है कि मैं यह वचन उच्चारण करूँ अर्थात् बोलूँ वह आत्मा है।[4]

2.1.44.9 मैं इसका मनन करूँ अर्थात् बाह्य इन्द्रियों से असंस्पृष्ट केवल मनन करूँ वह आत्मा है, उसके मनन करने के लिए मन करण है। ऐसा जो जानता है वह आत्मा है।[5]

2.1.44.10 (व्याप्ति बोधक) 'आप्' (भक्षणार्थक) 'अद्' अथवा (सततगमन बोधक) 'अत्' धातु से आत्मा शब्द निष्पन्न हुआ।[6]

---

1. अशरीरता ह्यात्मन: स्वरूपम्। यत्स्वं परं ज्योति: स्वरूपमाद्यते सम्प्रसाद एष आत्मेति होवाच। छा०उ० 8/3/4
2. य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति। छा०उ० 8/7
3. इदं सुगन्धि वा जिघ्राणीत्यस्य गन्धं विजानीयामिति स आत्मा। छा०उ० 2/2/14
4. तस्य गन्धाय गन्धविज्ञानाय घ्राणम्। यो वेदेदंवचनमभिव्याहराणीति वदिष्यामीति स आत्मा। छा०उ० 2/2/4
5. यो वेदेदं मन्वानीति मननव्यापारमिन्द्रियासंस्पृष्टं केवलं मन्वानीति वेद स आत्मा मननाय मन:। 'यो वेद स आत्मा'। छा०उ० 8/12/5
6. आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा पर: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिरशनायादि सर्व–संसार धर्मवर्जितो नित्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्त स्वभावोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्धयो वै; इदं यदुक्तं नामरूप कर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रजगत: सृष्टे: प्रागासीत्। ऐ०उ० 1/1/1

2.1.44.11 रेतस् (शुक्र) अन्नमय पिण्ड रसादिरूप सम्पूर्ण अङ्ग यानि अवयवों से तेज शरीर का सारभूत निष्पन्न होने से तथा पुरुष का आत्मभूत होने के कारण वह आत्मा है।[1]

2.1.44.12 संवत्सर आत्मा है; संवत्सर बारह या तेरह महीने का होता है वह उसका आत्मा यानि शरीर है। काल के अवयवों का संवत्सर ही शरीर है। "इन सब अङ्गों का मध्यभाग आत्मा है।[2]"

2.1.44.13 जो विज्ञानमय है वही आत्मा है।[3]

2.1.44.14 जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप शरीरेन्द्रिय संघात विशिष्ट प्रकृत पिण्ड है, वह आत्मा कहलाता है।[4]

2.1.44.15 जो यह शरीर में प्रवेश करके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, की क्रियाएँ करता है वह आत्मा है।[5]

2.1.44.16 जो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है वह आत्मा है।[6]

2.1.44.17 जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता मति का मन्ता और विज्ञाति का विज्ञाता है, वही आत्मा है।[7]

---

1. तच्चैतद्रेतोऽन्नमयस्य पिण्डस्य सर्वेभ्योऽवयवेभ्यो रसादिलक्षणेभ्यस्तेजः साररूपं शरीरस्य संभूतं परिनिष्पन्नं तत्पुरुषस्यात्मभूतत्वादात्मा। ऐ०उ० 2/1/1
2. संवत्सरो आत्मा संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वा, आत्मा, शरीरम्। कालावयवानां च संवत्सरः शरीरम्, शरीरं चात्मा "मध्यं ह्येषमङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः। बृ०उ० 1/1/1
3. योऽयं विज्ञानमयः स आत्मा। बृ०उ० 4/3/7
   इत्येवमाद्यात्मप्रतिपादनंपराभिः श्रुतिभिरात्मविषयं विज्ञानमुत्पादितम्।–बृ०उ०1/47
4. अयं यः प्रकृतो गृही कर्माधिकृतोऽविद्वाञ्छरीरेन्द्रियसङ्घातादिविशिष्टः पिण्ड आत्मेत्युच्यते। बृ०उ० 1/4/16
5. य इह प्रविश्य प्राणित्यपानिति व्यानित्युदानिति समानितीति। स आत्मा। बृ०उ० 1/4/10
6. यः द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता, स आत्मेति। बृ०उ० 1/4/10
7. दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता, स आत्मेति। बृ०उ० 1/4/10

2.2.44.18 जो पुरुषों का निरोध करके उससे आगे बढ़ा हुआ है वही यह महान् अजन्मा आत्मा है।[1]

2.1.44.16 जो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है वह आत्मा है।[2]

2.1.44.17 जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता मति का मन्ता और विज्ञाता है, वही आत्मा है।[3]

2.1.44.18 जो पुरुषों का निरोध करके उससे आगे बढ़ा हुआ है वही यह महान् अजन्मा आत्मा है।[4]

2.1.44.19 जो मुख नासिका द्वारा संचार करने वाले प्राण से प्राण चेष्टा करता है, तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा प्राण प्रणीत(चेष्टा) युक्त होता है, वह विज्ञानमय कार्य कारण संघात रूप आत्मा है।[5]

2.1.44.20 आत्मा सर्वान्तर सबका अन्तर्वर्ती है।[6]

2.1.44.21 आत्मा दृष्टि का द्रष्टा है, क्योंकि दृष्टि आदि का द्रष्टा होना आत्मा का स्वभाव है।[7] ये दो प्रकार की होती है लौकिकी और पारमार्थिकी; उनमें चक्षु से संयुक्त जो अन्तःकरण की वृत्ति है वह लौकिकी दृष्टि है; वह की जाती है, इसलिए उत्पन्न होती है ओर नष्ट भी होती है; किन्तु जो अग्नि के

---

1. य इह प्रविश्य प्राणित्यपानिति व्यानित्युदानिति समानितीति। स आत्मा। बृ०उ० 1/4/10
2. यः द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता, स आत्मेति। बृ०उ० 1/4/10
3. दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मर्तमेन्ता विज्ञातार्विज्ञाता, स आत्मेति। बृ०उ० 1/4/10
4. स यस्तान्पुरुषान्निऽस्य–अत्यक्रामत्। बृ०उ० 3/9/26
5. यः प्राणेन मुखनासिका–सञ्चारिणा प्राणिति प्राणचेष्टां करोति, येन प्राणः प्रणीयत इत्यर्थः स ते तव कार्यकरण सङ्घातस्य आत्मा विज्ञानमयः। बृ०उ० 3/4/1
6. आत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरः। बृ०उ० 3/4/1
7. दृष्टे–द्रष्टा ह्यात्मा दृष्टिरिति द्विविधा भवति–लौकिकी पारमार्थिकी चेति; तत्र लौकिकी चक्षुः संयुक्ता अन्तःकरणावृतिः, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च;या त्वात्मनोः या त्वात्मनो दृष्टिः अग्न्युष्ण प्रकाशादिवत्। बृ०उ० 3/4/2

उष्णत्व ओर प्रकाशादि के समान आत्मा की दृष्टि है, वह द्रष्टा का स्वरूप होने के कारण उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। क्रियमाण उपाधिभूता दृष्टि से संसर्गयुक्त सी है, इसलिए आत्मा द्रष्टा है। तथा द्रष्टा, दृष्टि ऐसा भेदवत् व्यवहार होता है।

2.1.44.22 आत्मा से भिन्न और सब कार्यभूत शरीर अथवा करणात्मक लिङ्गदेह आर्त नाशवान् है, एक ही अनार्त–अविनाशी अर्थात् कूटस्थ है।[1]

2.1.44.23 आत्मा अगृह है। अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि यह समस्त कार्य–धर्मों से अतीत है, यह अगृह्य है क्योंकि जो व्याकृत वस्तु इन्द्रिय का विषय होता है, वही ग्रहण का विषय होती किन्तु आत्मतत्त्व उससे विपरीत है।[2]

2.1.44.24 आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह असङ्ग है; चूँकि यह पुरुष असङ्ग है, इसलिए यह स्वप्न, दृष्ट, पाप–पुण्य से असंश्लिष्ट हैं इसी से इसमें किसी क्रिया का कर्तृत्व संभव नहीं है। इस प्रकार असङ्ग होने के कारण आत्मा अमूर्त है।[3]

2.1.44.25 आकाशात्पर:

अव्याकृत संज्ञक जो आकाश है, उससे भी परे व्यक्तिरिक्त अथवा व्यापक है। अज–जन्म नहीं लेता, जन्म प्रतिषेध करने से, अस्ति वर्धते आदि आगे भावविकारों का भी प्रतिषेध हो जाता है। वह आत्मा है।[4]

---

1. एतस्मादात्मनोऽन्यदार्तम् कार्यं वा शरीरम् करणात्मकं वा लिङ्गम् एतदेवैकमनार्तम–विनाशी कूटस्थम्। बृ०उ० 3/5/2, पृ० 702
2. सोऽयमात्मागृह्यो न गृह्य: यद्धिकरणगोचरं व्याकृरं वस्तु, तद् ग्रहणगोचरम्, इदं तु तद्विपरीतमात्मतत्त्वम्।
3. अमूर्त्तश्चात्मा, अतोऽसङ्ग यस्माच्चासङ्गोऽयं पुरुष:, तस्मादनन्वागतस्तेन स्वप्नदृष्टेन। अत एव न क्रियाकर्तृत्वमस्य कथञ्चिदुपपद्यते। बृ०उ० 4/3/15
4. पर: परो व्यतिरिक्त: सूक्ष्मो व्यापी वा आकाशादपि अव्याकृतारवयात्। अज: न जायते; जन्म प्रतिषेधाद् उत्तरेऽपि भावविकारा: प्रतिषिद्धा:, सर्वेषां जन्मादित्वात् आत्मा। बृ०उ० 4/4/20

2.1.44.26 आत्मा कर्म के फल या साधन से असम्बद्ध सम्पूर्ण संसारधर्मों से विलक्षण क्षुधादि धर्मों से अतीत, अस्थूलत्व आदि धर्मों से युक्त अजन्मा, अजर, अमर अमृत, अभय लवण खण्ड के समान एक मात्र विज्ञान सत्वरूप, विज्ञान सत्वरूप, स्वयं ज्योति, एकमात्र अद्वितीय, अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अबाह्य है। ऐसा तर्क के द्वारा स्थापित किया गया है।[1]

2.1.44.27 आत्मा जीर्ण नहीं होता, इसलिए अजर है, अर्थात् विपरिणाम नहीं होता। 'अमरः' क्योंकि अजर है, वह अमर जो नहीं मरता वह अमर है। जो उत्पन्न होता है अथवा जीर्ण होता विनष्ट होता है। चूँकि यह अज और अजर होने के कारण अविनाशी है, इसलिए अमृत है।[2]

2.1.44.28 आत्मा अविनाशी है। जिसका विनष्ट होने का स्वभाव हो उसे विनाशी कहते हैं, जो विनाशी न हो वह अविनाशी कहलाता है। विनाशी शब्द से विकार सूचित होता है, अतः आत्मा अविनाशी है।[3]

2.1.44.29 जो पृथ्वी के अन्तर भीतर है, जिस देवता को पृथ्वी देवता भी नहीं जानती कि मेरे भीतर और भी कोई है, जिसका पृथ्वी शरीर है। साथ ही पृथिवी देवता उसके कारण इन्द्रिय है अन्तर्यामी भी पृथ्वी का है वही आत्मा है।[4]

---

1. आत्मा कर्मफलसाधनासम्बन्धीसर्वसंसार विलक्षणः अशनायाद्यतीतः अस्थूलादि धर्मवान् अजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः, सैन्धवधनद्विज्ञानैकर-सस्वभावः, स्वयं ज्योतिरेक एकाद्वन्यः अपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितम्। बृ०उ०
2. आत्मा अजरो न जीर्यत इति न विपरिणमत इत्यर्थः, अमरः यस्माच्च अजरः तस्माद् अमरः न म्रियत इत्यमरः, यो हि जायते जीर्यते च, स विनश्यति म्रियते वा, अयते अजत्वाद् अजरत्वाच्च अविनाशी यतः अतएव अमृतः। बृ०उ० 4/4/25
3. यतो विनष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाश्य विनाशी, विनाशशब्देन, विक्रिया अविनाशीत्य विक्रिय आत्मेत्यर्थः। बृ०उ० 4/5/14
4. पृथिवी पृथ्वीदेवताम् यमयति नियमयति स्वव्यपारे अन्तरोऽभ्यन्तरस्तिष्ठन् एष ते आत्मा। बृ०उ० 3/7/3

2.1.45.1 आत्मक्रीडः

जिसकी आत्मा में ही क्रीडा हो, अन्य स्त्री पुत्रादि में न हो उसे आत्मक्रीड कहते हैं।[1]

2.1.46.1 आत्मकर्तृक

देह का निर्माण भी आत्मा के कर्मों की अपेक्षा से है, इसलिए वह आत्मकर्तृक कहा गया है।[2]

2.1.47.1 आत्मादेश

केवल सत्त्वस्वरूप शुद्ध आत्मा के द्वारा ही जो आदेश किया जाता है, वह आत्मादेश है।[3]

2.1.48.1 आदित्य

जो पुनः पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों के आयु और कर्मफल का आदान-ग्रहण यानी उपादान करते चलते हैं। वे चूँकि इस प्रकार इस सबका आदान करते हुए चलते हुए, इसलिए 'आददाना यन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आदित्य कहलाते हैं।[4]

---

1. चात्मक्रीड आत्मन्येष च क्रीडा क्रीडनं यस्य स्त्री पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः। मु०उ० 3/1/4
2. देहं मायामयमिव, निर्माणमपि तत्कर्मापेक्षत्वाम् स्वयं कर्तृकमुच्यते स्वेन आत्मीयेन। बृ०उ० 4/3/9, पृ० 929
3. आत्मादेश आत्मनैव केवलेन सत्त्वस्वरूपेण शुद्धनादिश्यते। छा०उ० 7/25/2
4. एते हि यस्मात् पुनः-पुनः परिवर्तमानाः प्राणिनामायूंषि कर्मफलं च आददाना गृह्णन्त उपाददतो गच्छन्ति ते यद् यस्मादेवमिदं सर्वमाददानायन्ति तस्मादादित्या इति। बृ०उ० 3/9/5

2.1.49.1 आनंद

आत्मा से आनन्द कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। अर्थात् विषय और विषयिरूप से जो सम्पन्न हो उसे आनन्द या परमानन्द कहा गया है।[1]

2.1.49.2 लोक में आनन्द शब्द ब्रह्म के विशेषणरूप में श्रुत है, अन्य श्रुतियों में भी यह ब्रह्म के विशेषण रूप में श्रुत हुआ है, जैसे ''आनन्दो-ब्रह्मेति व्यजानात्'' ''आनन्द ब्राह्मणोविद्वान्'' यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ''यो वै भूमा तत् सुखम्'' ऐसे ही ''एष परम आनन्दः'' इत्यादि श्रुतियाँ है। किन्तु आनन्द शब्द संवेद्य (ज्ञेय) सुख के अर्थ में भी प्रसिद्ध है, अतः यदि ब्रह्मानन्द भी संवेद्य (ज्ञेय) हो तभी ब्रह्म में ये 'आनन्द' शब्द सार्थक हो सकते हैं।[2]

2.1.49.3 आनन्द यह उपनिषद् है। क्योंकि मन ही आनन्द है। मन में स्त्री की इच्छा करते हुए उसका अभिहरण अर्थात् प्रार्थना करता है। अतः जिस स्त्री की कामना करते हुए प्रार्थना करता है, उसी में प्रतिरूप अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, वह पुत्र आनन्द का हेतु है। जिस मन के द्वारा वह निष्पन्न होता है, वह मन आनन्द है।[3]

---

1. परमानन्दस्यैवेयं विषयविषय्याकारेणमात्रा प्रसृतेति ह्युक्तम् यत्र वा अन्यदिव स्यात् इति वाक्येन। परम आनन्दः इत्यभेदनिर्देशः। युधिष्ठिरादितुल्यो राजात्रोदाहरणम्। बृ०उ० 4/3/33
2. लोके सुखवाची प्रसिद्धः अत्र च ब्रह्मणो विशेषणत्वेन आनन्द-शब्दः श्रूयते ''आनन्दं ब्रह्मेति।'' श्रुत्यन्तरे ''आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्'' तै०उ० 3/6/1, आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् यदेष तै०उ० 3/4/1, आकाश ''आनन्दो न स्यात् तै०उ० 2/8/2, यो वै भूमा तत् सुखम्'' छा०उ० 7/23/1, इति च एष परमं आनन्दः बृ०उ० 4/3/33 इत्येवमाद्या। बृ०उ० 3/9/28
3. आनन्द इत्युपनिषत् यस्मान्मनः एवानन्दः, तस्मान्मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिकामय-मानोऽभिहार्यते प्रार्थयत् इत्यर्थः। तस्माद् यां स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते, तस्यां प्रतिरूपोऽनुरूपः पुत्रो जायते; स आनन्द-हेतुः पुत्रः स येन मनसा निर्वर्त्यते तन्मन आनन्दः। बृ०उ० 4/1/6

2.1.50.1 आप्तकाम:

स्वयं–ज्योति: स्वरूप आत्मा का यह रूप आप्तकाम है, इसलिए इस रूप में समस्त काम प्राप्त रहते हैं, अत: इसे आप्तकाम कहते हैं।[1]

2.1.50.2 जिसने सब कामनाओं को प्राप्त कर लिया वह आप्तकाम है।[2]

2.1.51.1 ईश

ईश् प्रथमान्त प्रातिपदिकरूप है जो ईशन (शासन) करे उसे ईट् कहते हैं, उसका तृतीयान्त रूप ईशा है।[3]

2.1.52.1 ईश्वर

अमृत ब्रह्म ही ईश्वर है।[4]

2.1.53.1 उद्गीथ

उद्गाता 'ॐ' इस अक्षर से आरंभ करके उद्गान करता है, इसलिए ओंकार उद्गीथ है।[5]

2.1.53.2 जो प्रणव है वही छा०उ० में अद्गीथ शब्द से कहा, है वह आदित्य ही उद्गीथ है।[6]

---

1. स्वयंज्योति: स्वभावस्यैतद् रूपमाप्तकामम् यस्मात् समस्तमेतत्, तस्मादाप्ता: कामा अस्मिन् रूपे तदिदमाप्तकामम्। बृ०उ० 4/3/21
2. य आप्तकमो भवत्याप्ता: कामा येन स आप्तकाम:। बृ०उ० 4/4/6
3. ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा। ई० 30/1
4. अमृतं ब्रह्मैवेश्वर इत्यर्थ:। श्वे०उ० 1/10
5. ओमित्यारभ्य हि यस्मायदुद्गायत्यत उद्गीथ ओंकार इत्यर्थ:। छा०उ० 1/1/1
6. यश्चप्रणवतेषां एव छान्दोग्य उद्गीथ शब्दवाच्य:। छा०उ० 1/5/1

2.1.53.2 उत् प्राण है, और गीथा प्राणतन्त्रा है, अतः इन दोनों का एक ही शब्द से कथन होता है वह शब्द उद्गीथ कहलाता है।[1]

2.1.54.2 उ्दगीथभक्ति

जो सम्प्रतिमध्यन्दिन में अर्थात् ठीक मध्याह्न में (आदित्य का रूप होता है) वह उद्गीथ भक्ति है।[2]

2.1.54.1 ऊँ

जो अक्षर परमात्मा का सबसे समीपवर्ती (प्रियतम) नाम है, वह ऊँ है।[3]

2.1.56.1 एकदेव

प्राण ब्रह्म जो सर्वदेवरूप होन के कारण महद् ब्रह्म है इसे एकदेब कहा गया है।[4]

2.1.57.1 एक हंस

अकेला ही (हन्ति) चलता है इसलिए एक हंस हैं वह अकेला ही जाग्रत् स्वप्न तथा इहलोक परलोकादि में जाता है, अतः एकहंस है।[5]

2.1.58.1 एकर्षि – जो एक ऋषि हो, वह एकर्षि हैं दर्शन करने के कारण वह ऋषि है क्योंकि वही सम्पूर्ण जगत् का आत्मा और नेत्र होकर

---

1. उच्च प्राणो गीथा च प्राणतन्त्रा वागित्युभयमेकेन शब्देनाभिधीयते स उद्गीथः। बृ०उ० 1/3/23
2. यत्सम्प्रति मध्यन्दिन ऋजुमध्यन्दिन इत्यर्थः।
   उद्गीथीभक्तिस्तदस्य देवा अन्वायत्ताः। छा०उ० 2/9/5
3. ओमित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम्। छा०उ०1/1/1
4. प्राण इति स प्राणो ब्रह्म – सर्वदेवात्मकत्वान्महद् ब्रह्म तेन स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते।
5. एकहंस – एक एव हन्तीत्यकेहंसः – एको जाग्रतस्वप्नेहलोकपरलोकादीन् गच्छतीत्येक–हंसः। बृ०उ० 4/3/11/

सबको देखता है। अथवा वह अकेला ही चलता है, इसलिए एकर्षि है।[1]

2.1.59.1 एतदात्म

जिस सबकी एतत् (यह) सत् आत्मा है उसे एतदात्म कहते है।[2]

2.1.60.1 एवंवित्

ब्रह्म के नाम का निर्वचन करके ही उसकी स्तुति की जाती है। उस नामी को जानने वाला एवंवित् कहलाता है।[3]

2.1.61.1 ओंकार

यद्यपि 'ब्रह्म' और 'आत्मा' आदि शब्द ब्रह्म के वाचक हैं, तथापि श्रुति प्रामाण्य से ब्रह्म का अत्यन्त समीपवर्ती (प्रियतम) नाम ओंकार है।[4]

2.1.61.2 ऋक्, यजुः और साम रूप भेदों से विभिन्न हुआ श्रुति समुदाय ही ओंकार है।[5]

2.1.61.3 संगववेला में सूर्यदेव का जो रूप होता है वह आदि भक्ति विशेष ओंकार है।[6]

2.1.62.1 औपनिषद

उपनिषदों में वर्णित यानी अपनिषत्प्रसिद्ध। औपनिषद कहलाता है।[7]

---

1. एकर्ष एकश्चासावृषिचैकर्षिदर्शनादृषिः, स हि सर्वस्य जगत् आत्मा चक्षुश्च सन् सर्वेपश्यत्येको वा गच्छतीत्येकर्षिः। बृ०उ० 5/1/1
2. सर्वस्य तदेतदात्म तस्य भाव ऐतदात्म्यत्। छा०उ० 6/8/7
3. ब्रह्म नामनिर्वचनेनैव नामवतो वेतैवंवित्। छा०उ० 8/3/5/
4. यद्यपि ब्रह्मणो वाचकास्वथापि श्रुति प्रामाण्याद् ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानमोङ्कारः। बृ०उ० 5/1/1
5. सर्वत्रृग्यजुः सामादिभेदभिन्न एव ओङ्कारः। बृ०उ० 5/1/1
6. संगववेलायां यत्सावित्रं रूप स आदिर्भक्ति विशेष ओङ्कारः। छा०उ० 2/9/4
7. औपनिषदमुपनिषत्सुभवं प्रसिद्धं। मु०उ० 2/2/3

2.1.63.1 कृतात्मा

जिनका आत्मा परमात्म स्वरूप से ही निष्पन्न हो गया हो उसे कृतात्मा कहते हैं।[1]

2.1.64.1 गोपा

गोपायिता अर्थात् रक्षा करने वाला। अर्थात् जो भुवन (समस्त लोकों) की रक्षा करता है उसे गोपा कहते हैं।[2]

2.1.64.2 'अपश्यं गोपामित्याह प्राणा वै गोपा:' ऐसा कहा गया है, और फिर दुबारा मैंने गोप का दर्शन किया है वह सूर्य ही गोपा है ऐसा कहा गया है।[3]

2.1.65.1 गुहाचर

प्रकाशमान ब्रह्म दर्शन श्रवणादि प्रकारों से गुहा (बुद्धि) में सञ्चार करता है, इसलिए गुहाचर नाम से विख्यात है।[4]

2.1.66.1 घाना

घाना बीज को कहते हैं, उस बीज से होने वाला ही वृक्ष होता है, वह केवल तने से ही उत्पन्न नहीं होता।[5]

---

1. कृतात्मान: परमात्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मान: सन्तो वीतराग: वीतरागादिदोषा: प्रशान्ता उपरतेन्द्रिया:। मु०उ० 3/2/5/
2. सर्वां लोकस्तस्य गोपा गोपायिता रक्षिता गोप्तेत्सर्थ:। छा०उ० 4/3/6
3. 'अपश्यं गोपा मित्याह प्राणा वै गोपा:' इति अपश्यं गोपामित्याह असौ वा गोपा: इति। श्वे०उ० 1/3
4. गुहायां चरतीति दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम् महत्सर्वं महत्त्वात्। मु०उ० 2/2/1
5. घानारुह: घाना बीजम् बीजरुहोऽपि वृक्षो भवति, न केवलं काण्डरुह एव। बृ०उ० 3/9/5

2.1.67.1 चतुष्पाद् – वह यह मन संज्ञक ब्रह्म चतुष्पाद् है। जिसके चार पाद हो उसे चतुष्पाद् कहते हैं ।[1] इनके पाद क्रमशः वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र हैं।

2.1.68.1 जागरित

शास्त्रादि सम्पूर्ण व्यवहार का आश्रयभूत ग्राह्य ग्रहण रूप जो द्वैत है, वह 'लौकिक' लोक से दूर न रहने वाला अर्थात् जागरित कहलाता है।[2]

2.1.69.1 जिष्णु

उपासना के फल को जिष्णु कहते हैं, जो जयनशील है। न होने के स्वभाववाला और अन्यतस्त्यजायी अन्यतसत्य अर्थात् शत्रुओं को जीतने वाला होता है।[3]

2.1.70.1 तैजस

जो अपनी विषय शून्य और केवल प्रकाश स्वरूप प्रज्ञाका विषयी (अनुभव करने वाला) हो उसे तैजस कहा जाता है।[4]

2.1.71.1 तातमम

पुरुष (शरीर रूपी) पुर में शयन करने वाले आत्मा को ततम कहते हैं।

---

1. तदेपन्मन आख्यं चतुष्पाद् ब्रह्म, चत्वारः पादा अस्येति। छा०उ० 3/18/2
2. शास्त्रादि सर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यकलक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं लोकिकं जागरितमित्येतत्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 87
3. जिष्णुर्ह जयनशीलोऽपरा जिष्णुर्न च परैर्जितस्वभावो अन्यतस्त्यजायी अन्यतसत्यानां सपत्नानां जयनशीलो भवति। बृ०उ० 2 1/6
4. विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। मा०उ०गौ०का० 4

इसमें एक तकार का लोप हुआ है अतः ताततम – व्याप्ततम अर्थात् के समान परिपूर्ण महान् ब्रह्मरूप से यह जाना जाता है।[1]

2.1.72.1 तुष्टि

चार प्रकार की प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामवाली तथा पाँच विषयों से उपरति हो जाने की स्थिति को तुष्टि कहते हैं।[2]

2.1.73.1 दुर्दर्श

परमार्थ तत्त्व वेदान्त विज्ञान से रहित सभी योगियों को कठिनता से दिखायी देता है इसलिए उनके लिए यह दुर्दर्श है।[3]

2.1.74.1 दुरत्यय

निश्चित अर्थात् पैनायी हुई छुरे, की धार का अग्रभाग जिस प्रकार दुरत्यय होता है उसी प्रकार इस ज्ञान मार्ग को कठिनता से पार किये जाने के कारण दुरत्यय कहा जाता है। जिस प्रकार उसपर पैरों से चलना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार यह आत्मज्ञान मार्ग बड़ा दुर्गम अर्थात् दुष्प्राप्य है।[4]

2.1.75.1 दैववित्त

दैववित्त को एषणा के बीच पढ़ा गया है, हिरण्य गर्भादि देवता विषयिणी विद्या ही दैववित्त है।[5]

---

1. पुरुषं पुरि शयानमात्मानं ब्रह्म तकारेणैकेन लुप्तेन ताततमं व्याप्ततमं व्याप्ततमं परिपूर्णमाकावत्प्रबुध्यतापश्यत्। ऐ०उ० 1/3/13
2. तुष्टिर्नवध प्रकृत्युपादनकालभाग्याख्याश्चतस्तः। विषयोपरमात्पञ्च। श्वे०उ० 1/4
3. दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः वेदान्त विहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिः। मा०उ०/अद्वै०प्र० 39
4. क्षुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्ययादुः खेनात्ययो यस्याः सा दुरत्या यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया यथादुर्गं दुःसंसाद्यमित्येतत् पथः पत्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति। क०उ० 1/3/14
5. तठितत्वादेषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य; हिरण्यगर्भादिदेताविषयै व विद्या वित्तमित्युच्यते। बृ०उ० 3/5/1

2.1.76.1 द्रष्टा

आत्मा द्रष्टा स्वरूप होने के कारण न उत्पन्न होता है, और न नष्ट होता है वह क्रियमाण उपाधिभूता दृष्टि से संसर्ग युक्त-सा है, इसलिए आत्मा 'द्रष्टा' है।[1]

2.1.77.1 धृति

सत्य प्राप्त करने की दृढ़ मनः स्थिति को धृति कहते हैं।[2]

2.1.78.1 नाम

नाम तो नित्य है, वह अनन्त ही है, नित्य होना ही नाम का अनन्तत्व है।[3]

2.1.79.1 प्रजापति

जिस प्रकार प्रतिमादि में विष्णुत्वादि की प्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार इस लोक कालादि में देवत्वरूप से प्रजापति प्रतिष्ठित हैं।[4]

2.1.80.1 प्राण

पुरुष जो प्राणन करना है अर्थात् मुख और नासिका द्वारा वायु को बाहर निकालता है, वायु का 'प्राण' नामक वृत्ति विशेष है।[5]

---

1. सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च। सा क्रियमाणोपाधिभूतया संसृष्टेवेति व्यपदिश्यते द्रष्टेति भेद वाच्य-द्रष्टा दृष्टिरिति च। बृ०उ० 3/4/2
2. सत्या अवितथाविषयाधृतिर्यस्य तव सत्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाहमृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये। क०उ० 1/2/9
3. नित्यत्वमेवान्त्यं नाम्नः। बृ०उ० 3/2/12
4. एवंरूपो हि प्रजापतिः विष्णुत्वादि-करणमिव प्रतिमादौ प्रजापतिः। बृ०उ० 1/1/1
5. यद्वैपुरुषः प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निस्सारयति, स प्राणाख्यो वायोर्वृत्तिविशेषः। छा०उ० 1/3/3

2.1.81.1 पिता

सबका उत्पत्तिकर्त्ता होने के कारण उसका पितृत्व (आदित्य का) है इसलिए उसे पिता कहते हैं।[1]

2.1.82.1 प्रतिष्ठा

जो तीनों कालों में आश्रय हो वह प्रतिष्ठा कहलाता है।[2]

2.1.83.1 प्रत्यगात्मा

जो सम्यक् अन्तरतम सबसे भीतर हो (सम्पूर्ण विषयों को जानने वाला) हो और आत्मा भी हो उसे प्रत्यगात्मा कहते हैं।[3]

2.1.84.1 प्रथमज

समस्त संसारियों से पहले उत्पन्न हुए, यह ब्रह्म ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ था, इसलिए यह प्रथमज है।[4]

2.1.85.1 पद

सारे पदार्थों का आश्रय होने का कारण ब्रह्म को पद कहा है।[5]

2.1.86.1 प्रपञ्च

जिनके राग भय और क्रोधादि समस्त वे दोष निवृत्त हो गए हैं, उन मुनियों अर्थात् सर्वदा मननशील विवेकियों और वेद के पारगामियों यानि वेदार्थ के मर्मज्ञ वेदान्तार्थ परायण तत्त्वज्ञानियों द्वारा यह सब प्रकार के विकल्पों

---

1. पितरं सर्वस्यं जनयितृत्वापितृत्वं तस्य। प्र०उ० 1/11
2. प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेषु य आश्रयः। बृ०उ० 4/1/2
3. प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्यासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा। क०उ० 2/1/1
4. पूज्यं प्रथमजं प्रथमजातं सर्वस्मात् संसारिण एतदेवाग्रे जातं ब्रह्म, अतः प्रथमजम्। बृ०उ० 5/4/1
5. सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात्। मु०उ० 2/2/1

से रहित निर्विकल्प और प्रपञ्चोपशमद्वैतरूप भेद के विस्तार का नाम प्रपञ्च है।[1]

2.1.87.1 पराकाष्ठा

निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है। जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो क्षुधादि संसार धर्मों से अतीत सर्वान्तर आत्मा है जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, वह अक्षर ही पराकाष्ठा है।[2]

2.1.88.1 परिच्छित्ति

अमात्र तुरीय ओंकार है, जिससे मान किया जाय उसे मात्रा अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं।[3]

2.1.89.1 परब्रह्म

ऋग्वेदादि, इष्ट – याग से होने वाले धर्म, हुत-होम से होने वाले धर्म, आशित अन्नदानजनित धर्मपायित – जलदानजनित यह लोक, यह जन्म परलोक आगे प्राप्त होने वाला जन्म और सम्पूर्ण भूत हे सम्राट्! सबका वाक् से ही ज्ञान होता है, अतः हे सम्राट्! वाक् ही परब्रह्म है।[4]

---

1. विगत रागभयद्वेष क्रोधादि सर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगत-वेदार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभिर्निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्ट उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः प्रपञ्चः। मा०उ०/वै०प्र० 35
2. यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरोऽशनायादिसंसारधर्मातीतः, यस्मिन्नाकाश ओतश्चप्रोतश्च एषा पराकाष्ठा। बृ०उ० 3/8/11
3. अमात्रस्तुरीय ओङ्कारः। मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः। मा०उ०/आ०शा०प्र० 29, पृ० 66
4. ऋग्वेदादिइष्टं यागनिमित्तं धर्मजातम्, हुतं होम - निमित्तं च, आशितमन्नदाननिमित्तम्, पायितं पानदन-निमित्तम् अयं च लोकः, इदं च जन्म, परश्च लोकः प्रतिपत्तव्यं च जन्म, सर्वाणि च भूतानि-वाचैव सम्राट्! प्रज्ञायन्ते। अतो वै सम्राट् परं ब्रह्म। बृ०उ० 4/1/2

2.1.78.1 प्राण ही परब्रह्म है।[1]

2.1.90.2 परिभू

सबके परि अर्थात् ऊपर है। इसलिए परिभू है।[2]

2.1.91.1 परमात्मा

सबका ईशन करने वाला परमेश्वर परमात्मा है।[3]

2.1.91.2 यह क्षेत्रज्ञसंज्ञक जीवात्मा प्रकृति के गुणों से युक्त है और उन्हीं से रहित होने पर यह शुद्ध स्वरूप परमात्मा कहा जाता है।[4]

2.1.91.3 जो अकेला इस सम्पूर्ण विश्व को अधिष्ठित नियमित करता है तथा जो सत्त्व, रज़ एवं तमोरूप गुणों को नियुक्त करता है ऐसे लक्षणों वाला परमात्मा है।[5]

2.1.92.1 परमानन्द

इस आनन्द के लेश से ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं वह यह हिरण्यगर्भ आनन्द जिसकी मात्राएं (लेशमात्र आनन्द) समुद्र के जल की बूँदों के समान विभक्त हो पुनः उसमें एकत्व को प्राप्त हुई है वही अद्वैतरूप होने से स्वाभाविक परमानन्द है।[6]

---

1. तस्मात् प्राणौवै परमंब्रह्म। बृ०उ० 4/1/3
2. परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः।ई०उ० 8
3. ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। ई०उ० 1
4. आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञाऽयं संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।तैरेव विगतः शुद्धः परमात्मा निगद्यते। श्वे०उ०1/8
5. सर्वमेताद्विश्वमाधितिष्ठति नियमयत्येकः। गुणांश्च सत्वरजस्मोरूपान्विनियोजयेद्यः। एवं लक्षणः स परमात्मा। श्वे०उ०5/5
6. ''एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ०उ० 4/3/32) इति श्रुत्यन्तरात्। स एष आनन्दो यस्य मात्राः समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां गताः स एषः परमानन्दः। तै०उ० 2/8/4

2.1.93.1 पराविद्या

उपनिषद्वेद्य अक्षरविषयक विज्ञान ही पराविद्या है।[1]

2.1.93.2 धीर बुद्धिमान् विवेकी पुरुष सब ओर देखते हैं, ऐसा अक्षर जिस विद्या से जाना जाता है, वही 'पराविद्या' है।[2]

2.1.94.1 पुरुष

जो पुरुषाकार होने से अथवा जो प्राण और बुद्धिरूप से समस्त जगत् को पूर्ण किए हुए है या जो शरीर रूप पुर में शयन करता है वह पुरुष है।[3]

2.1.94.2 उस अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण कारणों का कारण तथा प्रत्यगात्मरूप होने से पुरुष पर–सूक्ष्मतर एवं महान् है इसलिए सबमें पूरित रहने के कारण पुरुष कहा जाता है।[4]

2.1.94.3 जो सर्वत्र पूर्ण अथवा शरीररूप पुर में शयन करता है वह पुरुष है।[5]

2.1.94.4 जो शरीर रूपी पुर में शयन करने के कारण अथवा उसने भू: आदि सम्पूर्ण लोकों को पुरित किया हुआ है इसलिए पुरुष कहलाता है।[6]

---

1. पराविद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशि:। मु०उ० 1/5
2. धीरा: धीमन्तो विवेकिन:। ईदृशमक्षरं यथा विद्ययाधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थ:। मु०उ०1/6
3. प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुष: पुरि शयनाद्वा पुरुष:। ई०उ०16
4. तस्मादव्यक्तापर: सूक्ष्मतर: सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च अतएव पुरुष: सर्व पुरणात्। क०उ०शा०भा० 1/3/11
5. तं पुरुष कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात् पुरुषं पूरि शयनाद्वा वेद जानीयात्। प्र०उ० 6/6
6. साशरि शयनात् पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुष:। तै०उ० 1/6/2
   पुरुष: पुरि शयनात्पूरयति वा स्वेनात्मना जगदिति। छा०उ० 1/6/6

2.1.94.5 पुरुष दिव्य, अमूर्त, बाहर, भीतर विद्यमान और अजन्मा है। वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है। वह यह महान् अजन्मा, अजर, अमर एवं अमृत है। वह न कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है।[1]

2.1.94.6 पुरुष पुर में शयन करने के कारण पुरुष कहलाया।[2]

2.1.95.1 पुरुषार्थ

अनित्य वस्तुओं के संसर्ग से विज्ञान की 'मलिनता और उनके वियोग से विशुद्ध होता है उस विज्ञान का निर्वाण ही पुरुषार्थ है'।[3]

2.1.96.1 प्राज्ञ

भूत-भविष्यत् विषयक का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता यही (आत्मा का तुरीय) है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होने पर भी इसे भूतपूर्वगति से 'प्राज्ञ' कहा जाता है।[4]

2.1.97.1 प्रज्ञात्मा

जिस प्रकार रथ अरों में नेमि अर्पित है ओर रथ की नाभि में अरे अर्पित हैं, इसी प्रकार यह भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा में अर्पित है और प्रज्ञामात्रा प्राण में अर्पित है। वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है।[5]

2.1.98.1 ब्रह्म

लोक जिसे मनोवृत्ति से युक्त आकाश के कार्यभूत तथा दिशारूप देवता से अधिष्ठित श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा नहीं सुन सकता अर्थात् जिसे श्रोत्र से विषय नहीं

---

1. आकाशवान्सर्वगतश्चनित्यः स एव महाजन आत्माजरोऽमरोमृतः। बृ०उ० 4/4/25
2. पुरुषः पुरि शयनात्। बृ०उ० 2/1/16
3. अनित्यसंसर्गेण मलिनत्वं तद्रविशुद्धिश्च तस्य विज्ञानस्य निर्वाणपुरुषार्थं कल्पयति। बृ०उ० 4/3/7, पृ० 919-20
4. भूत भविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। मा०उ०/गौ०का० 5, पृ० 17
5. तद्यथा रथास्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिता स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा कौ०उ० 3/8।

कर सकता, बल्कि जिस चैतन्य आत्मज्योति द्वारा यह प्रसिद्ध श्रोत्र सुना यानी विषय किया जाता है, वही ब्रह्म है।[1]

2.1.98.2 अन्तःकरण की और प्राण की वृत्तियों के सहित नासिकारन्ध्र में स्थित एवं पृथ्वी के कार्यभूत प्राण यानी घ्राण के द्वार जो प्राणन अर्थात् गन्धयुक्त को विषय नहीं करता, बल्कि जिस चैतन्य आत्मज्योति से प्रकाश्यरूप से प्राण अपने विषय की ओर प्रवृत्त किया जाता है वही ब्रह्म है।[2]

2.1.98.3 ब्रह्म विज्ञान एवं आनंद स्वरूप है।[3]

2.1.98.4 प्राण ही ब्रह्म है।[4]

2.1.98.5 नित्य अविनाशी ज्ञान स्वरूप प्राकशमय आत्मा ही ब्रह्म है।[5]

2.1.98.6 'असत्' इस शब्द से, जिनके नाम रूप व्यक्त हो गए हैं, उन विशेष पदार्थों से विपरीत स्वभाववाला अव्याकृत ब्रह्म कहा जाता है।[6]

2.1.98.7 यह नाम रूपमय विकार को प्राप्त होने वाला और प्रमाणों का विषयभूत जगत् ब्रह्म-कारणरूप ही है। वृद्धतम (सबसे बड़ा)होने के कारण वह (जगत् का कारण) ब्रह्म कहलाता है।[7]

---

1. यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाश कार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयी करोति लोकः,येन श्रोत्रम् इदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव ब्रह्म। के०उ०1/7, पृ० 52
2. यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तः करणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिवावभारस्यत्वेन स्वविषयं प्रतिप्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम्।
3. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृ०उ० 3/8/28, के०उ० 2/4, पृ०27
4. प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐ०उ० 5/3, पृ०78
5. तस्मात् नित्यालुप्तज्ञानस्वरूप ज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः। के०उ० 1/4, पृ० 78-79
6. असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमव्याकृतिं ब्रह्मोच्यते। तै०उ० 2/7/1, पृ० 174
7. इदं जगन्नाम रूपाविकृतं प्रत्यक्षादिविषयं ब्रह्म कारणं वृद्धतमत्वाद्ब्रह्म। छा०उ०3/4/1

2.1.98.8 इस सूक्ष्मगृह में दहर – अत्यन्त सूक्ष्म अन्तराकाश यानी आकाश संज्ञक ब्रह्म है।[1]

2.1.98.9 ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला ब्राह्मण ही ब्रह्म है।[2]

2.1.98.10 वाक् ही ब्रह्म है, अर्थात् वाग् देवता ब्रह्म है।[3]

2.1.98.11 वर्कु इस नाम वाले वार्ष्ण–वृष्ण के पुत्र ने कहा कि चक्षु ही ब्रह्म है।[4]

2.1.98.12 गर्दभी विपीत ऐसे नामवाले गोत्रतः भारद्वाज ने कहा है कि श्रोत्र ही ब्रह्म है।[5]

2.1.98.13 ब्रह्म सब ओर से बढ़ा हुआ अर्थात् निरतिशय महान्। ब्रह्म अभया ही है, लोक में ये बात प्रसिद्ध हैं कि ब्रह्म अभय है इसलिए ऐसे वाला आत्मा ब्रह्म है।[6]

2.1.98.14 ब्रह्म अप्रेमय–अप्रमेय है, कारण ब्रह्म में सबही एकता है। अन्य के द्वारा ही अन्य की प्रमिति (प्रमा वृद्धि) होती है, किन्तु ब्रह्म तो एक ही है तथा 'ध्रुव–कूटस्थ–यानी' विचलित न होने वाला है।[6]

2.1.98.15 द्वैताद्वैत रूप एक ही ब्रह्म है, वह शोक मोहादि से अतीत होने के कारण उपदेश की आकांक्षा नहीं रख सकता है। इसके अतिरिक्त उपदेश

---

1. दहरोऽल्पतरोस्मिन्दहरे वेश्मनि वेश्मनोऽल्पत्वातदन्तर्वर्तिनोऽल्पतरत्वं वेश्मनोऽन्तराका–शाख्यं ब्रह्म छा०उ० 8/1/1
2. ब्रह्म ब्रह्मभावी 'पुरुषो ब्राह्मणः' इति व्याचक्षते। बृ०उ० 4/1/2
3. वाग् वै ब्रह्मेति वाग्देवता ब्रह्मेति। बृ०उ० 4/1/2
4. यदेवते कश्चिद् वर्कुरिति नामतो वृष्णस्यापत्यं वार्ष्णः, 'चक्षुवै ब्रह्मेति'। बृ०उ०4/1/4
5. भारद्वाजो गोत्रतः, श्रोत्रं वै ब्रह्मेति। बृ०उ० 4/1/5
6. ब्रह्म परिवृढं निरतिशयं महदिव्यर्थः। अभयं वै ब्रह्म, प्रसिद्धमेतद् लोके अभयं ब्रह्मेति। तस्माद्युक्तमेवंगुण विशिष्ट आत्मा ब्रह्मेति। बृ०उ० 4/4/25
7. यस्मादेतद् ब्रह्म अप्रमेयम् सर्वैकत्वात्: अन्येन हि अन्यत प्रमीयते, इदं त्वैकमेव अतोऽप्रमेयम्: ध्रुवं नित्यंकूटस्थमविचालीत्यर्थः। बृ०उ० 4/4/20

करने वाला भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता; द्वैताद्वैत रूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है।[1]

2.1.98.16 विष्णु आदि की प्रतिमाओं का विष्णु आदि के साथ अभेदरूप से चिन्तन किया जाता है, उसी का नाम ओङ्कार ब्रह्म है।[2]

2.1.98.17 हिरण्यमय ज्योतिर्मय पात्र से जिस प्रकार से अपनी अभीष्ट वस्तु ढक दी जाती है, इसी प्रकार यह सत्यसंज्ञक ब्रह्म मानो ज्योतिर्मय मंडल से ढका हुआ है।[3]

2.1.98.18 ओङ्कार वेदवाचक यानी नाम है, उस नाम से जो वेदितव्य प्रकाशित होने वाला अर्थात् कहा जानेवाला है, वह ब्रह्म है।[4]

2.1.98.14 ब्रह्मनिष्ठ

सम्पूर्ण कर्मों को त्यागकर जिसकी केवल अद्वितीय ब्रह्म में ही निष्ठा है, वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है।[5]

2.1.100.1 ब्रह्मपुर

ब्रह्मपुर है, क्योंकि चैतन्य स्वरूप से इस (हृदय कमलस्थित आकाश) में ब्रह्म की सर्वदा अभिव्यक्ति होती है, इसलिए हृदयकमल ब्रह्मपुर है।[6]

---

1. एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्यतीतत्वादुपदेशं न काङ्क्षति। चोपदेष्टा अन्यो ब्रह्मणो द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्येवाभ्युपगमात्। बृ०उ० 5/1
2. विष्णवादिप्रतिमाभेदेनैवमोङ्कारोब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यः। तथा ह्योङ्कारालम्बनस्य ब्रह्म प्रसीदति। बृ०उ० 5/1/1
3. हिरण्यमयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण यथा पात्रेणेष्टं वस्त्वपिधीयते, एवमिदं सत्याख्यं ब्रह्मज्योतिर्मयेन मण्डले नापिहितमिवासमाहितचेतसामदृश्यत्वात्। बृ०उ० 5/15/1
4. तस्माद् वेद ऊँकारों वाचकोऽभिधानम्। तेनाभिधानेन यद्-वेदितव्यं ब्रह्म प्रकाश्यमान-मभिधानं वेद साधको विज्ञानात्युपलभते। बृ०उ० 5/1/1
5. हित्वा सर्व कर्माणि केवलेऽद्वये निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठः।
6. ब्रह्मपुरे, ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्राह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योमतस्मिन्व्योम्न्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे। मु०उ० 2/2/7

2.1.101.1 ब्रह्मलोक

ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होने से पूर्व ब्राह्मणत्व गौण रहता है (मुख्य नहीं) ब्रह्म ही लोक है अर्थात् मुख्य (प्रधान) एवं उपचार रहित सर्वात्मभावरूप ब्रह्मलोक है।[1]

2.1.102.1 ब्रह्मवित्

जो परमात्मा को जाननेवाला है, उसे ब्रह्मवित् कहते हैं।[2]

2.1.103.1 ब्रह्मा

परिवृढ (सबसे बढ़ा हुआ) अर्थात् महान्, जो धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य में अन्य सबसे बढ़ा हुआ था। अतः वह ब्रह्मा है।[3]

2.1.104.1 मघवा

इन्द्र अर्थात् परमेश्वर जो बलवान् होने के कारण मघवा कहा गया है।[4]

2.1.105.1 मधु

यह जो आदित्य का शुक्ल रूप दिखायी देता है वह मधु है।[5]

2.1.106.1 मनोज्योति

जो मन रूप ज्योति से संकल्प-विकल्पादि कार्य करता है वह देव मनो ज्योति है।[6]

---

1. ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोको मुख्यो निरुपचारितः। बृ०उ० 4/4/23
2. ब्रह्मवित् परमात्मवित्। बृ०उ० 3/7/1
3. ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानाज्ञेत इति। मु०उ० 1/1/1
4. इन्द्रः परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात्तथेति तदभ्यद्रवत्। के०उ० 3/11
5. मध्वेतदादित्यस्य दृश्यते शुक्लं रूपम्। छा०उ० 3/2/2-3
6. मनोज्योतिः मनसा ज्योतिषा संकल्पविकल्पादिकार्यं करोति यः सोऽयं मनोज्योतिः। बृ०उ०39/10

2.1.107.1 मन्ता

मन शक्ति लुप्त न होने के कारण समस्त मनों में सन्निहित होने से वह मन्ता है।[1]

2.1.108.1 महत्

सबसे बड़ा होने के कारण वह (ब्रह्म) महत् है।[2]

2.1.109.1 महत् पद

क्योंकि इस ब्रह्म में ही रथ की नाभि में अरों के समान यह सबकुछ समर्पित अर्थात् भली प्रकार प्रवेशित है। इसलिए महत् पद है।[3]

2.1.110.1 महद्ब्रह्म

प्राण सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म कहलाता है।[4]

2.1.111.1 महद्भय

जो ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है, वह महान् भयरूप है अर्थात् इससे सब भय मानते हैं, इसलिए महद्भय है।[5]

2.1.112.1 महेश्वर

जो महान् तथा ईश्वर हो अर्थात् इस ब्रह्म को महान् तथा ईश्वर होने के कारण महेश्वर की संज्ञा दी गई है।[6]

---

1. अलुप्तमननशक्तित्वात् सर्वमन:सु सन्निहितत्वाच्च मन्ता। बृ०उ० 3/7/23
2. महत्सर्वमहत्वात्। मु०उ० 2/2/1, पृ० 63
3. यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविवारा: । मु०उ० 2/2/1
4. प्राण इति स प्राणो ब्रह्म – सर्वदेवात्मकत्वान्महद्ब्रह्म। बृ०उ० 3/9/9
5. यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्। क०उ० 2/3/2
6. महांश्चासावीश्वरश्चेति महेश्वर: । श्वे०उ० 4/10

2.1.113.1 मातरिश्वा

'मातरि' अर्थात् अन्तरिक्ष में श्वयन (विचरण) करने के कारण वह 'मातरिश्वा' है।[1]

2.1.114.1 मायावी

प्रकृति माया है और उसका अधिष्ठाता सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म (मायारूप) उपाधि के कारण मायावी है।[2]

2.1.115.1 रम्

बल के आश्रयभूत प्राण के रहने पर ही सब भूत रमण करते हैं, इसलिए प्राण 'रम्' है।[3]

2.1.116.1 लोकातीत

अवस्तु और अनुपलम्भ अर्थात् ग्राह्य और ग्रहण से रहित अवस्था है, वह 'लोकोत्तर' अतएव लोकातीत कहलाती है।[4]

2.1.117.1 वाक्

'वक्तीति वाक्' इस व्युत्पत्ति से बोलने यानी वदन क्रिया के कारण वह वाक् है।[5]

2.1.117.2 वाक् यह शब्द अर्थात् त्रयी (तीन वेद – ऋक्, यजुः और साम) है।[6]

---

1. मातर्यन्तरिक्षेश्वयतीति मातरिश्वा। के०उ० 3/10
2. पूर्वोक्तायाः प्रकृतेर्मायात्वं तदधिष्ठातृसच्चिदानन्दरूपब्रह्मणस्तूपाधिवशान्मयित्वम्। श्वे०उ० 4/9
3. यस्माद् बलाश्रये सति सर्वाणि भूतानि रमन्तेऽतो रं प्राणः।
4. अवस्त्वनुपलम्भं च ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतत्, लोकोत्तरम् अतएव लोकातीतम्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 88
5. वदन्वदनक्रियां कुर्वन्वक्तीति वाक्। बृ०उ० 1/4/7, पृ० 210–11
6. वागिति शब्दस्त्रयी तां वाचम्। बृ०उ०5/9/1, पृ० 1206

2.1.118.1 विपरिणाम

शरीर जिसका अधिकरण है, उन जरा और मृत्यु को भी आत्मा अतिक्रमण किये हुए हैं जरा यह देहेन्द्रिय संघात का विपरिणाम है।[1]

2.1.119.1 विभु

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त प्राणिभेद से वह (पराविद्या) विविध (अनेकप्रकार का) हो जाता है, इसलिए विभु है।[2]

2.1.120.1 व्योमसत् (आत्मा)

व्योम् – आकाश में चलता है, अतः 'व्योमसत्' है।[3]

2.1.121.1 वायु

(वायु को) वान अर्थात् गमन या गन्धग्रहण करने के कारण 'वायु' कहा जाता है।[4]

2.1.121.2 वायु ही स्थावर जङ्गम प्राणियों का अन्तरात्मा है और वही बाहर भी है, अतः अध्यात्म, आधिभूत और अधिदैवभाव से जो विविध प्रकार की अष्टि-(व्यष्टि)यानी व्यप्ति है, वह वायु ही है।[5]

2.1.122.1 विश्वकर्मा

यह प्रकृत देव- द्योतनात्मक परमात्मा विश्वकर्मा हैं महदादि विश्व कर्म है, यह किया जाता है इसलिए कर्म है; माया के संसर्गवश विश्वरूप कार्य इसी

---

1. शरीराधिकरणौ जरां मृत्युं चात्येति; जरेति कार्यकरण सङ्घात विपरिणामा। बृ०उ० 3/5/1
2. विभुं विविधं ब्रह्मादि स्थावरानतप्राणिभेदैर्भवति इति विभुम्। मु०उ० 1/6
3. व्योमसद् व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत् क०उ० 2/2/2
4. वानाद् गमनाद् गन्धनाद्वायुः। के०उ० 3/110
5. यस्माद्वायुः स्थाावरजङ्गमानां भूतानामन्तरात्मा, बहिश्च स एव, तस्यादध्यात्माधि-भूताधिदैवभावेन विविधया अष्टि-व्याप्तिः स वायुरेव। बृ०उ० 3/3/2

का है, इसलिए यह विश्वकर्मा है।[1]

2.1.123.1 वैश्वानर

यह सर्वात्मा ईश्वर सम्पूर्ण नरों पुण्य-पापानुरूप गति से ले जाता है इसलिए, अथवा सर्वात्मा होने के कारण विश्व (सर्व) नया स्वरूप है, इसलिए वैश्वानर है।[2]

2.1.124.1 विश्ववेत्ता

वह विश्वकृत् - विश्व का कर्त्ता है, विश्व को जानता है- इसलिए विश्ववेत्ता है।[3]

2.1.125.1 वसु

(वह आत्मा) सबको व्याप्त करता है अत: वसु है।[4]

2.1.125.2 अग्नि से लेकर नक्षत्र पर्यन्त ये सब वसु हैं। प्राणियों के कर्मफल के आश्रय होकर उनके निवास स्थान देहेन्द्रियसंघातरूप से विपरिणाम को प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण जगत् को बसाए हुए है और स्वयं भी बसते हैं, ये उनका वसुत्व है। वे चूँकि दूसरों को अपने में बसाये हुए हैं, अत: वसु हैं।[5]

---

1. एष प्रकृतो देवो द्योतनात्मको विश्वकर्मा। महदादि विश्वं कर्म क्रियत इति कर्म मायावेशाद्विश्वरूपं कार्यमस्यन्येति विश्व कर्मा। श्वे०उ०4/17
2. एतमात्मानं वैश्वानरम-विश्वान्नारान्नयति पुण्यपापानुरूपां गतिं सर्वात्मैष ईश्वरो वैश्वानरो विश्वो नर एव वा सर्वात्मत्वात्। छा०उ० 5/18/1
3. स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता। विश्वं वेत्तिति विश्ववित्। श्वे०उ० 6/16
4. वसुर्वासयति सर्वानिति। क०उ०2/2/2
5. अग्न्याद्यानक्षत्रान्ता एते वसव: प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्नि वासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च; ते यस्माद् वासयन्ति तस्माद् वसव इति। बृ०उ० 3/9/3

2.1.126.1 विज्ञेय

जो परमार्थ सत्य तुरीय संज्ञक अद्वय अजन्मा आत्मतत्त्व है। वही विज्ञेय है।[1]

2.1.127.1 शक्ति

अक्षर को ही शक्ति की संज्ञा दी गई है। अर्थात् अक्षर ही शक्ति है।[2]

2.1.128.1 शूचिषत्

आकाश में सूर्य रूप से चलता है इसलिए शूचिषत् है।[3]

2.1.129.1 शान्त

जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो गई हों।[4] वह शान्त ऐसा कहा गया है।

2.1.130.1 शान्तम्

सब प्रकार से अनर्थों की निवृत्ति[5] रूप को शान्तम् कहा गया है।

2.1.131.1 शान्तसङ्कल्प

जिनका ऐसा सङ्कल्प जो शान्त हो गया हो कि 'न जाने मेरा पुत्र यमराज के पास जाकर क्या करेगा'।[6]

---

1. विज्ञेयं परमार्थसत्य तुर्याख्यमऽयमजमात्मात्त्वमित्यर्थ:। मा०उ०/अ०शा०प्र० 88
2. अक्षरस्य शक्तय एता इति। बृ०उ० 3/8/12
3. शूचिषच्छुत्रौ दिव्यादित्यात्मनासीदति। क०उ० 2/2/2
4. शान्ता उपरतकरणग्रामा:। मु०उ० 1/2/11
5. शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 47
6. शान्तसंकल्प उपशान्त: संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्त सङ्कल्प:। क०उ० 1/1/1

2.1.132.1 षोडशकल

संवत्सर आत्मा है अर्थात् कालरूप प्रजापति षोडशकल है जिसकी षोडशसम (सोलह) कलाएँ अर्थात् अवयव हों, उसे षोडशकल कहते हैं।[1]

2.1.133.1 सुख

निश्चय जो भूमा है – महान् निरतिशय और बहु – ये इसके पर्याय हैं वही सुख है।[2]

2.1.134.1 सुखमुत्तमम्

योगियों को ही प्रत्यक्ष होने वाला होने के कारण निरतिशय सुख को सुखमुत्तमम् कहा गया है।[3]

2.1.135.1 सत्

जल आदि वास्तविक पदार्थ को सत् कहा गया है।[4] सत् असत् है, सत् शास्त्रीय कर्म और विज्ञान का नाम है, वह अमरता का हेतु होने के कारण अमृत है।[5]

2.1.136.1 संध्यस्थान जहाँ परलोक की संधि है उसमें रहने वाले को संध्यस्थान कहा गया है।[6]

2.1.137.1 सत्य

मिथ्या का त्याग एवं यथार्थ और किसी को पीड़ा न देने वाला वचन[7] को सत्य कहते हैं।

---

1. अस्य सोऽयं षोडशकल: संवत्सर: संवत्सरात्मा कालरूप:। बृ०उ० 1/5/14
2. यो वै भूमा महन्निरतिशयं बह्विति पर्यायास्तत्सुखम्। छा० उ० 7/13/1
3. सुखमुत्तमम् निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्षमेव। मा०उ०/अद्वै०प्र० 47
4. सच्च परमार्थोदकादि। प्र०उ० 4/5
5. सदमृतम् सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने। अमरणहेतुत्वादमृतम्। बृ०उ० 1/3/28
6. संध्यं तद् इहलोक परलोकयोर्य: संधिस्तस्मिन् भवं संध्यस्थानम्। बृ०उ० 4/3/9
7. सत्यम् अनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम्। मु०उ० 2/1/7

2.1.137.1 जो इन्द्रियरूप, शरीर का अन्तर आधारभूत और आत्मस्वरूप है वह प्राण ही अमृत अविनाशी है तथा शरीरावस्थित कार्यात्मक नामरूप सत्य है।[1]

2.1.137.3 समुद्र जल तरङ्गफेन, बुदबुदादि रूप तथा उसमें जल सत्य है, उसी प्रकार उससे होने वाले आविर्भाव तिरोभाव–धर्मी तरंग, फेन एवं बुदबुदादि भी समुद्ररूप और परमार्थ सत्य हैं।[2]

2.1.137.1 सत्य तीन अक्षर वाला नाम है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ती' यह एक अक्षर है और 'यम्' एक अक्षर है। इसमें प्रथम एवं अन्तिम अक्षर सत्य है।[3]

2.1.138.1 सत्य

वाक् और शरीर से सम्पादन किया जाने वाला अर्थ ही सत्य है।[4]

2.1.139.1 सत्यात्म

जिसका मूर्तामूर्त रूप सत्य अर्थात् अमिथ्या हो उसे सत्यात्मक कहते हैं।[5]

---

1. प्राणो वा अमृतं करणात्मकोऽन्तरुष्टम्भक आत्मभूतोऽमृतोऽविनाशी; नामरूपे सत्यं कार्यात्मके शरीरावस्थे। बृ०उ० 1/6/3
2. यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेन बुदबुदाद्यात्मक एव। यथा च जलं सत्य तदुद्भवाच्च तरङ्गफेन बुदबुदादयः समुद्रात्मभूता एवाविर्भवतिरोभावधर्मिणः परमार्थ सत्या एव। बृ०उ० 5/1/1
3. त्र्यक्षर सत्यमिति स इत्यकेमक्षरं तीत्ये कमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तम अक्षरं सत्यं। बृ०उ० 5/5/1
4. सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः सोऽपि त्वदधीन एवद सम्पाद्य इति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि। तै०उ० 1/1/1
5. सत्यात्म सत्यं मूर्त्तामूर्तमवितथस्वरूपं चात्मा स्वभावोऽस्य तदिदं सत्यात्म। तै०उ०1/6/1–2

2.1.140.1 सत्यम्

जो पदार्थ जिस रूप में निश्चित किया गया है। उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है।[1]

2.1.141.1 सत्यकाम

जिसकी कामनाएँ सत्य–अमिथ्या हैं, उसे सत्यकाम कहते है।[2]

2.1.142.1 सनिर्वाणम्

निर्वाण निर्वृति अर्थात् कैवल्य को कहते हैं। उस निर्वाण से सहित अवस्था को सनिर्वाण की संज्ञा दी गई है।[3]

2.1.143.1 संनिहित

जो सम्यक् प्रकार से स्थित हो उस अवस्था को संनिहित कहा गया है।[4]

2.1.143.1 सुपर्ण

दो विज्ञानात्मा और परमात्मा जो सुपर्ण कहलाते हैं। अर्थात् शुभ पतन गमन वाले होने से ये सुपर्ण नाम से अभिहित है साथ ही पक्षियों से इनकी समानता के कारण भी सुपर्ण कहे जाते हैं।[5]

2.1.144.1 समन्ततः

सब ओर अर्थात् आकाश के समान निरन्तरता से वह (ब्रह्म) सब ओर व्यापक है।[6] अतः समन्ततः कहा गया है।

---

1. सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं नव्यभिचरितं तत्सत्यम्। तै०उ० 2/1/1
2. सत्या अवितथाः कामा यस्य सोऽयं सत्यकामः। छा०उ० 8/1/5
3. सनिर्वाणं निर्वृति निर्वाणं कैवल्यं सहनिर्वाणेन वर्तते। मा०उ०/अद्वै०प्र० 147,
4. यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं सम्यक् स्थितं हृदि तद्गुहाचरं नाम। मु०उ० 2/1/1
5. विज्ञान परमात्मानौ। सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ शोभनगमनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा। श्वे०उ० 4/6
6. समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थः। मा०उ०/अद्वै०प्र० 35

2.1.145.1 सम्प्रसाद

जिसमें पुरुष सम्यक् प्रकार से प्रसादयुक्त (प्रसन्न) होता है उस सुषुप्ति अवस्था को सम्प्रसाद कहते हैं।[1] जागरित अवस्था में जो देह और इन्द्रियों को सैकड़ों व्यापारों के संबंध से हुआ क्लेश था, उसे छोड़कर उन देह और इन्द्रियों से मुक्त हो जाने के कारण स्वप्न में वह थोड़ा प्रसन्न होता है, किन्तु इस सुषुप्तावस्थामें वह सम्यक्तया प्रसन्न हो जाता है अतः सुषुप्ति को सम्प्रसाद कहते हैं।

2.1.146.1 सम्यक् दर्शन

राग-द्वेषादि क्लेशों का आश्रय न होने कारण अद्वैतदर्शन ही सम्यक् दर्शन है।[2]

2.1.147.1 संवर्ग

जो अध्यात्म अर्थात् शरीर में संवर्गदर्शन कहा जाता है, वह मुख्य प्राण ही संवर्ग है।[3]

2.1.148.1 सर्वगत

व्यापक है और शब्दादि स्थूलता के कारणों से रहित होने के कारण आकाश के समान अत्यन्त सूक्ष्म है, शब्दादि गुण ही आकाशवायु आदि की उत्तरोत्तर स्थूलता के कारण यह (पराविद्या) सर्वगत है।[4]

2.1.149.1 सर्वतोऽक्षिशिरोमुख

'सर्वतः' इत्यादि ब्रह्म के सब ओर हाथ पैर हैं। इसलिए वह सर्वतः

---

1. सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन्निति सम्प्रसादः उच्यते। बृ०उ० 9/3/15
2. विरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम्। मा०उ०/अशा०प्र०
3. प्राणो मुख्यो वाव संवर्गः। छा०उ० 4/3/3
4. सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मं शब्दादिस्थूलत्वाकारणरहितत्वात् शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात् सूक्ष्मम्॥ मु०उ० 1/6

पाणिपाद है तथा सब ओर आँख, शिर, और मुख है। इसलिए सर्वतोऽक्षिशिरोमुख है।[1]

2.1.150.1 सर्वदृक्

जो सर्वरूप और उसका साक्षी भी हो उसे 'सर्वदृक्' कहते हैं।[2]

2.1.151.1 स्वप्नस्थान

वह संध्य है, इहलोक और परलोकादि की जो संधि है, उसमें रहने वाला जो तीसरा संध्यस्थान है वह स्वप्नस्थान है।[3]

2.1.152.1 स्वयंज्योति

यह स्वप्न होकर शरीरादि मृत्यु रूपों से पार हो जाता है, इसलिए स्वप्न में आत्मा स्वयं ज्योति है।[4]

2.1.153.1 स्वयंभू

स्वयं ही होता है (इसलिए स्वयंभू है) अर्थात् जिसके ऊपर है और जो ऊपर, है वह सब स्वयं ही है इसलिए स्वयंभू है।[5]

2.1.154.1 स्वराट्

जो लोक इस अद्वैत ज्ञान से विपरीत जानते हैं, वे अन्यराज आत्मा के अधीन होते और क्षीण होने वाले लोकों में जाते हैं। किन्तु इससे विपरीत

---

1. सर्वतो इति। सर्वतः पाणयः पादाश्चेति सर्वतः पाणिपादं तत्। सर्वतोऽक्षीणिशिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। श्वे०उ० 3/16
2. सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्। मा०उ०/अ०प्र० 1/2
3. संध्यं तत् इहलोकपरलोकोर्यः संधिस्तस्तिन् भवं संध्यं यत् तृतीयं तत् स्वप्नस्थानम्। बृ०उ० 4/3/91
4. स्वप्नोभूत्वातिक्रान्तोमृत्योरूपाणीति तस्मात् स्वप्ने स्वयंज्योतिरात्मा। बृ०उ० 4/3/1
5. स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति। येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः। ई०उ० 8

आत्मज्ञान होने के कारण श्रुति कही है कि वह स्वराट् होता है।[1]

2.1.155.1 सर्ववित्

सर्वज्ञ सबको सामान्य रूप से जानता है। इसलिए सर्वज्ञ और विशेष रूप से सब कुछ जानता है, इसलिए सर्ववित् है।[2]

2.1.156.1 सर्वज्ञ

जो शुभ्र-शुद्ध, सम्पूर्ण विशेषणों से रहित होने के कारण अक्षर पुरुष संज्ञक 'सत्य, आप्राण, मन का अविषय शिव, शान्त और सबाह्याभ्यन्तर अज परब्रह्म को जानता है तथा जो सबका त्याग करने वाला है, वह सर्वज्ञ है।[3]

2.1.156.2 इस प्राज्ञ से कोई विजातीय पदार्थ नहीं है। सम्पूर्ण भेद में स्थित हुआ यही सबका ज्ञाता है। इसलिए यह सर्वज्ञ है।[4]

2.1.157.1 सांसिद्धिकी

सम्यक् सिद्धि का नाम संसिद्धि है, उससे उत्पन्न होने वाली को सांसिद्धिकी कहते हैं।[5]

2.1.158.1 सूर्य

जो पूर्व से प्रकाश करता है वह सूर्य है। साथ ही जो दक्षिण से, पश्चिम से, उत्तर से और ऊपर की ओर प्रकाश करता है। वह सूर्य है।[6] ऐसा कहे जाने पर यह ज्ञात होता है कि सूर्य प्रकाश स्वरूप है।

---

1. विपर्यये च स स्वराड् भवति। छा०उ० 7 25
2. सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। विशेषेण सर्वं वेत्तेति सर्ववित्। मु०उ० 1/9
3. शुभ्रं शुद्धं मसर्वविशेषणरहितत्वादक्षरम् सत्यं पुरुषाख्यम्, अप्राणम् अमनोगोचरम् शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं वेक्ष्यते विज्ञानाति यस्तु सर्व-त्यागी स सर्वज्ञो। प्र०उ० 1/10
4. अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः। मा०उ०/अ०प्र० 6
5. संसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिकी। मा०उ०/अ०प्र० 9
6. यः पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यो यो दक्षिणतो यः पश्चाद्य, उत्तरतो य ऊर्ध्वं प्रकाशयति स आदित्यः। छा०उ० 8/12/5

2.1.159.1 सूक्ष्मदर्शी

इन्द्रियों से उसके विषय सूक्ष्म है, इत्यादि प्रकार से सूक्ष्मता की परम्परा का विचार करने का जिनका पर–सूक्ष्म वस्तु को देखने का स्वभाव बन गया है, वे सूक्ष्मदर्शी है।[1]

2.1.160.1 सूत्र

द्युलोक से ऊपर जो विद्यमान है, वह सूत्र है। अतः सूत्र आकाश के ओत–प्रोत सूत्रस्वरूप व्याकृत जगत् है।[2]

2.1.161.1 हर

अविद्यादि को हरने के कारण परमेश्वर हर है।[3]

2.1.162.1 हंस

आत्मा एक ही शरीर में रहने वाला नहीं बल्कि वह गमन करता है इसलिए हंस है।[4]

2.1.163.1 त्रिणाचिकेत

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया हो उसे त्रिणाचिकेत कहते हैं। अथवा उसका ज्ञान अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला ही त्रिणाचिकेत है।[5]

---

1. 'इन्द्रियेभ्यः' परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनः। का०उ० 1/3/12
2. सूत्रम् आकाशे तदोतं प्रोतं च, यदेतद् व्याकृतं सूत्रात्मकं जगदव्याकृतोकाशे। ब्र०उ० 3/8/4
3. अविद्यादेर्हरणात्परमेश्वरो हरः। श्वे०उ० 1/10/107
4. हंसो हन्ति गच्छतीति। क०उ० 2/2/2
5. त्रिणाचिकेतस्त्रिः कृत्वाग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययन स्तदनुष्ठाना–ववान्वा। क०उ० 1/1/17

2.2 जीवविषयक पारिभाषिक शब्द

अविद्योपाधि से उपहित जीव कहा जाता है, वही अल्पज्ञ, तुच्छ तथा सुख-दुःखादि का भोक्ता होता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि सदा साथ रहने वाले दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक पिप्पल (मधुर फल) का स्वादपूर्वक भक्षण करता है और दूसरा पिप्पल को न खाकर केवल दूसरे पक्षी को देखता रहता है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जीव ही सांसारिक दुःख और सुख का भोग करता है। और उसमें लिप्त रहता है। शङ्कराचार्य ने जीव के विषय में प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एवं आभासवाद की अवधारणा की है।[2] प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म माया में प्रतिबिम्बित ईश्वर है और अविद्या में प्रतिबिम्बत जीव। अवच्छेदवाद के अनुसार मायावच्छिन्न (माया से सीमित) ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीव है। आचार्य के अनुसार माया या अविद्या ब्रह्म को वस्तुतः न तो प्रतिबिम्ब से युक्त कर सकती है और न सीमित कर सकती है। माया या अविद्या भ्रान्ति है, अतः इसका उसका आभास भी मिथ्या है। आभास ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नहीं। प्रस्तुत अध्ययन में जीव को 'अनसूरि'[3] कहा गया है। अर्थात् जीव के पास मेधा शक्ति का अभाव होता है। वस्तुतः सूरि बुद्धि को कहते हैं। जिसके पास सूरि का आभाव हो उसे अनसूरि कहा जाता है। मेधा के अभाव में वह सत्य के स्वरूप को नहीं समझ पाता है तथा इस असमर्थता के कारण सांसारिक बन्धन में घूमता रहता है। जैसे ही उस वास्तविक स्वरूप का उसे ज्ञान हो जाता है वह वास्तविक स्वरूप में आ जाता है अर्थात् ब्रह्म हो जाता है।

इसी तरह से जीव को 'अबुध्'[4] कहा गया है। बुध् क्विप् प्रत्ययान्तरूप है अर्थात् जो आत्मज्ञान से रहित है। यही कारण है कि वह जागतिक स्वरूप को सत्य समझकर जन्म-मरण के चक्र में बंधा रहता है। साथ ही जीव

---

1. मु०उ० 3/1/1
2. विस्तृत विवरण के लिए प्रथम अध्याय द्रष्टव्य।
3. छा०उ० 4/3/7
4. बृ०उ० 4/4/11

'अनृत'[1] कहा गया है कारण वह सांसारिक चीजें यथा स्त्री, भोजन वस्त्वादि आदि क्षणिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हो जाता है तथा इसी के चारों ओर घूमता हुआ सत्य को जानने में असफल रहता है। जीव को 'आर्त'[2] भी कहा गया है। अर्थात् संसार की सभी वस्तुएँ आत्मा के विपरीत क्षयशील हैं इसलिए इसे आर्त कहा गया है। वस्तुतः आत्मा कभी भी न तो नष्ट होता है और न नष्ट किया जा सकता है। किन्तु इस मानव जगत् में मनुष्य के रूप में जन्म लेकर भी जो उस सत्य को जानने के लिए उचित मार्ग का अनुसरण करता है अर्थात् उपासनादि के द्वारा ब्रह्म तक पहुँचने में समर्थ होता है उसे 'गन्धर्व'[3] कहा गया है इसी क्रम में जो केवल अग्निहोमादि वैदिक कर्म से देवभाव को प्राप्त किए हुए हैं वे 'कर्मदेव'[4] कहलाते हैं। अर्थात् कर्म करते हुए उस लक्ष्य तक पहुँचने में कर्मशील मानव को यहाँ कर्मदेव कहा गया है। इस तरह अविद्या, काम और कर्म विशिष्ट देह एवं इन्द्रियरूप उपाधि वाला आत्मा संसारी जीव[5] कहा गया है। जो आनन्द से ही अविद्यावश विभक्तिस्वरूप तथा ब्रह्म से पृथक् से परिकल्पित है। वस्तुतः अविद्या या अज्ञान ही को ब्रह्म से पृथक् करता है। वास्तव में जीव ब्रह्म से अभिन्न है। जीव के विभिन्न स्वरूपों को ध्यान में रखकर जीवविषयक पारिभाषिक शब्दों का वर्णानुक्रम से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

2.2.164.1 अनसूरिः

सूरि मेधावी को कहते हैं, जो सूरि न हो वह असूरि है एवं उसका भी प्रतिषेध अनसूरि कहलाता है। अर्थात् जिसके पास मेधा बुद्धि नहीं होती और मेधा की अनुपस्थिति में वह सांसारिक माया में विचरण करता रहता है इसलिए उस मेधा रहित जीव को अनसूरि कहते हैं।[6]

---

1. छा०उ० 8/3/1
2. बृ०उ० 3/7/15-23
3. तै०उ० 2/8/4
4. वही 22/84
5. बृ०उ० 4/3/32
6. अनसूरिः सूरिर्मेधावी न सूरिरसूरिस्तत्प्रतिषेधोऽनसूरिः। छा०उ० 4/3/7

2.2.165.1 अनन्द

अनानन्द अर्थात् असुखा नाम के वे लोक जो अन्धदर्शनरूप अन्धकार से आवृत–व्याप्त हैं उसे अनन्द कहते हैं।[1] जीव को वास्तविक आनन्द इस अन्धकारावृत्त जगत् में प्राप्त में नहीं हो सकता। क्योंकि यह काल्पनिक सुख क्षणिक होता है। वास्तविक सुख तो परमज्ञानोपरान्त ही संभव है।

2.2.166.1 अन्नाद

जो अन्न भक्षण करे यानी दीप्ताग्नि हो जाता है वह अन्नाद है।[2] यहाँ अन्नाद जीव को कहा गया है जो अन्य का भक्षण करता है, इस अन्य का भक्षण कर वह दीप्ताग्नि रूप होने के कारण अन्नाद नाम से अभिहित होता है।

2.2.167.1 अन्नवान्

जिसके पास बहुत सा अन्न हो उसे अन्नवान् कहते हैं।[3] अर्थात् जो पुरुष इस लोक में भी रहते हुए उस हृदयस्थित परब्रह्म को जान लेता है वह अन्नवान् होता है। यहाँ अन्नवान् का अर्थ जिसके पास बहुत सारा अन्न हो ऐसा नहीं है। बल्कि जो उस विद्या से युक्त है वही अन्नवान् कहा गया है।

2.2.168.1

अपान प्रत्यङ्ग यानी पश्चिम उसमें स्थित जो वायुविशेष है वह मलमूत्रादि को दूर करता हुआ नीचे की ओर ले जाता है। इसलिए अपान कहलाता है।[4]

---

1. अनन्दा अनानन्दा असुखा नाम ते लोका:, तेन अन्धेनादर्शनलक्षणेन तमसा आवृता व्याप्ता:– ते तस्याज्ञानतमसो गोचरा:। बृ०उ० 4/4/1
2. एवमन्नमत्तीत्यान्नदो दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थ:। तै०उ०3/6/1
3. अन्नवान्प्रभूतमन्नमस्य विद्यत इत्यन्नवान्। तै०उ० 3/6/1
4. प्रत्यङ् सूपि: पश्चिमस्तस्थो वायुर्विशेष: स मूत्ररोषाद्यपनयन्नयोऽनितीत्यपान: सा तथा वाक: तत्संबन्धात्। छा०उ० 3/13/3

2.2.169.1 अबुध

अवगत्यर्थक बुध् धातु क्विप् प्रत्ययान्तरूप है, अर्थात् जो आत्मज्ञान से रहित है। उसे अबुध् कहते हैं।[1] वास्तविक ज्ञान आत्मज्ञान को कहते हैं, उस ज्ञान से रहित व्यक्ति अबुध अर्थात् अज्ञानी कहा जाता है।

2.2.170.1 अनृत

स्त्री, अन्न, भोजन और वस्त्रादि, बाह्य विषयों में जो तृष्णा है, उसके कारण होने वाला स्वेच्छाचारमिथ्या ज्ञान जनित के कारण अनृत है।[2] सांसारिक जो भी ये उपर्युक्त वस्तुएँ हैं वह तृष्णाभिभूत हैं। अर्थात् इससे बंधा हुआ मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त करने में असमर्थ होता है, इसलिए इसे अनृत कहा गया है।

2.2.171.1 अमानव

जो मानवी सृष्टि में होता है उसवे मानव कहते हैं, जो मानव न हो उसी का नाम अमानव है।[3] मानव में इतर जो हो उसे अमानव कहा गया है। अर्थात् जिसने मनुष्य कुल में जन्म न लिया है या जिसका व्यवहार मानव के समान न हो वह अमानव है।

2.2.172.1 अमौन

आत्मज्ञान और अनात्मप्रत्यय का तिरस्कार जिनकी पाण्डित्य और बाल्यसंज्ञा है ये अमौन हैं।[4]

---

1. अबुधः, बुधेः अवगमनार्थस्य धातोः क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम्, आत्मावगमवर्जिता इत्यर्थः। बृ०उ० 4/4/11
2. स्त्र्यन्नभोजनाच्छादनादिषु तृष्णातन्निन्निमित्तं च स्वेच्छाप्रचारत्वं मिथ्याज्ञान-निमित्तत्वादनृतमित्युच्यते छा०उ० 8/3/1
3. मानव्यां सृष्टौ भवो मानवो न मानवोऽमानवः। छा०उ० 4/15/5
4. अमौनं च आत्मज्ञानानात्मप्रत्ययतिरस्कारौ पाण्डित्यबाल्यसंज्ञकौ। बृ०उ० 3/6/1

2.2.173.1 अन्यराट्

आत्मा स्वराट् है, सम्पूर्ण लोकों मे उनकी यथेच्छ गति होती है। किन्तु जो अन्य अर्थात् पर इससे विपरीत जानता है वे राजा, स्वामी अन्यराट् हैं।[1]

2.2.174.1 अरमण

इष्ट वस्तु के लिए चिन्तन करने वाले का जो अरमण (खेद) है वह तृष्णाभिभूत पुरुष के काम का बीज होता है।[2]

2.2.175.1 अशनि

अशनिर्वज्रवीर्य अर्थात् बल, जो प्राणियों की हिंसा करता है वह अशनि इन्द्र है।[3] यहाँ अशनि इन्द्र को कहा गया है कारण वह सबसे बलवान् एवं वज्रधारण करने वाला है।

2.2.176.1 अक्षिति

निरंतर कर्ता होने के कारण पुरुष अक्षिति है। इसी से निरंतर खाए जाने पर भी वे अन्न क्षीण नहीं होते ऐसा इसका तात्पर्य है।[4]

2.2.177.1 अज्ञ

ईश्वर ज्ञ (सर्वज्ञ) है और जीव अज्ञ है। तथा ये दोनों ही अज जन्मादिरहित हैं, क्योंकि एकमात्र अविकारी ब्रह्म ही जीव और ईश्वर भाव से स्थित है।[5]

---

1. अन्य: परो राजा स्वामी येषां तेऽन्यराजा। छा०उ० 7/25/2
2. इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यदरमणम्, तत्तृष्णम्, तत्तृष्णाभिभूतस्य कामबीजम्; तेन हि कामो दीप्यते। बृ०उ० 3/5/1
3. अशनिर्वज्रं वीर्यबलं यत् प्राणिनः प्रमापयति स इन्द्रः। बृ०उ० 3/6/9
4. तस्मात्पुरुषक्षितिः सातत्येन कर्तृत्वात्। बृ०उ० 1/5/2
5. ज्ञाज्ञौ द्वौ ज्ञ ईश्वरोऽज्ञो जीवस्तावजौ जन्मादिरहितौ। श्वे०उ० 1/9

2.2.178.1 आजानज

'आजान' देवलोक का नाम है उस आजान में तो उत्पन्न हुए हैं वे देवगण 'आजानज' हैं।[1] ज का अर्थ है जन्म लेना जिसका आजान अर्थात् देवलोक जन्म स्थान है। आर्थात् देवलोक में जन्म लेने के कारण देवगण आजानाज कहलाते हैं।

212.179.1 आण्डज

अण्ड से उत्पन्न हुए को अण्डज कहते हैं, अण्डज ही आण्डज है।[2] उत्पत्ति तीन प्रकार से बतलाई जाती है उद्भिज अण्डज और जीवज। अर्थात् जो बीज से उत्पन्न होता है वह उद्भिज जो जीव के द्वारा निशेचनादि से होता है वह जीवज तथा जो अण्ड से होता है वह अण्डज कहलाता है।

2.2.180.1 आर्त

आत्मा–अन्तर्यामी अमृत है। इस ईश्वर आत्मा से भिन्न और सब आर्त (विनाशी) हैं।[3] आर्त विनाशशील या मरणशील को कहते हैं। अर्थात् कहा गया है कि ईश्वर ही विनाश–रहित होता है। इसके बाद संसार में जो भी वस्तु अस्तित्व में है, वे सभी क्षणिक हैं तथा सभी का अन्त निश्चित है। केवल आत्मा ही इन सभी से परे है।

2.2.181.1 आत्मघाती

जो कोई आत्मा का घात (नाश) करते हैं वे आत्मघाती हैं।[4] जो व्यक्ति इस अमरणशील आत्मा को नाश अर्थात् नष्ट करने की कोशिश करता है, वह आत्मघाती या आत्महन्ता कहा जाता है।

---

1. आजान इति देवलोकस्तस्मिन्नजाने जाता आजानजा देवा: स्मार्तकर्म विशेषतो देवस्थानेषु जाता: । तै०उ० 2/8/4
2. आण्डजाण्डाज्जातमण्डजम्। छा०उ० 6/3/1
3. आत्मान्तर्याम्यमृत: अस्मादीश्वरादात्मनोऽन्यदार्तम्। बृ०उ० 3/7/15–23
4. आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महन: । ई०उ० 3

2.2.182.1 आयतन

आयतन शरीर को कहते हैं।[1] अर्थात् शरीर ही सभी विषयों का आश्रय स्थान है। अतः शरीर को आयतन कहा गया है।

2.2.183.1 आत्मयाजी

'समंपश्यन्नात्मयाजी' वाक्य से आत्मयाजी शब्द का परमात्मदर्शन के विषय में प्रयोग किया है, इसका तात्पर्य है कि समस्त भूतों में समदृष्टि रखने वाला आत्मयाजी है।[2] सम्पूर्ण विश्व को अपने समान ही अर्थात् दूसरे के सुख-दुःख का सहभागी बनने वाले को आत्मयाजी कहा गया है।

2.2.184.1 आत्मवेत्ता

जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट आत्मा को जानता है, तथा सम्पूर्ण जगात् को भी ऐसा ही जानता है, वह आत्मवेत्ता है।[3] अर्थात् जगत् तथा आत्मा के अभेद को जानने वाला अर्थात् जगत् के प्रपञ्च आत्मा को समझकर आत्मा का अनुसरण करने वाले को आत्मयाजी कहा जाता है।

2.2.185.1 आत्मवान्

पूर्व-पूर्व कोश में व्यापक मनोमय से लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त, आकाशादि भूतों से होनेवाले अविद्याकृत कोशों से सम्पूर्ण प्राणी आत्मवान् हैं।[4]

---

1. आयतनं नाम शरीरम्। बृ०उ० 4/1/2
2. परमात्मदर्शनविषये मनुनोक्त आत्मयाजिशब्दः समं पश्यन्नात्मयाजी। बृ०उ०, मन् 12/91
3. स आत्मानं च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टं तेनैवान्र्यामिणा नियम्यमानं वेत्ति, सर्वं च जगत् तथाभूतं तेत्तीति स आत्मवेत्ता। बृ०उ० 3/7/1
4. एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्यापिभिरुत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैरानन्दमयान्तैराकाशादि भूतारब्धैरविद्या-कृतैरात्मवन्तः। सर्वे प्राणिनः। तै०उ० 2/3/1, पृ० 13

2.2.186.1 अनूचानमानी

अपने को बड़ा प्रवक्ता मानने वाला अर्थात् जो ऐसे स्वभाववाला हो उसे अनूचानमानी कहते हैं।[1] यहाँ ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा गया है जो अपने से अधिक बड़ा और किसी को मानने को तैयार नहीं होता।

इन्द्र

स्तनयित्नु ही इन्द्र है। स्तनयित्नु अशनि को कहते हैं। अशनि वज्र वीर्य अर्थात् बल जो प्राणियों की हिंसा करता है वह अशनि इन्द्र है।[2]

इन्द्रयोनि

केशों के मूलभाग का नाम केशान्त है वह जिस स्थान पर विभक्त होता है, अर्थात् जो मूर्ध प्रदेश है, उस स्थान में पहुँचकर जो निकल गई है, एवं जो शीर्ष कपालों मस्तक के कपालों को पार-विभक्त यानी विदीर्ण करती हुई बाहर निकल गयी है वही इन्द्रयोनि इन्द्र अर्थात् ब्रह्म की योनि मार्ग, ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति का द्वार है।[3]

2.2.189.1 उद्गीथ

उत् प्राण और गीथा प्राणतन्त्रा वाक् है, अतः इन दोनों का एक ही शब्द से कथन उद्गीथ कहलाता है। वाक् तथा प्राण जहाँ एकभाव होता है, उसे उद्गीथ कहते हैं।[4]

---

1. अनुचानमान्यनूचानमात्मानं मन्यत इत्येवंशीलो यः सोऽनूचानमानी। छा०उ० 6/1/2
2. स्तनयित्नुरेवेन्द्र स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। अशनिर्वज्रं वीर्यबलम्, यत् प्राणिनः प्रमापयति, स इन्द्रः। बृ०उ० 3/9/6
3. यत्र च केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं मूलं केशान्तो विवर्तते विभागेन वर्तते मूर्धप्रदेशं इत्यर्थः तं देशं प्राप्तय तत्र विनिःसृता व्यपोह्य विभज्य विदार्य शीर्षकपाले शिरः कपाले विनिर्गता या सेन्द्रयोनिरिन्द्ररय ब्रह्मणो योनिमार्गः- स्वरूप प्रतिपत्ति द्वारमित्यर्थः। तै०उ० 1/6/2
4. उच्च प्राणो गीथा च प्राणतन्त्रा वागित्युभयमेकेन शब्देनाभिधीयते स उद्गीथः। बृ०उ० शा०भा० 1/3/23

2.2.190.1 उपजन

जो स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सहगमन से होता है, अथवा आत्मसुख या अपनी समीपता से उत्पन्न होता है, ऐसे इस शरीर का नाम 'उपजन' है।[1]

2.2.191.1 एजत्

चलने-फिरने वाले पक्षी आदि एजत् कहलाते हैं और एक स्थान से दूसरे को जाने में समर्थ या भ्रमणशील पक्षी आदि को एजत् कहा गया है।[2]

2.2.192.1 कर्मदेव

जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से देवभाव को प्राप्त किये हुए हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं।[3] जो केवल कर्म में विश्वास करता हो एवं इसके आधार पर देवलोक को प्राप्त करने की कोशिश करता हो (न कि किसी औसाधक से) उस कर्मशील मानव को कर्मदेव कहा जाता है।

2.2.193.1 कवि

कवि क्रान्तदर्शी यानी सर्वदृक् हैं जैसा कि श्रुति कहती है, इससे अन्य और कोई द्रष्टा नहीं है।[4] क्रान्त का अर्थ अतीत है, अत: क्रान्तदर्शी का अर्थ अतीतद्रष्टा हुआ। यहाँ अतीत काल को तीनों कालों का उपलक्षण मानकर भाष्यकार ने क्रान्तदर्शी का अर्थ सर्वदृक् और सर्वद्रष्टा किया है।

2.2.194.1 गो-अश्व

गो और अश्व को गो-अश्व कहते हैं। इन दोनों शब्दों का द्वन्द्व समास में एकवद्भाव हुआ है।[5] यहाँ प्रश्न स्वाभाविक है कि 'गवाश्च अश्वाश्च' ऐसा विग्रह

---

1. उपजनम्, स्त्रीपुंसयोरन्योपगमनेन जायत इत्युपजनमात्मभावेन वात्मसामीप्येन जायतं इत्युपजनमिदं शरीर तन्न स्मरन। छा०उ० 8/12/3
2. एजच्चलप्रक्ष्यादि। मु०उ०शा०भा० 2/2/1
3. कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणाग्निहोत्रादिना केवलेन देवानापेयन्ति। तै०उ० 2/8/4
4. कवि: क्रान्तदर्शी सर्वदृक् नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा इत्यादि श्रुते:। ई०उ० 8
5. गवश्चाश्वाश्च गोअश्वं द्वनद्वैकवद्भाव। छा०उ० 7/24/2

पुँल्लिंग एवं बहुवचनान्त शब्दों का द्वन्द्व समास हुआ है, ऐसी दशा में गो-अश्वम् यह एकवचनान्त नपुंसकलिंग प्रयोग कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि यहाँ एकाद्भाव हुआ है। 'द्वन्द्वश्चप्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस पाणिनि सूत्र से यहाँ एकवद्भाव किया गया है। इससे एकवचनान्त हो गया है साथ ही जहाँ एकवद्भाव होता है वहाँ 'सनपुंसकम्' इस सूत्र के अनुसार नपुंसकता भी हो जाती है।

2.2.195.1 गार्ग्य

किसी काल विशेष में अविद्या को ही ब्रह्म जानने वाला गोत्रतः गार्ग्य है।[1] ब्रह्म को जो सम्यक् रूप से नहीं जानता था अर्थात् वास्तविक सत्ता को न जानते हुए। अविद्या को ही घमंडवश ब्रह्म कहने वाला गार्ग्य कुल में हुआ गार्ग्य था।

2.2.196.1 गन्धर्व

जो पहले मनुष्य होकर फिर कर्म और उपासना की विशेषता से गन्धर्वत्व को प्राप्त हुए हैं, वे मनुष्य गन्धर्व कहलाते हैं।[2] वास्तव में मनुष्य जन्म से मनुष्य ही उत्पन्न होता है। लेकिन जो उपासनादि के द्वारा ब्रह्म को जान लेता है वह गन्धर्व कोटि को प्राप्त करता है शेष जो सांसारिक माया से अलग नहीं हो पाता वह मनुष्य योनि में ही विचरण करता रहता है।

2.2.197.1 चित्तप्रसाद

आस्तिक्यबुद्धि ही चित्तप्रसाद कहलाती है।[3]

2.2.198.1 चक्षु

'चष्टे इति चक्षुः' इस व्युत्पत्ति से देखने वाले यानी द्रष्टा का नाम चक्षु

---

1. अविद्याविषयब्रह्मविद् गार्ग्यो गोत्रतः, आस बसूभव। बृ०उ० 2/1/1
2. मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषाद्गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यान्धर्वाः। तै०उ० 2/8/4
3. चित्तप्रसादआस्तिक्यबुद्धिस्त्था। मु०उ० 2/1/7

है।[1] साक्षी शुद्ध चैतन्य को ही द्रष्टा कहा गया है जो निर्गुण तथा निर्विकार है, दो पक्षी साथ-साथ सखाभाव से एक ही वृक्ष पर रहते हैं, उसमें से एक स्वादु फल को चाव से चखता है और दूसरा बिना खाए देखता रहता है।[2]

2.2.199.1 जात्याभास

जो अजाति होकर भी जातिवत् प्रतीत होता हो उसे जात्याभास कहते हैं।[3] जो अपने स्वभाव के विपरीत प्रतीत हो उसे जात्याभास कहते हैं यथा रज्जु में सर्प की प्रतीति जात्याभास है।

2.2.200.1 जीव

जिस अन्तरतम आत्मा के कारण पाँच कोश आत्मवान् हैं, वही सबके जीवन का निमित्त होने के कारण जीव कहलाता है।[4]

2.2.200.2 अविद्या, काम और कर्म विशिष्ट देह एवं इन्द्रियरूप उपाधिवाला आत्मा संसारी जीव कहा जाता है।[5]

2.2.200.3 जो आनन्द से ही अविद्यावश विभक्तिस्वरूप तथा ब्रह्म से पृथक् रूप से परिकल्पित है वे जीव हैं।[6] वस्तुतः अविद्या या ज्ञान ही को ब्रह्म से पृथक् करता है। वास्तव में जीव ब्रह्म से अभिन्न है। वे विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा उस आनन्द की कल्पित मात्रा के उपजीवी होते हैं।

---

1. पश्यंश्चक्षुश्चष्ट इति चक्षुर्द्रष्टा। बृ०उ० 1/4/7
2. द्वा सुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्ति अनश्नन्यो-ऽभिचाकशीति। मु०उ० 3/1/1
3. अजाति सञ्ञातिवद् अवभासत इति जात्याभासम्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 45
4. कोशानामात्मा येनात्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन, स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः। मा०उ०/अद्वै०प्र० 11
5. अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते। ब०उ० 3/8/12
6. एवानन्दादविद्यया प्रविभज्यमान स्वरूपाण्यन्यत्वेन तानि ब्रह्मणः परिकल्प्यमानान्यन्यानि सन्त्युपजीवन्ति भूतानि विषयेन्द्रिय सम्पर्क द्वारेण विभाव्य मानम्। बृ०उ० 4/3/32 पृ० 103

2.2.201.1 जीवात्मा

लिंग रूप उपाधि से कल्पित जो परमात्मा का अंश है वही जीवात्मा है।[1]

2.2.202.1 तेजा

शरीरस्थ दीप्ति, उज्ज्वलता अथवा प्रगल्भता का नाम तेज है।[2]

2.2.203.1 तम

तम शब्द से रात्रि आदि का अंधकार ग्रहण किया जाता है अध्यात्म पक्ष में छायामय अज्ञानमय पुरुष ही तम है।[3] अर्थात् जो अज्ञानी पुरुष है वह वास्तविक विषय के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण उसे तम कहा गया है।

2.2.204.1 देव

जो तैंतीस देवगण यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले हैं, वे ही यहाँ देव कहे गए हैं।[4]

2.2.204.2 जो मातृजनित कोशत्रयरूप है, वही देव है।[5] अर्थात् जो मातृजनित तीन कोश अन्नमय प्राणमय और मनोमय बतलाए गए हैं उसी को देव कहा गया है।

2.2.205.1 दैवी

देव सम्बन्धिनी अर्थात् देवताओं मे होने वाली जो समाज्ञा कही जाती है वह दैवी कहलाती है।[6] समाज्ञा से तात्पर्य ज्ञान–विज्ञान यानी उपासना है।

---

1. लिङ्ग वियोगेऽपि परमात्मदेशाश्रयणं वासनायाः सजीवात्मा। बृ०उ० 2/3/6
2. तेजः शरीरस्था दीप्तिः, उज्ज्वलत्वं प्रागल्भ्यं वा। छा०उ० 5/19/2, पृ० 564
3. अध्यात्मं छायामयोऽज्ञानमयः पुरुषः तमः। बृ०उ० 3/9/14, पृ० 801
4. देवा इति त्र्यस्त्रिंशद्धविर्भुजः। तै०उ० 2/8/4
5. मातृजकोशत्रयरूप इत्यर्थः, स देवः। बृ०उ० 3/9/10
6. दैवीर्दैत्यो देवेषु भवाः समाज्ञा उच्यन्ते। तै०उ० 3/10

वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने हेतु उपासनादि जो साधन अपनाए जाते हैं उसी का नाम दैवी है।

2.2.206.1 देवगन्धर्व

जो जन्म से ही गन्धर्व हो, 'चिरलोक लोकानाम्' (चिरस्थायी लोक में रहनेवाले) यह पितृगण का विशेषण है।[1]

2.2.207.1 दैवप्राण

जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियों में सञ्चार करता हुआ और सञ्चार न करता हुआ अथवा जङ्गमों में सञ्चार करता हुआ और स्थावरों में सञ्चार न करता हुआ व्यथित यानि दुःख निमित्तक भय से युक्त नहीं होता और न रेष–विनाश अर्थात् हिंसा को प्राप्त होता है वह दैवप्राण है।[2]

2.2.208.1 देवरथ

देव आदित्य (सूर्य) को कहते हैं उसका रथ ही देवरथ कहलाता है।[3]

2.2.209.1 देवसुषि

देवताओं के सुषि अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति के द्वारभूत पाँच छिद्र हैं। वे प्राण और आदित्य आदि देवताओं से सुरक्षित हैं, इसलिए देवसुषि कहलाते हैं।[4]

---

1. देवगन्धर्वा जातितएव। चिरलोकलोकानामिति पितृणां विशेषणम्। तै०उ० 2/8/4, पृ० 189
2. यः सञ्चरन् प्राणिभेदष्वसञ्चरन्समष्टिव्यष्टिरूपेण – अथवा – सञ्चरन् जङ्गमेषु असञ्चरन्स्थावरेषु, न व्यथते न दुःखनिमित्तेन भयेन युज्यते। अथो अपि न विनश्यति न हिंसामापद्यते। बृ०उ० 1/5/20
3. देवरथाह्वयनि–देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथः। बृ०उ० 3/3/2
4. एतस्यानन्तरनिर्दिष्टस्य पञ्चसंख्याका देवानां सुषयो देवसुषयः। छा०उ० 3/13/1

2.2.210.1 धार्म

जो धर्म में रहता है, उसे धार्म कहते हैं।[1] अर्थात् जो हमेशा धर्म का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करता है उस व्यक्ति को धार्म कहा गया है।

2.2.211.1 धीर

विवेकी पुरुष शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्राप्त तथा शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग एवं वैराग्य से उत्पन्न हुए विशेष ज्ञान द्वारा उस आत्मतत्त्व को सर्वत्र परिपूर्ण देखते यानी अनुभव करते हैं, वे ही धीर हैं।[2]

2.2.212.1 निमिषत्

जो निमेषादि क्रियावाले और च शब्द के सामर्थ्य से जो निमेष नहीं करनेवाले हैं, एवं जो इस ब्रह्म में ही समर्पित हैं वे निमिषत् हैं।[3]

2.2.213.1 निधन

पुरुष मैथुन क्रिया द्वारा जो समय बिताता है तथा मैथुन क्रिया की जो समाप्ति करता है, वह निधन है।[4] अर्थात् सासांरिक क्रिया में समय को व्यतीत करना ही निधन कहा गया है कारण वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से व्यर्थ है।

2.2.214.1 पर्जन्य

'पर्जन्योवाव' पर्जन्य ही अग्नि है – वृष्टि के जो साधन हैं उनके अभिमानी देवताविशेष का नाम पर्जन्य है।[5] उसका वायु ही समिध है, क्योंकि पर्जन्यरूप अग्नि वायु से ही प्रदीप्त होती है।

---

1. धर्मे भवो धार्मः। बृ०उ० 2/5/11
2. तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्याग–वैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीराः। मु०उ० 2/2/7
3. निमिषच्चयन्निमेषादिक्रियावद्यच्च निमिषच्चशब्दात्समस्तभेदात्तत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम्। मु०उ० 2/2/1
4. कालं गच्छति मैथुनेन पारं समाप्तिं गच्छति तन्निधनम्। छा०उ० 2/13/11
5. पर्जन्योवाव पर्जन्य एव गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवता विशेषः। छा०उ० 5/5/1

2.2.215.1 प्राणत्

जो प्राणन करते हैं वे प्राणापानादिमान् मनुष्य और पशु आदि के प्राणत् कहलाते हैं।[1] वे सभी मनुष्य पशु आदि ब्रह्म में ही समर्पित हैं अर्थात् इन सभी को द्वारा ही प्राणन किया जाता है।

2.2.216.1 प्राणाराम

प्राणों में जिसका रमण अर्थात् क्रीड़ा है अथवा जिसमें प्राणों का आरमण है उसे प्राणाराम कहते हैं।[2] जो प्राण में ही आनन्द का अनुभव अथवा जो प्राण में रमण करता है वही प्राणाराम है।

2.2.271.1 पुरुष

अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण कारणों का कारण तथा प्रत्यगात्मरूप होने से पुरुष पर–सूक्ष्मतर एवं महान् है, इसलिए सबसे पूरित रहने के कारण पुरुष कहा जाता है।[3]

2.2.218.1 पुरुषाकार

पुरुषाकारता के अनुसार साँचे में ढली हुई प्रतिमा के समान यह प्राणमय कोश ही पुरुषाकार है, स्वत: पुरुषाकार नहीं।[4]

2.2.219.1 पुरुषनाय:

जो पुरुषों को ले जाता है, इसलिए राजा या सेनापति पुरुषनाय: कहलाता है।[5] अर्थात् पुरुषों को या मानव को जो अपने कार्य–सिद्धि के लिए एवं उसके

---

1. प्राणत्प्रणितीति प्राणपानादिमन्मनुष्यपश्वादि। मु०उ० 2/2/1, पृ० 63
2. प्राणारामं प्राणेष्वाराम आक्रीडामस्य तत्प्राणाराममम प्रणानां वारामो यस्मिंस्तत्प्राणारामम्। तै०उ० 1/6/1–2
3. तस्मादव्यक्तात्पर: सूक्ष्मतर: सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्चमहाश्च अतएव पुरुष: सर्वपूरणात्। क०उ० 1/3/11
4. पुरुषविधत्वम् तस्यान्नरसमयस्य पुरुविधतां पुरुषाकारतामनु अयं प्राणमय: पुरुषविधो मूषानिषिक्त प्रतिभावन्न स्वत एव। तै०उ० 2/2/1
5. पुरुषनाय: पुरुषान्नयतीति राजा सेनापतिर्वा। छा०उ० 6/8/3

उपकार के लिए अपने साथ ले जाता है ऐसा राजा आदि को पुरुषनाय कहा जाता है।

2.2.220.1 पौत्रायण

पुत्र के पोते को पौत्रायण कहते हैं।[1]

2.2.221.1 प्रज्ञात्मा

सम्पूर्ण शरीर में प्राण प्रज्ञात्मा है।[2] विभिन्न जलपात्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान अन्तःकरणरूप उपाधियों में अनुप्रविष्ट हिरयगर्भ प्राण यानी प्रज्ञात्मा है।

2.2.222.1 बभस

जो भक्षणशील है उसे बभस कहा गया है। अर्थात् वह सांसारिक वस्तुओं में ही रमा रहता है एवं उसका भोग करता रहता है। इसलिए उस जीव को बभस कहा गया है।[3]

2.2.223.1 ब्राह्मण

ब्रह्म को जानने की इच्छावाले अर्थात् जन्म, जरा और मरण इनके प्रवाह में चक्र के समान भ्रमण करने वाला परिश्रम रूप दुःख जिसमें जल है उस अपार संसार महोदधि को पार करने वाला जो नौकारूप गुरु है[4] , उनके पास आकर धर्म–अधर्म तथा साध्यसाधनरूप संसार से विरक्त और उससे विलक्षण स्वभाव वाले तथा नित्यनिरतिशय श्रेय को जानने वाले को ब्राह्मण कहते हैं।

---

1. पुत्रस्य पौत्रः पौत्रायणः। छा०उ० 4/1/1
2. सर्वशरीरस्थः प्राण प्रज्ञात्मा। ऐ०उ० 3/1/3
3. बभसोभक्षणशीलः। छा०उ० 4/3/7
4. ब्राह्मणा ब्रह्म विविदिषवो जन्मजरामरणप्रबंधचक्रभ्रमणकृतायासदुःखोदकापार–महोदधिप्लवभूतं गुरुमासाद्य तत्तीरमुत्तितीर्षवो धर्माधर्मसाधनतत्फलक्षणात् साध्य–साधनरूपान्निर्विष्णाः तद्विलक्षणनित्यनिरतिशय श्रेयः प्रतिपित्सवः। बृ०उ० 1/4/9

2.2.223.2 जो कोई इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है।[1]

2.2.223.3 जो सबप्रकार की आशाओं से रहित, आरम्भशून्य,नमस्कार और स्तुति आदि न करनेवाला, निषिद्धाचरण से रहित और क्षीणकर्मा है उसे देवगण ब्राह्मण कहते हैं।[2]

2.2.224.1 ब्रह्मबन्धु

जो ब्राह्मणों को अपना बन्धु बतलाता है किन्तु स्वयं ब्राह्मणों का आचरण नहीं करता है, उसे ब्रह्मबन्धु कहते हैं।[3] अपने कर्त्तृत्व से च्युत होकर दूसरे के साथ अपना सामंजस्य दिखाकर अपना कार्य करने वाले लोग ब्रह्मबन्धु कहलाते हैं। ऐसे लोग दूसरे की मेहनत से अपनी खुशी हासिल करना चाहते हैं।

2.2.225.1 ब्रह्मतेज

सदाचार और स्वाध्याय के कारण होने वाला तेज ब्रह्मतेज है।[4] जो व्यक्ति हमेशा अच्छा आचरण एवं स्वाध्याय में रहता है वह वास्तव में ब्रह्मतेज का हकदार होता है।

2.2.226.1 ब्रह्मवित्

जो सबसे बड़ा हो वह ब्रह्म कहलाता है, उसे जो जानता है उसका नाम ब्रह्मवित् है।[5] ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति ब्रह्मवित् कहलाता है।

---

1. य एतदक्षरं विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। बृ०उ० 3/8/10
2. निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्। अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः। बृ०उ० 4/4/9
3. ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ब्राह्मणान् बन्धुन्वयपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्त इति। छा०उ० 6/1/1
4. उज्ज्वलत्वं प्रागल्भ्यं वा, ब्रह्मवर्चसं वृत्तं वाध्यायनिमित्तं तेजः। छा०उ० 5/19/2
5. ब्रह्मविद्ब्रह्मेति वक्ष्यमाणलक्षणं वृहत्तमत्वाद्ब्रह्म तद्वेति विजानातीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परम्। तै०उ० 2/1/1

2.2.227.1 ब्रह्मवेत्ता

जिसने आत्मा को क्षुधादि से अतीत और प्रत्यवाय से असम्बद्ध जाना है। वह सर्वदा क्षुधादि से अतीत आत्मा को ही देखता है, क्योंकि जो आत्मा से भिन्न किसी हेय या उपादेय वस्तु को नहीं देखता उससे कर्म का सम्बन्ध होना संभव नहीं है।[1]

2.2.228.1 मन-आनन्दम्

जिसका नाम आनन्दभूत अर्थात् सुखकारी ही है, वह 'मन-आनन्द' कहलाता है।[2]

2.2.229.1 मौन

अनात्मप्रत्यय तिरस्कार का पर्यवसान-फल मौन है, उसे निःशेष जानकर ब्राह्मण कृत-कृत्य हो जाता है।[3]

2.2.230.1 मानव

जो मानवी सृष्टि में होता है उसे मानव कहते हैं।[4] अर्थात् जो सांसारिक माया से आबद्ध रहता है तथा इसी में अपने आपको खुश मानता है वह मानव है।

2.2.231.1 मुमुक्षु

मुक्त होने की इच्छावाले को मुमुक्षु कहते हैं। मुक्त बन्धन से छूटे हुए को कहते हैं।[5]

---

1. येन पाशनायाद्यतीतो नित्यं प्रतयावायासम्बद्धोविदित आत्मा, तं वयं ब्रह्मविदं ब्रूमः। बृ०उ० 4/4/6
2. मन-आनन्दम्; आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य मनस्तन्मन आनन्दम्। तै०उ० 1/6/1-2
3. निःशेषं कृत्वा, मौनं नाम अनात्मप्रत्ययतिरस्कृतकरणस्थ पर्यवसानं फलम्, तच्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः कृतकृत्यो भवति।
4. मानव्यां सृष्टौ भवो मानवो। छा०उ० 4/15/5
5. मुमुक्षुर्मोचनार्थी, मुक्तो विमुक्तबन्धः। मा०उ०/वै०प्र० 32

2.2.232.1 मनीषी

मन का ईशन करने वाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर मनीषी कहलाता है।[1] मन को गति देने वाले को अर्थात् लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करने वाले को मनीषी कहते हैं, कारण वही मन को चलायमान करता है।

2.2.233.1 मानुषी

मनुष्यों में रहनेवाली समाज्ञा है, अर्थात् यह आध्यात्मिक समाज्ञा-ज्ञान-विज्ञान यानी उपासना है यह इसका तात्पर्य है।[2]

2.2.134.1 महामना

जिसका मन महान् अर्थात् गम्भीर हो यानी जिसका मन अपने को दूसरे के समान न समझने वाला हो उसे महामना कहते हैं।[3] जो समस्त संसार के जीव को अपने से अलग नहीं समझता हो साथ ही उसके सुख और दुःख में प्रतिभागी होता हो वह महामना कहा जाता है।

2.2.236.1 महिमा

इस लोक में गो-अश्वादि को महिमा कहते हैं।[4]

2.2.236.1 लोक्य

वीर पुत्र का जन्ममात्र ही पिता की रक्षा का कारण नहीं हो सकता, जैसा कि 'अतः अनुशासित पुत्रको' (ब्राह्मणलोग) लोक्य (पुण्यलोक प्राप्त कराने वाला) कहते हैं।[5]

---

1. मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वरः इत्यर्थः। ई०उ० 8
2. मानुषीर्मनुष्येषु भवा मनुष्यः समाज्ञाः, आध्यात्मिक्यः सामाज्ञा ज्ञानानि विज्ञानान्युपास-नानीत्यर्थः। तै०उ० 3/10/4
3. महामना महद्गम्भीरं मनो यस्य सममात्मानमन्यैर्नन्यमानं मनो यस्य सोऽयं महामना। छा०उ० 6/1/2
4. गोउश्वादीह महिमेत्याचक्षते । छा०उ० 7/24/2
5. न वीरजन्ममात्रं पितुः रक्षणाय तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः। छा०उ० 3/15/1

2.2.237.1 मर्त्य

जिस प्रकार स्वप्न में दिखलायी देने वाले वस्तु जागने से पूर्व स्वप्नकाल में ही रहनेवाली होती है। इसी से अविद्या स्वप्न के पदार्थ के समान मर्त्य विनाशी है।[1]

2.2.238.1 व्यान

प्राण और अपान की जो संधि है। उनके बीज का जो वृत्तिविशेष है वह व्यान है।[2]

2.2.239.1 शुक्र

पुरुषाकार से भाक्ति (अर्थात् पुरुष के आकार की वासना से युक्त) तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गों से उत्पन्न हुआ तेजोरूप ही शुक्र है।[3] यही सृष्टि को आगे बढ़ाता है जिसके अभाव ें सृष्टि-प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती है।

2.2.240.1 शान्तसमृद्धम्

शांति उपशम को कहते हैं जो शांत भी है और समृद्ध भी है वह शान्तिसमृद्ध है अथवा शान्ति के द्वारा उस समृद्ध ब्रह्म की उपलब्धि होती है, इसलिए उसे शान्तिसमृद्ध कहते हैं।[4]

2.2.241.1 शिशु

शरीर के मध्य में जो यह लिंगात्मा प्राण है, वह पाँच प्रकार से शरीर में प्रविष्ट होकर बृहन्, पाण्डरवास सोम और राजन् इन नामों से कहा जाता है,

---

1. यथा स्वप्नदृश्यं वस्तु प्राक् प्रबोधातत्कालभावीति तद्वत्। तत एव तन्मर्त्यं विनाशि।
2. प्राणपानयोः सन्धिस्तयोरावृत्ति विशेषः स व्यानः। छा०उ० 1/3/3
3. पुरुषाकृतिभावतं हि सर्वेभ्योऽङ्गभ्यस्तेजः संभूतरेतो बीजम् तत्समाद्यो जायते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेवास्यात्। तै०उ० 2/1/1
4. शान्तिसमृद्धं शान्तिरुपशमः, शान्तिश्च तत्समृद्धं च शान्ति समृद्धम्। शान्त्या वा समृद्धं तदुपलभ्यत इति शान्तिसमृद्धम्। तै०उ० 16/12, पृ०53

साथ ही यह प्राण शिशु के समान अन्य इन्द्रियों की तरह विषयों में पटु न होने के कारण शिशु है।[1]

2.2.242.1 शारीर

शरीर रूप पार्थिवांश में होने वाले को शारीर कहते हैं।[2]

2.2.243.1 सुतेजा

प्रकृत वैश्वानर आत्मा का मस्तक सुतेजा है।[3]

2.2.244.1 संदेह

शरीर के मध्यभाग को संदेह कहते हैं। क्योंकि 'दिह्' धातु उपचय (वृद्धि) अर्थवाला है और शरीर, मांस, रुधिर एवं अस्थि आदि से बहुल (उपचित) है इसलिए वह संदेह है।[4]

2.2.245.1 साध्यगण

देवताओं की जाति विशेष, कर्म के अधिकारी मनुष्य, गांव और जंगल में रहनेवाले पशु साध्यगण कहलाते हैं।[5]

2.2.246.1 ह्लादनि

मेघों की गर्जना के शब्दों को ह्लादनि कहते हैं।[6]

---

1. शरीरमध्ये यः प्राणो लिङ्गात्मा, यः पञ्चधा शरीरमाविष्टः बृहन्पाण्डरवासः सोमराजन्नित्युक्तः, यस्मिन्वाङ्मनः प्रभृतीनि करणानिविषक्तानि पङ्वीशशंकुनिदर्शनात् स एष शिशुरिव, विषयेष्वितरकरणवदपटुत्वात्। बृ०उ० 2/2/1, पृ० 5013०
2. पार्थिवांशे शरीरे भवः शारीरः। बृ०उ० 3/9/10
3. प्रकृतस्यैवास्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा। छा० 5/20/2
4. संदेहस्त्वेष संदेहो मध्यमं शरीरं वैश्वानरस्य। देहरूपचयार्थत्वान्मांसरुधिरास्थ्यादिभिश्च बहुलं शरीरं तत्संदेहः। छा०उ० 5/15/2
5. साध्यादेवविशेषाः मनुष्याः कर्माधिकृताः। पशवोग्राम्यारण्याः। मु०उ० 2/1/7
6. ह्लादनये गर्जित शब्दा मेघानाम्। छा०उ० 5/5/1

2.2.247.1 हिरण्यदंष्ट्र

अमृतदंष्ट्र अर्थात् जिसकी दाढें कभी नहीं टूटतीं[1] वह हिरण्यदंष्ट्र है।

2.2.248.1 हारेत्वा

2.2.250.1 हार से युक्त जो इत्वा–गाड़ी उसे हारेत्वा कहते हैं, वह यह गौओं से सहित है अत: हारेत्वा है।[2]

2.3 जगद्विषयक पारिभाषिक शब्द

अद्वैत वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं। ब्रह्म तथा आत्मा एक हैं तथा दोनों परमतत्त्व का पर्याय हैं। जगत् प्रपञ्च माया की प्रतीति है। जीव एवं जगत् दोनों मायाकृत हैं। भ्रमकाल में जिस प्रकार रज्जु सर्प के रूप में प्रतीत होती है तथा रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अविद्या या माया के कारण, जीव–जगत् प्रपञ्च रूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जगत्–प्रपञ्च बाध हो जाता है। यही मोक्ष का आत्म स्वरूप ज्ञान है।

माया, अविद्या, अज्ञान, विवर्त भ्रान्ति, भ्रम अध्यास सदसद्निर्वचनीयता आदि शब्दों का प्रयोग वेदान्त में प्राय: पर्यायों के रूप में किया जाता है। आचार्य शङ्कर ने अपने उपनिषद् भाष्यों में जिन जगद्विषयक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है उनमें से महत्त्वपूर्ण शब्दों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है–

सर्वसंसार धर्मशून्यता आत्मा का स्वभाव है, इनका सांसारिक धर्मों से युक्त होना अन्य उपाधि के कारण है, और जिस हेतु से इसका परोपाधिकृत संसारधर्मित्व है वह अविद्या[3] है। अर्थात् इस अविद्या के कारण ब्रह्म और जीव में भेद उत्पन्न होता है तथा दोनों अलग–अलग प्रतीत होने लगते हैं, किन्तु जैसे ही इस अविद्या की निवृत्ति ज्ञान के माध्यम से हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म और जीव की एकता का प्राकट्य हो जाता है। इस प्रकार आत्मा से जो भी भिन्न

---

1. हिरण्यदंष्ट्रोऽमृतदंष्ट्रोऽभग्नदंष्ट्रइति यावत्। छा०उ० 4/37
2. हारेत्वा हारेणयुक्ता इत्वा गन्त्री सेयं हारेत्वा। छा०उ० 4/2/3
3. बृ०उ०शा०भा० 4/3/19

वस्तु है वह अविद्या है।[1] इस जगत् को असत् भी कहा गया है क्योंकि ब्रह्म आदि की चेष्टा का विषय होता है वह ब्रह्म है। इस प्रकार विशेष रूप से ग्रहण किया जा सकता है किन्तु बुद्धि आदि के निवृत्त हो जाने पर तो उसे ग्रहण करने के कारण का अभाव हो जाने से उपलब्ध न होने वाला वह ब्रह्म वस्तुतः है ही नहीं। इस प्रकार प्रसिद्ध है और इसके विपरीत मृज्जल आदि असत् है।[2] इस जगत् को आवर्त[3] कहा गया है जिस प्रकार आवर्त में जब कोई फँस जाता है तो वह उसी जगह पर घूमता रह जाता है, ठीक उसी प्रकार इस जगत् में मनुष्य अज्ञानवश जन्म-मरण के चक्कर में चक्कर काटता रहता है। अज्ञान ब्रह्म का सबसे बड़ा आवरण[4] कहा गया है कारण अज्ञानावरण के कारण ही जीव ब्रह्म को नहीं समझ पाता है। यथा अन्धकार के कारण जीव रज्जु को सर्प समझ बैठता है जैसे ही अन्धकारादि की निवृत्ति प्रकाश से हो जाती है तो जीव वास्तविक सत् अर्थात् रस्सी को साँप न समझ कर रस्सी का ज्ञान कर लेता है। ठीक उसी प्रकार जगत् का अस्तित्व तभी तक है जब तक ब्रह्म अज्ञान के आवरण से आवृत रहता हो। एषणा[5] भी जगत् की सत्ता को दृढ़ करने में स्तम्भ का काम करती है। कारण इन जागतिक स्त्री, पुत्र, वित्त, कर्म आदि एषणाओं के जाल में फंसकर मनुष्य जन्म-मृत्यु के जाल में फंआ रहता है। इन्हीं बिन्दुओं को ध्यान में रखकर जगत् से सम्बंधित पारिभाषिक शब्दों का वर्णक्रम से अध्ययन प्रस्तुत है।

2.3.249.1 अक्रोध

कामना के विघात हो जाने पर क्रोध होता है, और क्रोध जब किसी उपाय से निवृत हो जाता है, तब चित्त प्रसन्न और अनाकुला होने पर अक्रोध हो जाता है।[6]

---

1. वही 2/4/14
2. क०उ० 2/4/11
3. छा०उ० 4/5, पृ० 427
4. बृ०उ० 1/2
5. वही 1/4/17
6. सक्रोध: केनचिदुपायेन निवर्तितो यदा भवति तदा प्रसन्नमनाकुलं चित्तं सदक्रोध उच्यते। बृ०उ० 4/4/5

2.3.250.1 अदोमय

जो कुछ भी इस संसार में व्याकृत है वह सब धर्म और अधर्म का ही कार्य एवं फल है, उसे प्राप्त करने वाला तन्मय हो जाता है इसके विषय में यह बात सिद्ध है कि यह गृह्यमाण विषयादिमय है, इसलिए इसे अदोमय भी कहते हैं।[1]

2.3.251.1 अन्न

जो खाया यानि भोजन किया जाता है, उसे अन्न कहते हैं।[2]

2.3.252.1 अन्नाद्य

जो अन्न हो और खाद्य (भक्ष्य) भी हो, जिसका प्रतिदिन उपयोग किये जाने पर देवाताओं की स्थिति हो उसे अन्नाद्य कहते हैं।[3]

जिसके आश्रित होकर प्राणादि प्रतिदिन जीवित रहते हैं, और जो शरीर की स्थिति करने वाला है वह अन्नाद्य कहलाता है।[4]

2.3.253.1 अप्राण

जिसमें क्रियाशक्ति भेदवाला चलनात्मक वायु न रहता हो उसे अप्राण कहते हैं।[5]

---

1. समस्तं धर्माधर्मया: कार्यं यावत्किञ्चिद् व्याकृतम, तत् सर्वंधर्मायो: फलं तत् प्रतिपद्यमानस्तन्मयो भवति। तदेतत्सिद्धम् स्ययद्रयदम्मयोगृह्यमाणविषयादिमय: तस्मादयमदोमय:। बृ०उ० 4/4/5
2. अन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नम्। मु०उ० 1/8
3. अन्नाद्यमन्नं च तदाद्यं च येनोपभुज्यमानेनाहन्यहनि देवानां स्थिति स्यातदन्नाद्यमेष:। छा०उ० 3/1/2–3
4. अन्नाद्यं प्रत्यहमुपजीव्यमानं शरीर स्थितिकरं यद्भवति। छा०उ० 3/6/1
5. अप्राणोऽविद्यमान: क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राण:। मु०उ० 2/1/2

2.3.254.1 अब्जा

(आत्मा) अप् – जल में शंख, सीपी और मकर आदि रूपों से उत्पन्न होता है, अतः अब्जा है।[1]

2.3.255.1 अविद्या

सर्व संसार धर्मशून्यता आत्मा का स्वभाव है, इसका सांसारिक धर्मों से युक्त होना अन्य उपाधि के कारण है, और जिस हेतु से इसका परोपाधिकृत संसारधर्मित्व है, वह अविद्या है।[2]

2.3.255.2 जो सर्वात्मभाव से उतरकर अपने को वालाग्रमात्रमी मैं यह नहीं हूँ, इस प्रकार अन्य रूप से देखता है, वह अवस्था अविद्या है।[3]

2.3.255.1 आत्मा से भिन्न वस्तु अविद्या है।[4]

2.3.255.4 अविद्या कल्पित देहेन्द्रिय संघातरूप उपाधि से उत्पन्न हुए विशेषात्मरूप खिल्य भाव से द्वैत–सा अर्थात् परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म–सा, भिन्न–सा अर्थात् आत्मा से भिन्न–सा प्रतीत होता है। वह अविद्या है।[5]

2.3.255.5 'शोकं मोहम्' शोक यह काम है; इष्ट वस्तु के लिए चिन्तन करने वाले का जो अरमण (खेद) है, वह तृष्णाभिभूत पुरुष के काम का बीज होता है; क्योंकि उसमें काम उत्तेजित होता है; मोह विपरीत प्रतीति से

---

1. अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। क०उ० 2/2/2
2. सर्वसंसारधर्मशून्यता, परोपाधिनिमित्तं चास्य संसारधर्मित्वं यन्निमित्तंचास्य परोपाधिकृतं संसारधर्मित्वम्, सा चाविद्या। बृ०उ० 4/3/19
3. यत्तु सर्वात्माभावादर्वाग् वालाग्रमात्रमप्यन्यत्वेन दृश्यते–नाहमस्मीति, तदवस्थाविद्या। बृ०उ० 4/3/2
4. द्वितीयं च वस्त्वन्तरमविद्याप्रत्युस्थपितमेव। बृ०उ० 1/4/1
5. यस्मिन्नविद्याकल्पिते कार्यकरणसङ्घतोधिजनिते विशेषात्मनि खिल्यभावे हि यस्मात्, द्वैतममिव–परमार्थतोऽद्वैते ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिव वस्त्वन्तरमात्मनः– उपलक्ष्यते। बृ०उ० 2/4/14

होने वाला अविवेक यानि भ्रम है यही समस्त अनर्थों की उत्पत्ति की बीज-भूता अविद्या है।[1]

2.3.255.6 आत्मज्ञान तो कर्त्तव्य है, और आत्मा क्षुधादि धर्मों वाला है नहीं, इसलिए उसे साधन और फल से विलक्षण ही समझना चाहिए। अतः आत्मा को इनसे अविलक्षण रूप से जानना ही अविद्या है।[2]

2.3.256.1 अशना

अशनापिपासे – अशन (भक्षण) की इच्छा को अशना कहते हैं।[3]

2.3.257.1 आशिशिषि

आशिशिषति अर्थात् खाना चाहता है, उस समय पुरुष का नाम यह किस कारण से होता ? सो बतलाते हैं – उस पुरुष द्वारा खाया हुआ जो कठिन अन्न होता है उसे उसका पिया हुआ जल द्रवीभूत करके ले जाता है अर्थात् रसादि रूप से परिणत कर देता है। तभी उसका भक्षण किया हुआ अन्न पचता है तत्पश्चात् उसका 'अशिशिषि' ऐसा गौण नाम होता है।[4]

2.3258.1 असत्

ब्रह्म बुद्धि आदि की चेष्टा का विषय होता तो 'यह वह (ब्रह्म) है' इस प्रकार विशेष रूप से ग्रहण किया जा सकता था; किन्तु बुद्धि आदि के निवृत्त हो जाने पर तो उसे ग्रहण करने के कारण का अभाव हो जाने से होनेवाला वह

---

1. शोकं मोहम् – शोक इति कामः, इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यदरमणम्, तत्तृषणाभिभूतस्य काम बीजम्; तेन हि कामो दीप्यते; मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः, स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्। बृ०उ० 3/5/1
2. आत्मज्ञानस्य कर्त्तव्यत्वात्; आत्मा च अशनायादिधर्मवान्न भवतीति साधनफलविलक्षणो ज्ञातव्यः, अतोऽव्यतिरेकाणात्मनो ज्ञानमविद्या। बृ०उ० 3/5/1
3. अशनपिपासे अशितुमिच्छाशना। छा०उ० 6/8/3
4. अशिशिषत्यशितुमिच्छतीति तदा तस्य पुरुषस्य किं निमित्तं नाम भवति ? इत्याहयत्तत्पुरुषेणा-शितमन्नं कठिनं पीता आपो नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन विपरिणमयन्ते, तदा भुक्तमन्नं जीर्यति। अथ च भवत्यस्य नामाशिशि प्रतीति गौणम्। छा०उ० 6/8/3

ब्रह्म वस्तुतः है ही नहीं। लोक में जाने जाने वाला उपलब्ध न होनेवाला ब्रह्म, वस्तुतः है ही नहीं। लोक में जो वस्तु इन्द्रियगोचर होती है वही है। इस प्रकार प्रसिद्ध है। और इसके विपरीत मृणजल आदि असत् है।[1]

2.3.259.1 असुर्य

अद्वय परमात्मभाव की अपेक्षा से देवता भी असुर ही हैं। असुर सम्पत्तिस्वरूप लोक असुर्य है।[2]

2.3.260.1 अहंकारादेश

जो अहंकार रूप से आदेश (उपदेश) किया जाता है इसलिए उसे अहंकारादेश कहा है।[3]

2.3.261.1 अज्ञान

आज्ञा करना अर्थात् ईश्वर भाव प्रभुता को अज्ञान कहते हैं।[4]

2.3.262.1 आकाश

जो शब्दगुणवाला और समस्तमूर्त्त और समस्तमूर्त्त पदार्थों को अवकाश देनेवाला है, उसे आकाश कहते हैं।[5]

2.3.263.1 आकाशछिद्र

जितने परिणामवाली छुरे की धार होती है, यानि जितना छुरे का अग्रभाग होता है, अथवा जितनी सूक्ष्मता से युक्त मक्खी का पंख होता है,

1. बुद्धयादि चेष्टाविषयचेद् व्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत वुद्धयाद्युपरमे च ग्रहण कारणभावात् अनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरितं विपरीतं चासद् क०उ० 2/3/11
2. असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। ई०उ० 3/
3. अहङ्कारादेशोराहङ्करेणादियत इत्यहङ्कारादेशः। छा०ड०7/25/1, पृ० 794
4. आज्ञानमाज्ञप्तिरीश्वररभावः। ऐ०उ० 3/1/2, पृ० 87
5. आकाशो नाम शब्दगुणोऽवकाशकरोमूर्त्तद्रव्याणाम्। तै०उ 2/1/1

उतने परिणामवाला अण्ड कपलों के मध्य में आकाश छिद्र होता है।[1]

2.3.264.1 अद्रिजा

आत्मा नदी आदि रूप से अद्रि–पर्वतों से उत्पन्न होता है अतः अद्रिजा है।[2]

2.3.265.1 आनन्दभुक्

जिस प्रकार लोक में अनायास रूप से स्थित पुरुष सखी या आनन्द भोग करनेवाला कहा जाता है उसी प्रकार क्योंकि इस अवस्था में यह आत्मा अत्यन्त अनायासरूपा स्थिति का अनुभव करता है, इसलिए उसे आनन्दभुक् कहा जाता है।[3]

2.3.2266.1 अन्धतामिस्त्र

आठ प्रकार के ऐश्वर्य और दशों प्रकार के विषय भोग्यरूप से उपस्थित रहने पर उन्हें आधे भोगने पर ही मृत्यु के द्वारा उनसे छुड़ा दिये जाने पर जो ऐसा शोक होता है कि मैंने इन्हें बड़े कष्ट से प्राप्त किया था, मैं इन्हें भोग भी नहीं पाया कि यह मरण काल उपस्थित हो गया–इसे अन्धतामिस्त्र कहते हैं।[4]

2.3.267.1 आलोक

जहां वैराज शरीर है और जिसमें प्राणियों के कर्मफल का उपयोग होता

---

1. तत्र यावती यावत्परिमाण क्षुरस्यधारा अग्रम, यावद्वा सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रम् तावांस्तावत्परिमाणः, अन्तरेण अण्डकपालयोः, आकाशश्छिद्रम् तेनाकाशेनेत्येतत्। बृ०उ० 3/3/2, पृ० 696
2. (आत्मा) अद्रिजः पर्वतेभ्योनद्यादिरूपेण जायत इति। क०उ० 2/2/2, पृ० 118
3. यथा लोके निरायास स्थितिः सख्यानन्दभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा हि यं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्। मा०उ० /गौ०का० 4, पृ० 17
4. अन्धतामिस्त्रोऽप्यष्टादशविधः। अष्टविधैश्वर्ये दशसु विषयेसु भोग्यत्वेनोपस्थितेष्वर्धभुक्तेषु मृत्युना हियमाणस्य यः शोको जायते महता क्लेशेनैते प्राप्ता न चैते मयोपभुक्ता : प्रत्यासन्नश्चायं मरणकाल इति सोऽन्धतामिस्त्र इत्युच्यते। श्वे०उ० 1/4, पृ०78

है, वह यही लोक है इससे आगे आलोक है।[1]

2.3.268.1 आवर्त

जिसमें जन्म-मरण के प्रवाहरूप चक्र पर चढ़े हुए प्राणी घटीयन्त्र के समान पुनः-पुनः आवर्तन करते हैं उस लोक को 'आवर्त' कहते हैं।[2]

2.3.269.1 आवरण

कारण में विद्यमान कार्य अन्य कार्य का आवरण होता है।[3]

2.3.270.1 आहार

जिनका आहरण किया जाये, उन्हें आहार कहते हैं।[4]

2.3.271.1 उद्गीथ

मेघ जो बरसता है, वही श्रेष्ठता के कारण उद्गीथ है।[5]

2.3.271.2 स्त्री-पुरुष का जो साथ सोना, एक शय्या पर जाना है, वह उद्गीथ है, क्योंकि उत्तम सन्तान की प्राप्ति हेतु होने के कारण वह उत्कृष्ट है।[6]

2.3.272.1 उदन्य

जिस प्रकार कि 'गोनाथ' अश्वनाय पुरुशनाम आदि शब्द हैं उसी प्रकार लोक उस तेज का 'उदन्या' उदक को ले जाने के कारण उदन्य कहते हैं।[7]

---

1. यत्र वैराजं शरीरं यत्र य कर्मफलोभोगः प्राणिनां स एष लोकः, एतावौश्च लोकः अतः परम् आलोक। बृ०उ० 3/3/2
2. आवर्तन्तऽस्मिञ्जननमरणप्रबन्धचब्रारूढा घटीयन्वपुनः पुनरित्यावर्तस्तं न प्रतिपद्यन्ते न प्रतिपद्यन्ते इति आवर्त। छा०उ० 4/5/5
3. कारणे वर्तमानं कार्यं कार्यां कार्यान्तराणामावरणमित्य वोचाम। बृ०उ० 1/2
4. आह्रियत इत्याहारः। छा०उ० 7/16/2
5. वर्षति स उद्गीथ श्रेष्ठ्यात्। छा०उ० 2/3/1
6. सहशयनमेकपर्यङ्कगमनं स उद्गीथः श्रैष्ठयात्। छा०उ० 2/13/1
1. तद्यथा गोनाय इत्यादि समानमेव तत्तेज आचष्टे लोक उदन्येत्युदकं नयतीत्युदन्यम्। छा०उ० 6/8/5

2.3.273.1 उदान

जो (आदित्य संज्ञक) प्रसिद्ध बाह्य सामान्य तेज है वही शरीर में उदान है।[1]

2.3.274.1 उपलम्भ

वस्तु के न होने पर भी वस्तु के समान उपलब्ध होना उपलम्भ है।[2]

2.3.275.1 ऊर्ध्वमूल

ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) अर्थात् जो वह भगवान् विष्णु का परमपद है वही जिसका मूल है ऐसा यह अव्यक्त से स्थावर पर्यन्त संसार वृक्ष ऊर्ध्वमूल है।[3]

2.3.276.1 ऋतजा

ऋत यज्ञाङ्गरूप से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे ऋतजा कहते हैं।[4]

2.3.277.1 एषणा

स्त्री, पुत्र, वित्त और कर्म–ये सभी ही कामना करने योग्य विषय हैं, जो साधन रूपा एषणा हैं।[5]

2.3.278.1 क्वधस्थ

कु पृथिवी को कहते हैं, वह अतंरिक्षादि लोकों की अपेक्षा अधः नीची, होने के कारण क्वध कहलाती है। इस स्थिति को क्वधस्थ कहते हैं।[6]

---

1. यद्बाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीर उदानः। प्र०उ० 39
2. वस्तुतदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि। मा०उ०/अ०शा०प्र० 87
3. ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसार–वृक्ष ऊर्ध्वमूलः। क०उ० 2/3/1
4. ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति। क०उ० 2/2/2
5. एतावानेव हि कामयितव्योविषयो यदुत जायापुत्रवित्तकर्माणि साधनलक्षणैषणा। बृ०उ० 1/4/17
6. कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन्। क०उ० 1/1/28, पृ० 36

2.3.279.1 काम

अप्राप्त विषय की आकाङ्क्षा यानि तृष्णा को काम कहते हैं।[1]

2.3.279.2 भोजन का वर्णन कर दिए जाने पर तज्जनित तृप्ति का अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भोजन तो उसी के लिए होता है। वे साध्य-साधनरूप एषणाएँ ही काम है।[2]

2.3.279.3 स्त्री-प्रसंग की अभिलाषा का नाम काम है।[3]

2.3.279.4 काम हृदय की वृत्ति है क्योंकि कामी के हृदय से ही वीर्य स्खलित होता है।[4]

2.3.280.1 कामान्नी

जिसको इच्छा से ही अन्न प्राप्त हो जाय उसे कामान्नी कहते हैं।[5]

2.3.281.1 कामरूपी

जिसे इच्छा मात्र से ही (इष्ट) रूपों की प्राप्ति हो जाय ऐसा कामरूपी है।[6]

2.3.282.1 काल

सम्पूर्ण भूतों की रूपान्तर-प्राप्ति में जो हेतु हैं उसको काल कहते हैं।[7]

---

1. कामाऽसंनिहितविषयाकाङ्क्षा तृष्णा। ऐ०उ० 3/1/2
2. भोजनेऽभिहिते तृप्तिर्न हि पृथगभिधेया, तदर्थत्वाद्भोजनस्य। ते एते साध्य-साध्य लक्षणे कामः। बृ०उ० 1/4/17
3. स्त्री व्यतिकराभिलाषः कामः। बृ०उ० 3/9/11
4. कामो हृदयस्य वृत्तिः कामिनो हि हृदयाद्रेतोऽधिस्कन्दति। बृ०उ० 3/9/22
5. कामान्नी कामतोऽन्नमस्येति कामान्नी। तै०उ० 3/10/5
6. तथा कामतो रूपाण्यस्येति कामरूपी। तै०उ० 3/10/5
7. कालो नाम सर्वभूतानां विपरिणामहेतुः। श्वे०उ० 1/2

2.3.283.1 कषाय

शास्त्र के सम्पूर्ण अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से कहकर श्रुति आख्यायिका का उपसंहार करती है – उस मृदित कषाय को वृक्षादि से सम्बन्ध रखने वाले कषाय के समान रागद्वेषादि दोष अन्तःकरण के रञ्जक होने के कारण कषाय हैं।[1]

2.3.284.1 खम्

'वायुरखम्' – जिसमें वायु रहता है, ऐसा वायुर ख अर्थात् आकाशमात्र ही खम् है।[2]

2.3.285.1 गगनोपम

गगन (आकाश) जिनकी उपमा हो उन्हें गगनोपम कहते हैं।[3]

2.3.286.1 गोजा

गो – पृथिवी में ब्रीहि – यवादिरूप से उत्पन्न होता है इसलिए गोजा है।[4]

2.3.287.1 ग्रह

वाक् ही ग्रह है; क्योंकि असत्य, अनृत, असभ्य एवं वीभत्सादि वचनों की प्रवृत्ता आसत्ति की विषयभूता अध्यात्म परिच्छिन्ना वाक् से ही गृहीत होकर– लोक भूला हुआ है, इसलिए वाक् ग्रह है।[5]

---

1. सर्व शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वाख्यायिकामुपसंहरति श्रुतिः – तस्मै मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव .... कषायो रागद्वेषादिदोषः। छा०उ० 7/26/2
2. वायुर खं वायुरस्मिन् विद्यत इति वायुरं खं, खमात्रं खमित्युच्यते। बृ०उ० 5/1/1
3. गगनोपमान् गगनमुपमा येषां येषां ते गगनोपमास्तानात्मनो धर्मान्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 2
4. गोजा गवि पृथिव्यां ब्रीहियवादि रूपेण जायत इति। क०उ० 2/2
5. वाग् वै ग्रहः–वाचा ह्यध्यात्मपरिच्छिन्नया असङ्ग विषयास्पदया असभ्यानृता–सम्यग्बीभत्सादि वचनेषु व्यापृतया गृहीतो लोकोऽपह्यः, तेन वाग्। बृ०उ० 3/2/9

2.3.288.1 घनोद

लोक को चारों ओर से लोक विस्तार की अपेक्षा दूने परिभाषा के विस्तार वाले परिमाण से पृथिवी को घेरे हुए है। इसी प्रकार उस पृथिवी को उससे दूने परिमाण से सब ओर से समुद्र घेरे हुए है, जिसे पौराणिक 'घनोद' कहते हैं।[1]

2.3.289.1 चित्तकाल

जो आन्तरिक है अर्थात् चित् परिच्छेद्य हैं, जिनका चित्त काल के सिवा और कोई काल परिच्छेदक न हो उन्हें चित्तकाल कहते हैं।[2]

2.3.290.1 चेतोमुख

स्वप्नादिज्ञानरूप चेतना के प्रति द्वार–स्वरूप होने के कारण यह चेतोमुख हैं अथवा स्वप्नादि की प्राप्ति के लिए ज्ञानस्वरूप चित्त ही इसका द्वार यानि मुख है, इसलिए यह चेतोमुख है।[3]

2.3.291.1 चित्तमय

चित्त से उत्पन्न होने वाले और चित्त से प्रतिष्ठित अर्थात् चित्त में ही स्थित रहने वाले को चित्तमय कहा गया है।[4]

---

1. तं लोकं समन्ततः लोकविस्ताराद् द्विस्ताराद् परिमाण विस्तारेण परिमाणेन तं लोकं परिक्षिता पर्येति पृथिवी; तां पृथिवीं तथैव समन्तम्, दिवस्तावद् द्विगुणेन परिमाणेन समुद्रः पर्योति, यं घनोमाचक्षते पौराणिकाः। बृ०उ० 3/3/2
2. चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः; नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेणपरिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः। मा०उ०/वै०प्र० 14
3. स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रतिद्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः। बोध लक्षणं वा चेता द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुख। मा०उ०/गो०प०का० 5
4. चित्तात्मानि चित्तोत्पत्तीनि चित्ते प्रतिष्ठितानि चित्तस्थितानीत्यपि स चित्तमयः। छा०उ० 7/5/2

2.3.292.1 चिरलोक

'चिरलोकलोकानाम्' (चिरस्थायी लोक में रहने वाले) यह पितृगण का विशेषण है। वह पितृगण का जो चिरस्थायी लोक है, वे चिरलोक कहे जाते हैं।[1]

2.3.293.1 चाक्षुष

नेत्रस्थित प्राण के चक्षु में जो हो उसे चाक्षुष कहते हैं।[2]

2.3.294.1 छन्द

छन्द काम को कहते हैं।[3]

2.3.295.1 जगत्

स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, सूर्य चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रों के कारण विचित्र दिखने वाला तथा नाना प्रकार के प्राणियों के उपभोगयोग्य स्थान और साधनों से सम्बन्ध रखने वाला यह जितना देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाचादि रूप हैं वे जगत् हैं।[4]

2.3.296.1 जूति

चित्त का रोगादि से दु:खी होना ही जूति कहलाता है।[5]

---

1. चिरलोकलोकानामितिपितॄणां विशेषणम्। चिरकालस्थायी लोको येषां पितॄणां ते चिरलोक लोका इति। तै०उ० 2/8/4
2. एष ह्येनम् आध्यात्मिकं चाक्षुषि भवं चाक्षुषं। प्र०उ० 3/8
3. छन्द: काम:। बृ०उ० 4/3/21
4. यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्ष: पितृपिशाचादिलक्षणंद्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रह-नक्षत्रविचित्रं विविध प्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसम्बन्धितदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणदेशकालनिमित्ता-नुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिकममे तद्भोक्तृकर्मविभागाप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति। क०उ०3०
5. जूतिश्चेतसो रुजादिदु:खत्वभाव:। ऐ०उ० 3/1/2

2.3.297.1 तज्ज

तेज अप और अन्नादि क्रम से सारा जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह तज्ज है।[1]

2.3.298.1 तेजोरस

श्रान्त तपे हुए अर्थात् खेद को प्राप्त हुए प्रजापति का जो तेजो रस था, तेज ही जो रस है उसका नाम तेजारस है।[2] रस सार को कहते हैं।

2.3.299.1 तदास्थ

पुत्रादि में जिसकी आस्था – अस्थिति अर्थात् तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति है, वह तदास्थ है।[3]

2.3.300.1 तामिस्त्र

आठ प्रकार के ऐश्वर्यो द्वारा दश प्रकार के दृष्ट और आनुश्राविक विषयों के लिए प्रयत्न करते हुए उनकी प्राप्ति न होने पर जो क्रोध होता है, वह तामिस्त्र कहलाता है।[4]

2.3.301.1 दु:ख

दूसरों एवं शास्त्रों के आश्रित ज्ञान व्यतिरिक्त बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है अग्नि–दाहादि के कारण संक्लेशन यानि दु:ख उपलब्ध होता है। संक्लेश का अर्थ संक्लेशन अर्थात् दु:ख है।[5]

---

1. तज्जलानिति, तस्माद् ब्रह्मणो जातं तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वम्। छा०उ० 3/14/1
2. तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य खिलस्य तेजोरसस्तेजोरसो रस: सारो निवर्तत प्रजापतिशरीरान्निष्क्रान्त इत्यर्थ:। बृ०उ० 1/2/2
3. तेषु – पुत्रादिष्वास्था आस्थिति: तात्पर्येण वर्त्तनं यस्य स तदास्थ:। क०उ० 1/28
4. तामिस्त्रोऽष्टादशविध:। दृष्टानुक्तविकेषु दशसु विषयेष्वष्टविधैरैश्वर्यै: प्रयतमानस्य तदसिद्धौ य: क्रोध: स तामिस्त्रोऽभिधीयते। श्वे०उ० 1/4
5. परतन्त्राश्रेयस्य बाह्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता। संक्लेशनं संक्लेशो दु:खमित्यर्थ:। मा०उ०/अ०शा० प्र०24

2.3.302.1 द्वादशाकृति

बारह महीने उसकी (आदित्य) आकृतियाँ, अवयव हैं, अथवा बारह महीनों द्वारा उसका अवयवीकरण (विभाग) किया जाता है इसलिए उसे द्वादशाकृति कहते हैं।[1]

2.3.303.1 दैववित्त

दैववित्त को एषण के बीच में ही पढ़ा गया है और हिरण्यगर्भादि देवताविषयणी विद्या ही दैववित् कही जाती है। क्योंकि वह देवलोक प्राप्ति की हेतु है। निरुपाधिक प्रज्ञानघनविषयिणी ब्रह्म विद्या देवलोक की प्राप्ति की हेतु नहीं है जैसा कि ''वह सर्व हो गया'' वह इसका आत्मा ही हो जाता है। इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है।[2]

2.3.304.1 द्रव्यत्वाभाव

द्रव्य के भाव का नाम द्रव्यत्व है। उसके अभाव को द्रव्यत्वाभाव कहते हैं।[3]

2.3.305.1 निद्रा

रज्जु में सर्पग्रहण के समान अन्यथाग्रहण का नाम स्वप्न है; तथा तत्तव के अप्रतिबोध रूप तम को निद्रा कहते हैं।[4]

---

1. तं द्वादशाकृति द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वावयावकारणम् अस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं।
2. दैवाद वित्तद् व्युत्थानमेव नास्तीति केचित् यस्मात्तद्बलेन हि किल व्युत्थानमिति, तदसत् ''एतावान्वैकाम:'' (बृ०उ० 1/4/17) इति पठितत्वादेषणांमध्ये दैवस्य वित्तस्य, हिरण्यगर्भादिदेवा विषयैष विद्या वित्तमित्युच्यते देवलोकहेतुत्वात्, न हि निरुपाधिकप्रज्ञानशनविषयाविषया ब्रह्मविद्या। ब्र०उ० 3/5/1 देवलोकप्राप्तिहेतु:, ''तस्मात्तत्सर्वमभवत्'' (बृ०उ० 1/4/10) आत्मा–ह्येषां स भवति (1/4/10) इति श्रुते: तद्बलेन हि व्युत्थानम् ''एतं वैतमात्मानं विदित्वा'' 3/5/1, इति विशेषवचनात्। बृ०उ० 3/5/1
3. द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तदभावो द्रव्यवाभाव:। मा०उ०/अ०शा०प्र० 50
4. स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्तवाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। मा०उ०/अ०शा०प्र० 14

2.3.306.1 निधन

सूर्यास्त से पूर्व अर्थात् सूर्य जब अदृश्य होना चाहता है उस समय का जो रूप है वह 'निधन' है।[1]

2.3.306.2 पुरुष मैथुन-क्रिया द्वारा जो समय बिताता है तथा मैथुनक्रिया की जो समाप्ति करता है वह निधन है।[2]

2.3.307.1 नियति

पुण्य-पाप रूप जो अविषम कर्म है वे 'नियति' है।[3]

2.3.308.1 निलयन

नीड अर्थात् आश्रय मूर्त का जो धर्म है वह निलयन कहलाता हैं।[4]

2.3.309.1 नीहार

नीहार कुहरे को कहते हैं, प्राणों के सहित चितवृत्ति कुहरे के समान प्रवृत्त होने लगती है।[5]

2.3.310.1 प्रकृति

जलों का स्वभाव निम्न प्रदेश की ओर जाने का है इसके समान जो कोई अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती उस सबको लोक में प्रकृति के नाम से जाना जाता है।[6]

---

1. यत्प्रथमास्तमितेऽर्दानंजिगमिषति सवितरि तन्निधनं। छा०उ० 2/9/8
2. कालं गच्छति मैथुनेन पारं समाप्ति गच्छति तन्निधनम्। छा०उ० 2/13/1/191
3. नियतिरविषमपुण्यपापलक्षणं कर्म तद्वा कारणम्। श्वे०उ० 1/2
4. निलयनं नीडमाश्रयो मूर्तयस्यैव धर्मः। तै०उ० 2/6/1
5. नीहारस्तुषारः। तद्वत्प्राणैः समा चित्तवृत्तिः प्रवर्तते। श्वे०उ० 2/11
6. यथापां निम्नदेशगमनादिलक्षणः। अन्यापि या काचित्स्वभावं न जहाति सा सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेयालोके। मा०उ०/अ०शा०प्र० 9

2.3.311.1 पञ्चपाद

पांच ऋतुएँ इस संवत्सररूप आदित्य के मानों चारण है; इसलिए यह पञ्चपद है।[1]

2.3.312.1 प्रीतिमात्र

क्रीडा बाह्य साधन की अपेक्षा रखनेवाली होती है और रति साधन की अपेक्षा न करके बाह्य विषय जिसे प्रीतिमात्र कहते हैं।[2]

2.3.313.1 प्रतिवेश

श्रम निवृत्ति के स्थान अर्थात् समीपवर्ती गृह को प्रतिवेश कहते हैं।[3]

2.3.314.1 प्रतिहार

अग्नि प्रतिहार है, क्योंकि प्राणियों द्वारा उसका प्रतिहरण अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाना होता है।[4]

2.3.315.1 प्रथमजा

सत्य यानि मूर्त्तामूर्त्तरूप अर्थात् जगत् में प्रथम उत्पन्न होनेवाला हिरण्यगर्भ को प्रथमजा कहा गया है।[5]

---

1. पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते। प्र०उ० 1/11
2. क्रीड़ा बाह्यसाधनसापेक्षा रतिस्तु साधन निरपेक्षाबाह्य विषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः। मु०उ० 3/1/4
3. प्रतिवेशः श्रमापनयनस्थानमासन्नगृहमित्यर्थः। तै०उ० 1/4/3
4. अग्निः प्रतिहारः प्राणिभिः प्रतिहरणादग्नेः। छा०उ० 2/2/2
5. प्रथमजाः प्रथमजः प्रथमोत्पन्न ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्त्तस्यास्य जगतः। तै०उ० 3/10/6

2.3.316.1 पनय

जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का मिथ्यात्व है उसी प्रकार जागृति में भी उनका दृश्यत्व समानरूप से है इस हेतु को पनय कहते हैं।[1]

2.3.317.1 पिपासा

पीने की इच्छा 'पिपासा' कहलाती है। यह शब्द अशना-पिपासा तत्त्व के रूप में उपनिषद् में उल्लिखित है।[2]

2.3.318.1 परमाणु

गन्धघनभूता पृथिवी का जो अत्यन्त सूक्ष्म गन्धात्मक अवयव है, उसे ही परमाणु कहते हैं।[3]

2.3.319.1 परिमर

जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि-ये पाँच देवता मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उसे परिमर कहते हैं।[4]

2.3.320.1 प्रलय

निरोधन का नाम निरोध यानि प्रलय है।[5]

2.3.321.1 प्रस्ताव

जो ज्ञापन करता है, मीठी बातें कहकर तोष देता है वह प्रस्ताव है।[6]

---

1. यथा स्वप्ने दृष्यानां भावनां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। मा०उ०/वै०प्र० 4
2. पातुमिच्छा पिपासा। ते अशनापिपासे अशनापिपासयोः सतत्वं विजानी हीत्येतत्। छा०उ० 6/8/3,
3. परमाणुर्नाम पृथिव्या गन्धानायाः परमसूक्ष्मोऽवयवो गन्धात्मक एव। बृ०उ० 4/3/24-30
4. ब्रह्मणः परिमर परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निरित्येताः। तै०उ० 3/10/4
5. न निरोधः-निरोधनं निरोधः प्रलयः। मा०उ०/वै०प्र० 32
6. ज्ञापयते तोषयति स प्रस्तावः। छा०उ० 2/13/1

2.3.322.1 प्रस्वपिति

अलुप्तदृक्स्वभावा जिसके बोधस्वरूप या साक्षी स्वभाव का कभी लोप नहीं हुआ है। आत्मज्योति से जो अपने वासनात्मक प्रकाशस्वरूप को विषय करता हुआ प्रस्ताव (शयन) करता है, वही प्रस्वपिति ऐसा कहा जाता है।[1]

2.3.323.1 पाश

अविद्या अर्थात् तम ही मृत्यु है तथा रूपादि विषय पाश हैं, क्योंकि उनमें ही जीव पाशित बद्ध होते हैं।[2]

2.3.324.1 बीजनिद्रा

तत्त्व के अज्ञान का नाम निद्रा है, वही विशेष विज्ञान की उत्पत्ति का बीज है; अत: उसे 'बीजनिद्रा' कहते हैं।[3]

2.3.325.1 बहुदायी

जिसका स्वभाव बहुतदान करने वाला हो वह बहुदायी कहलाता है।[4]

2.3.326.1 बहुपाक्य

जिसके घर में नित्यप्रति बहुत सा पाक्य – पकाया हुआ अन्न रहता अर्थात् जिसके घर भोजनार्थियों के लिए बहुत सा अन्न पकाया जाता था, उसे बहुपाक्य की संज्ञा दी गई है।[5]

---

1. अलुप्तदृक् स्वभाव तद् भारूपं वासनात्मकं विषयीकुर्वन् प्रस्वपिति। बृ०उ० 4/3/9
2. अविद्या तमो रूपादयश्च पाशाः पाश्यन्त इति पाशास्तान्। 'मत्यवैतम्।' (बृ०उ० 1/3/38) इति श्रुतेः श्वे०उ० 4/15
3. यस्माद् बीज निद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा, सैव च विशेष प्रतिबोध प्रसवस्य बीजम्; सा बीजनिद्रा। मा०उ०/अ०श०प्र० 13
4. बहुदायीप्रभूतं दातुं शीलमस्येति। छा०उ० 4/1/1
5. बहुपाक्यो बहु पक्तव्यमहन्यहनि गृहे यस्यासौ बहुपाक्यः। छा०उ० 4/1/1

2.3.327.1 भूमा

विज्ञान प्रायः मननपूर्वक हुआ करता है तथा जहां इसके और कुछ नहीं जानता ऐसे लक्षणों वाला वह भूमा है।[1]

2.3.328.1 भ्रम

मोह विपरीत प्रतीति से होनेवाला अविवेक यानि भ्रम है।[2]

2.3.329.1 भुवन

जो ब्रह्मादि भूतों (प्राणियों) के द्वारा संभजनीय (भोगे जाते हैं) अथवा जिसमें भूत (प्राणी) होते हैं, उसका नाम भुवन है।[3]

2.3.329.1 जिसमें भूत (प्राणी) आदि होते हैं उस भूर्लोक आदि समस्त लोकों को भुवन कहते हैं।[4]

2.3.330.1 मृत्यु

अविद्या अर्थात् तम ही मृत्यु है।[5]

2.3.331.1 मृत्युमती

जो मृत्यु की पहुंच से परे नहीं है अर्थात् मृत्यु की विषयभूता ही हैं, मृत्युमती कहते हैं।[6]

---

1. प्रायशो मननपूर्वकत्वाद्विज्ञानस्य। तथा नान्यद्विजानाति, एवं लक्षणो यःसभूमा। छा०उ० 7/24/1
2. मोहस्तु विपरीत प्रत्यय प्रभवोविवेको भ्रमः। बृ०उ० 3/5/1
3. अहंविश्वं समस्त भुवनं भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिर्भिवन्तीति वा वास्मिन्भूतानीति भुवनमभ्यभवामाभिभवामि परेणेश्वरेण स्वरूपेण। तै०उ० 3/10/6
4. भुवनस्य भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं भुरादिः सर्वो लोकस्तस्य। छा०उ० 4/3/6
5. मृत्युरविद्यातमो। श्वे०उ० 4/15 मृत्युर्वै तमः बृ०उ० 1/3/28
6. मृत्युमत्यो मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युत्यो मृत्युगाचरादनतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः। प्र०उ० 5/6

2.3.332.1 मिथुन

यह जो सम्पूर्ण ऋक् और साम के कारणभूत वाक् और प्राण है वह मिथुन है।[1]

2.3.333.1 मिथ्या

विकार वाणी का विलास और नाममात्र है, वह मिथ्या है।[2]

2.3.333.2 जाग्रत अवस्था में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं।[3]

2.3.333.3 विवेकवती बुद्धि से ऐसी भावना करे कि यह जो कुछ सुख अनुभव हो रहा है। वह अविद्यापरिकल्पित और मिथ्या ही है।[4]

2.3.333.4 जिस प्रकार ऋजु (सरल) आदि आभासों के न होने पर भी अलातमात्र में ही ऋजु आदि बुद्धि होती देखी जाती है, उसी प्रकार जाति के आदि के न होने पर भी केवल विज्ञान मात्र मे जाति बुद्धि होना मिथ्या ही है।[5]

2.3.333.5 द्वैत केवल द्वैत-सा तथा अविद्याकृत मृगतृष्णा को मिथ्या कहा गया है।[6]

2.3.334.1 मधुकृत

लोक में मधु करने वाली मक्खियां मधुकृत कही जाती हैं।[7]

---

1. याद्वाक्क प्राणश्च सर्वर्क्सामकारणभूतौ मिथुनम्। छा०उ० 1/1/5
2. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। छा०उ० 6/1/4, मु०उ० 2/1/3
3. जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। मा०उ०/वै०प्र० 4
4. विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तद विद्यापरिकल्पितमृषैवेति विभावयेत्। मा०उ०/अद्वै०प्र० 45
5. यथासत्स्वृजनाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टालातमात्रे तथासत्स्वेव तथासत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादि बुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः मा०उ०/अ०भा०प्र० 51-52
6. यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिका-वदन् तम् मिथ्या। बृ०उ० 5/1/1
7. मधुकृतो मधु कुर्वन्तीति मधुकृतो। छा०उ० 6/9/1

2.3.335.1 मायामय

जिसे मायावी ने रचा है, वह मायामय है।[1]

2.3.336.1 मोह

मोह का आठ प्रकार का भेद है। अणिमादि आठ शक्तियां ही मोह है।[2]

2.3.337.1 महामोह

महामोह दश प्रकार का होता है। दृष्ट (लौकिक) ओर श्रुत (पारलौकिक शब्दादि) शब्दादि पांच-पांच विषयों में जो सत्यत्वबुद्धि है, वही महामोह है।[3]

2.3.338.1 रयि

यह जो पितृयान अर्थात् पितृयाण से उपलक्षित चन्द्रलोक है, वह निश्चय रयि अन्न ही है।[4]

2.3.339.1 लोक

स्वयं किये हुए कर्म लोक की प्राप्ति के लिए मार्ग है। फल के निमित्त से लोकित, दृष्टि अथवा भोगा जाता है, इसलिए इसका कर्मफल लोक कहलाता है।[5]

2.3.340.1 विकार

विकार वाणी से आरम्भ होने वाला नाम मात्र है।[6]

---

1. मायामयो मायाविना यः कृतो। मन्त्रोषध्यादिभिर्निष्पादितः। मा०उ०/अ०शा०प्र० 70
2. मोहस्य चाष्टविधोभेदःअणिमादिशक्तिर्मोहः। श्वे०उ० 1/4
3. दशविधो महामोहः। दृष्टानुश्रविकशब्दादिविषयेषु पञ्चसु पञ्चस्वभिनिवेशो महामोहो। श्वे०उ० 1/4
4. एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितः चन्द्रः। प्र०उ० 1/9
5. स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके; फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते युज्यत इति कर्मफल लोक उच्यते। मु०उ० 1/2/1
6. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। छा०उ० 6/1/4,मुण्डक - 2/1/3

2.3.341.1 वित्तैषणा

वित्त को इस भाव से प्राप्त करना कि इसके द्वारा कर्म करके मैं पितृलोक पर विजय प्राप्त करूँगा अथवा विद्या–संयुक्त कर्म से देवलोक या केवल हिरण्यगर्भ – विद्या – दैववित्त से देवलोक प्राप्त करूंगा, इसी का नाम वित्तैषणा है।[1]

2.3.342.1 व्युत्थान

कामना के निमित्तभूत पुत्र, वित्तादि के संबंध के नियम का अभावमात्र ही 'व्युत्थान' है।[2]

2.3.343.1 वैराग्य

नि पूर्वक विद् धातु से वैराग्य अर्थ में प्रयुक्त है। इस संसार में कोई भी अकृत नित्य पदार्थ नहीं। सभी लोक कर्म से सम्पादन किए जाने वाले हैं और कर्मकृत् होने के कारण अनित्य हैं। अतः इस श्रम बाहुल एवं अनर्थ के साधनभूत–कृत–कर्म से मुझे क्या प्रयोजन है? इस प्रकार विरक्त होना ही वैराग्य है।[3]

2.3.344.1 वैश्वानर

सम्पूर्ण नरों को (अनेक प्रकार के योनियों में) नयन (वहन) करने के कारण वह (आत्मा) वैश्वानर कहलाता है।[4]

2.3.344.2 वह विश्व समस्त नर रूप है इसलिए वैश्वरानर है।[5]

---

1. वित्तैषणाया कर्मसाधनस्यादेरुपादानम् अनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति, विद्या–संयुक्तेन वा देवलोकम् केवलया वा हिरण्यागर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकम्। बृ०उ० 3/5/1
2. काम निमित्त पुत्र वित्तादि संबन्धनियमाभावमात्रं न हि ततोऽन्यत्र गमनं व्युत्थानमुच्यते। ऐ०उ० 1/1
3. निः पूर्वो विदिरत्र वैराग्यमायाकुर्यादित्येतत्। मु०उ० 1/2/12
4. विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। मा०उ०/गो०का० 3
5. यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः। मा०उ०/गौ०का० 3

2.3.344.3 विश्वानर ही स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय होने से वैश्वानर कहलाता है।[1]

2.3.345.1 विस्फूर्लिंग

उपशान्ति में समानता होने के कारण दिशाएं अङ्गारे हैं, तथा क्षुद्रत्व में समानता होने के कारण अवान्तर-दिशाएँ (कोण) विस्फूर्लिंग हैं।[2]

2.3.346.1 वस्त्वाभासम्

वस्तु धर्मी द्रव्य को कहते हैं , जो उसके समान प्रतीत हो वह 'वस्त्वाभास' है।[3]

2.3.347.1 वासना

शुक्लादि रसों से पूर्ण सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई और वालाग्र के सहस्रांश परिमाणवाली सूक्ष्म नाड़ियों में सत्रह तत्वों का लिङ्ग शरीर रहता है। उसी के अधीन जो संसार के ऊँच-नीच धर्मों के अनुभव होते हैं वे सारी वासनाएँ हैं।[4]

2.3.347.2 इस सर्वावान् लोक की माया को लेकर अपने को चेतना-शून्य कर तथा दूसरा शरीर रचकर इत्यादि जो सौ अन्त:करण वृत्ति वाला यह लोक है वही वासना है।[5]

---

1. विश्वानर एव वैश्वानर: मा०उ०/गौ०का०
2. दिशोऽङ्गरा:, उपशान्तत्वसामान्यात्। अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गा:। छा०उ० 5/6/1
3. वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदभासत इति वस्त्वाभासम्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 45
4. तास्वेवंविधासु नाडीषु सूक्ष्मासु बालाग्र-सहस्रभेदपरिमाणासु शुक्लादिरसपूर्णासु सकलदेह-व्यापिनीसु सप्तदशकं लिङ्गं वर्तते। तदाश्रिता: सर्वावासना उच्यते। बृ०उ० 4/3/20
5. अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय, इति अन्त:करण-वृत्तिरस्य लोकस्य वासना मात्रा तामपादाय। बृ०उ० 4/3/10

2.3.348.1 शोक

इष्टादि का वियोग होने के कारण जो मानसिक संताप होता है, उसे शोक कहते हैं।[1]

2.3.348.2 'शोकं मोहम्' इनमें शोक यह काम है; इष्ट वस्तु के लिए चिन्ता करने वाले का जो अरमण (खेद) है, वह तृष्णाभिभूत पुरुष के काम का बीज होता है; क्योंकि उससे काम उत्तेजित होता है; जो शोक का कारण होता है।[2]

2.3.349.1 सात्य

जो सामान्य रूप पृथिवी आदि से संबंध रखने वाला तथा रूप देहेन्द्रिय संघात से सम्बन्ध है, वह पृथिवी आदि से संबंध वर्तमान क्रिया रूप सत्य में अध्यात्म यानी देहेन्द्रिय संघात से संबंधित सत्य में वाला है, जिसे सात्य कहते हैं।[3]

2.3.350.1 सत्यम्

जो पदार्थ जिस रूप में निश्चित किया गया है, उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है।[4]

2.3.351. स्थूलभूक्

जिसके उन्नीस मुख हैं, दश तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, पांच प्राणादि वायु तथा मन, बुद्धि अहंकार और चित्त- ये जिनके मुख के समान मुख

---

1. शोको नामेष्टादिवियोगनिमित्तो मानसः सन्तापः। छा०उ० 8/1/5
2. शोकं मोहम् शोक इति कामः; इष्ट वस्तूद्दिश्य चिन्तयमयो यदरमणम् तत्तृष्णाभिभूतस्य कामबीजम्। बृ०उ० 3/5/1
3. सामान्य रूपः पृथिव्यादिसमवेतः विशेष रूपः कार्यकरणसङ्घात समवेतः तत्र पृथिव्यादिसमवेते वर्तमान-क्रिया रूपे सत्ये, तथाध्यात्मं कार्यकरण संघातसमवेते सत्ये भवः, सात्यः। बृ०उ० 2/5/12
4. सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्। तै०उ० 2/1/1

अर्थात् उपलब्धि के द्वार हैं, वह ऐसे विशेषणों वाला वैश्वानर उपर्युक्त द्वारों से शब्दादि स्थूल-विषयों को भोगता है, इसलिए स्थूलभुक् है।[1]

2.3.352.1 सोपलम्भ

सवस्तु-व्यावहारिक सत् वस्तु के सहित रहता है, इसलिए जो सवस्तु है तथा उपलम्भ यानी उपलब्धि के सहित है, इसलिए वह 'सोपलम्भ' है।[2]

2.3.353.1 समान

इस द्युलोक और पृथिवी लोक के अन्तरा मध्य में जो आकाश है, उसमें रहनेवाला वायु भी (लक्षणावृत्ति से 'मञ्च' कहे जाने वाले) मञ्चस्थ व्यक्तियों के समान आकाश कहलाता है, वही समान है।[3]

2.3.354.1 सर्वगन्ध

समस्त सुखकर गन्ध उसी (ब्रह्म) के हैं इसलिए वह सर्वगन्ध है।[4]

2.3.355.1 संवृति

'संवृत्या' - संवरण अर्थात् अविद्याविषयक लौकिक व्यवहार का नाम संवृति है।[5]

---

1. तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहंङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव मूखानितान्युतलब्धिद्वाराणीत्यर्थः, स एवं-विशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः, शब्दादीस्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक्। मा०उ०गौ०का० 3
2. सवस्तु संवर्त-सत्ता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु, तथा चोपलब्धि - रूप लम्भेस्तेन सह वर्तते इति सोपलम्भम्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 87
3. यदेतदनतरा मध्ये द्यावापृथिवी व्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुः आकाश उच्यते; मञ्चस्थवत्। स समानः समानमनु गृह्लनो वर्त्तत इत्यर्थः। प्र०उ० 3/8
4. सर्वगन्धः, सर्वे गन्धाः, सुखकरा अस्य सोऽयं सर्वगन्धः। छा०उ० 3/14/2
5. संवृत्या संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्ताया संवृत्या जायते सर्वम्। मा०उ०/अ०शा०प्र० 57

2.3.356.1 स्वप्नावस्था

वह सम्पूर्ण प्राणियों के लिये साधारण होने के कारण शुद्ध केवल और जागरित रूप स्थूल लौकिक से भिन्न अलौकिक माना जाता है, अर्थात् वह स्वप्नावस्था है।[1]

2.3.357.1 स्वप्न

पहले देखे हुए स्मृति का नाम ही स्वप्न है।[2]

2.3.358.1 स्वभाव

पदार्थों की नियत शक्ति का नाम स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है।[3]

1942.3.359.1 सर्वायुष

सबकी आयु का नाम सर्वायु है, सर्वायु ही सर्वायुष कहा जाता है।[4]

2.3.360.1 सृष्टि

प्रजापति के द्वारा सृष्ट हुआ अर्थात् उत्पन्न हुआ जगत् सृष्टि कहा गया है।[5]

2.3.361.1 सुषुप्त

स्वप्न का मध्य, 'स्वप्न' यह दर्शनवृत्ति (अर्थात् जिसमें वासानारूप विषयों की दर्शन की वृत्ति रहती है उस) स्वप्न का नाम है, उसके मध्य को स्वप्नान्त अर्थात् सुषुप्त कहते हैं।[6]

---

1. शुद्धं केवल प्रविभक्तं जागरितात्स्थूलालौकिकं सर्व प्राणि साधारणत्वादिष्यते स्वप्न इत्यर्थः। मा०उ०/अ०शा०प्र० 87
2. पूर्वदृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नः प्रायेण। बृ०उ० 4/3/9
3. स्वभावः स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः, अग्नेरौष्ण्यमिव। श्वे०उ० 1/2
4. सर्वेषामायुः सर्वायुः सर्वायुरेव सर्वायुषमित्युच्यते। तै०उ० 2/3/1
5. सृज्यते इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टिरिति। बृ०उ० 1/4/5
6. स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यम्, स्वप्न इति दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्याख्या, तस्य मध्यं स्वप्नान्तं सुषुप्तमित्येतत्। छा० उ० 6/8/1

2.3.362.1 सुषुप्ति

जिस समय आत्मा का शरीर से संबंध नहीं रहता अर्थात् वह हृदय के सारे शोकों को पार कर जाता है उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं।[1]

2.3.363.1 सुषुप्तस्थान

जिस समय या स्थान में सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता और न किसी भोग की ही इच्छा करता है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में पहली दोनों अवस्थाओं के समान अन्यथा ग्रहणरूप स्वप्नदर्शन अथवा किसी प्रकार की कामना नहीं होती, वह सुषुप्त अवस्था ही जिसका स्थान है, उसे सुषुप्तस्थान कहते हैं।[2]

2.3.364.1 संसार

समस्त कर्मों का फल व्याकृत संसार ही है।[3]

2.3.364.2 ये जो प्राण मन और शरीर रूप अधिकरण वाले तथा प्राणियों में दिन-रात और समुद्र के समान निरंतर होने वाले क्षुधादि धर्म हैं, वे प्राणियों के संसार हैं।[4]

2.3.365.1 सर्वसाक्षी

जागृत एवं स्वप्नावस्था के सम्पूर्ण भूतों में स्थित और समस्त पदार्थों के साक्षिरूप तुरीय ही भासमान है, इसलिए वह सर्वदा सर्वसाक्षी है। इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है। इस श्रुति से प्रमाणित होता है।[5]

---

1. न हि सुषुप्ति काले शरीर संबंधोऽस्ति। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदस्य। बृ०उ० 2/1/19
2. यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कञ्चन पश्यति न कञ्चन कामं कामयते। न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवानयथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थान:। मा०उ०/गौ०प०का० 5
3. सर्वकर्मणां फलं व्याकृतं संसार एवेति। बृ०उ० 1/1
4. ये तेऽशनायादय: प्राणमन: शरीराधिकरण प्राणिष्वनवरतं वर्तमाना अहोरात्रादिवत् समुद्रोर्मिवच्च प्राणिषु संसार इत्युच्यन्ते। बृ०उ० 3/5/1
5. अथ वा जाग्रत्स्वप्नयो: सर्वभूतावस्थ: सर्ववस्तुहगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा। ''नान्यदोऽस्ति द्रष्टु'' बृ०उ० 3 8/11, श्रुते: मा०उ०/अ०शा०प्र० 12

तृतीय अध्याय

ज्ञानमीमांसीय पारिभाषिक शब्द

ज्ञान–मीमांसा का अध्ययन प्रथम अध्याय में 'पारिभाषिक शब्दों का वर्गीकरण एवं उसका' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। अब यहाँ ज्ञानमीमांसीय शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत है–

3.1.1 अन्तःकरण

अन्तःकरण का अर्थ आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय है, जिसके माध्यम से हम आन्तरिक एवं बाह्य विषयों को जानने में समर्थ होते हैं क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि (कभी–कभी) पुरुष बाह्य इन्द्रिय, विषय और आत्मा का सम्बन्ध होते हुए भी अपने सामने के विषय को ग्रहण करने में विफल हो जाता है। साथ ही यह पूछे जाने पर कि क्या तूने वह वस्तु देखी ? तो वह कहता है कि मेरा मन अन्यत्र चला गया था, अतः मैं अन्यत्रमना हो गया था इसलिए नहीं देख पाया। यह कहने पर कि तूने मेरा वचन सुना था ? इस पर भी उत्तर आता है कि मैं अन्यत्रमना था अतः नहीं सुना।[1] इससे स्पष्ट है कि अन्तःकरण इन्द्रिय की अनुपस्थिति में विषय का ज्ञान होना दुर्लभ है। विवरण–प्रस्थान में अन्तःकरण को ज्ञानेन्द्रिय नहीं स्वीकार किया गया है क्योंकि आत्मसाक्षात्कार में शुद्ध अन्तःकरण साधन बनता है। आत्मा या ब्रह्म अतीन्द्रिय है। अन्तःकरण को ज्ञानेन्द्रिय मानने पर ब्रह्म का अतीन्द्रिय स्वरूप भङ्ग हो जाएगा।

3.1.2 मनुष्य जो कुछ भी सुनता व देखता है वह अन्तःकरण इन्द्रिय मन इत्यादि के द्वारा ही क्योंकि वह नेत्रादि से भिन्न समस्त इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध रखता है।[2]

---

1. यत एवं प्रसिद्धम् – बाह्यकरणविषयात्सम्बन्धे .....नाश्रोषं न श्रुतवानस्मि इति। बृ०उ०शा०भा० 1/5/3
2. तस्माद् यस्यासन्निधौ .....तद्वयग्रत्वे दर्शनाद्यभवात्। बृ०उ०शा०भा० 1/5/3

3.1.2.1 मन

मन के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में संदेह है, इसलिए श्रुति कहती है कि श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों से भिन्न मन ही है।[1] क्योंकि यह निश्चित है कि मन आत्मा और इन्द्रिय के मध्य का काम करता है, जिससे हम किसी विषय के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं।

3.1.2.2 मन के अस्तित्व के विषय में एक दूसरा प्रबल प्रमाण है कि जिसके माध्यम से मननात्मक अन्तःकरण की सत्ता स्थापित होती है, क्योंकि जब कोई नेत्र के सामने न आकर पीछे से पीठ पर स्पर्श करता है तो भी मनुष्य अपने विवेक के द्वारा यह जान लेता है कि यह स्पर्श हाथ का है या जानु का। अगर यह विवेक के साधनभूत मन का अस्तित्व न होता तो त्वचामात्र से ऐसा विवेक ज्ञान संभव न होता। अतः यह सिद्ध है कि जो विवेक ज्ञान का कारण है, वही मन है।[2]

3.1.2.3 आत्मा के द्वारा स्वनिर्मित तीन भागों में मन एक है। कहा गया है कि उन मन, प्राण और वाक् को आत्मा (पिता) में प्रथम उत्पन्न करने के लिए नियत किया।[3]

3.1.2.4 काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, धृति (धारणशक्ति)–अधृति, लज्जा (धी), बुद्धि, भय, लज्जा इत्यादि मन के ही भाव हैं। ये सब मन का अर्थात् अन्तःकरण का रूप हैं।[4] अर्थात् इन सभी में मन अन्तर्भूत रहता है क्योंकि उपर्युक्त सभी का अनुभव मन के माध्यम से ही संभव है न बाह्य इन्द्रिय गोलक के द्वारा।

---

1. तेषां मनसोऽस्तित्वं स्वरूप च प्रति संशय इत्यत आह। बृ०उ०शा०भा० 1/5/3
2. चक्षुषो ह्यगोचरे पृष्ठतोऽप्युपस्पृष्टः ..... तन्मनः। बृ०उ०शा०भा० 1/5/3
3. त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति इति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना। बृ०उ०शा०भा० 1/53
4. कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्ये तत्सर्वं मन एव। बृ०उ०शा०भा० 1/5/3

3.1.2.5 मन अन्नमय है, ऐसा आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है। इसको दृष्टान्त के रूप में समझाते हुए आरुणि कहते हैं कि खाए हुए अन्न का जो सूक्ष्मतम अंश होता है, वह मन है ; क्योंकि वही सोलह भागों में विभक्त होकर मानसिक बल उत्पन्न करता है।[1]

3.1.2.6 यह मन पाँच योनियों अर्थात् कारणभूत पाँच भूतों से उग्र और वक्र है, वह पञ्चयोन्युग्रवक्रा पाँच प्राण अथवा वाक्, पाणि, पादादि पाँच कर्मेन्द्रियों को तरंगित करता है। साथ ही उस पञ्च प्राणोर्मि, पाँच बुद्धियों चक्षु आदि से होनेवाले पाँच ज्ञानों का आदि कारण है, अतः इसे मन कहते हैं।[2]

3.1.2.7 'मनुते इति मनः' इस व्युत्पत्ति से मनन करते रहने पर उसका नाम मन कहा गया।[3] मन ही ज्ञानशक्ति के विकासों का साधारण साधन है, क्योंकि इससे आत्मा का मनन करता है। पुरुष ही कर्ता होने पर जब मनन करता है तो वह मन नाम से अभिहित होता है।

3.1.2.8 मनोमय–मनः प्राय अर्थात् जीव जिसके माध्यम से मनन चिन्तनादि वृत्तियों के द्वारा अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त होता है, उसे मन कहते हैं।[4]

3.1.2.9 आत्मा जब मन की सन्निधि को प्राप्त करता है, तब वह मन मनोमय कहा जाता है।[5]

---

1. अन्नमयं हि मनः सौम्य। छा०उ० शा०भा० 6/6/5
2. पञ्चयोनिभिः कारणभूतैः पञ्चभूतैरुग्रां वक्रां च पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणाः कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादयो वोर्मयो यस्यास्तां पञ्चप्राणोर्मिम् पञ्चबुद्धीनां चक्षुरादिजन्यानां ज्ञानानामादिः कारणं मनः। श्वे०उ०शा०भा० 1/5
3. मन्वानो मनो मनुत इति। ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनो मनुतेऽनेनेति। पुरुवस्तु कर्त्ता सन्मन्वानो मन इत्युच्यते। बृ०उ०शा०भा० 1/4/7
4. मनोमयो मनः प्रायः, मनुतेऽनेनेति मनस्तत्स्ववृत्त्या विषयेषु प्रवृत्तं भवति, तेन मनसा तन्मयः तथा प्रवृत्त इव तत्प्रायो निवृत्त इव च। छा०उ०शा०भा० 3/14/2
5. मनोमयो मनः संनिकर्षान्मनोमयः। बृ०उ०शा०भा० 4/4/5

3.1.3.1 बुद्धि

बुद्धि कार्य करने इच्छा तथा आशंकाओं की सूचक है। यह सारथि के समान है वास्तव में रथ में सारथि की भूमिका महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार यह बुद्धि शरीर रथ में बँधे हुए अश्वरूप इन्द्रियगण को नियंत्रित कर उसको दिशा–निर्देश देती है। तथा ये इन्द्रियाँ बुद्धि से नियंत्रित होकर अपने विषयों में प्रवृत होते हैं।[1]

3.1.3.2 बुद्धि का स्वरूप अत्यन्त है तथा यह आत्मा का सबसे निकट है। यही कारण है कि आत्मा की प्रतिच्छाया इसमें प्रतिबिम्बित होती है। अतः विवेकियों को पहले उसी में आत्माभिमान बुद्धि होती है; बुद्धि के सम्पर्क से ही मन में चैतन्यावभास होता है, इस प्रकार क्रमशः मन का (इन्द्रियों से) सम्पर्क होने के कारण मन से इन्द्रियों में, फिर इन्द्रियों का शरीर से सम्पर्क होने से शरीर में चैतन्यावभास होता है। इस प्रकार से आत्सा सम्पूर्ण देहेन्द्रिय संघात संघात को प्रकाशित कर देता है।[2]

3.1.3.3 आत्मा का प्रत्यक्ष बुद्धि के उपलब्धि में ही संभव है क्योंकि बुद्धि से सम्पर्क होने पर ही ऐसा विवेकज्ञान हो पाता है। जिस प्रकार राहु चन्द्र और सूर्य के सम्पर्क में आकर ही उपलब्ध होता है।[3]

3.1.3.4 अन्धकार में सामने रखे दीपक के समान बुद्धि ही सभी प्रकार के व्यापारों का साधन है। जिस प्रकार अन्धकार में समस्त पदार्थ सम्मुखस्थ दीपक के प्रकाश के आलोक में उपलब्ध होता है, उसी प्रकार सारे पदार्थ बुद्धि रूप विज्ञान के आलोक से विशिष्ट होकर उपलब्ध होते हैं, अन्य इन्द्रियाँ तो बुद्धि की द्वार मात्र हैं।[4]

---

1. तत्र तमात्मानमृतपं ..... प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः। क०उ०शा०भा० 1/3/3
2. बुद्धिस्तावत् ..... इन्द्रियसम्पर्कात्। एवं पारम्पर्येण कार्यकरणसंघातमात्मा चैतन्यस्वरूप–ज्योतिषावभासयति। बृ०उ०शा०भा० 4/3/7
3. विज्ञानमयो ..... राहुरिव चन्द्रादित्यसम्पृक्तः, बुद्धिर्हि सर्वार्थकरणम्। बृ०उ० 43/7
4. तमसीव प्रदीपः ..... विशिष्टमिव तमसि, द्वारमात्राणि त्वन्यानि करणानि बुद्धेः।4/3/7

3.1.4.1 हृत

'हृत' शब्द पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड कहा गया है, उसमें विद्यमान होने के कारण बुद्धि को हृत कहते हैं। जिस प्रकार परीक्षा के लिए दुग्धादि द्रव्य में डाली हुई मरकतादि मणि उस दुग्धादि द्रव्य को अपनी ही कान्तिवाला कर देती है, उसी प्रकार यह आत्मज्योति बुद्धि अर्थात् हृदय से भी सूक्ष्म होने के कारण हृत्पिण्ड में स्थित हृदयादिक और देहेन्द्रिय संघात को भी अपने से अभिन्न करके आत्मज्योति की कान्ति से युक्त कर देती है।[1]

3.1.4.2 हृदय कमल के आकारवाला मांसपिण्ड है। यह अन्त:करण बुद्धि का स्थान है। उसमें स्थित बुद्धि के अधीन बाह्य इन्द्रियाँ हैं। इसी से बुद्धि कर्मवश श्रोत्रादि इन्द्रियों को मत्स्यजाल के समान उन नाड़ियों द्वारा कर्णरन्ध्रादि स्थानों से बाहर फैलाती है तथा उसे फैलाकर जागरित अवस्था में उसके अध्यक्ष रूप से स्थित रहता है। उस बुद्धि को विज्ञानमय आत्मा अभिव्यक्तचैतन्य प्रकार रूप से व्याप्त कर लेता है।[2]

3.1.4.3 वह हृदय संकुचित होने पर उसी के साथ संकुचित हो जाता है, इसी अवस्था को विज्ञानमय का होना और जाग्रत्कालिक विकास का अनुभव का भोग है, जिस प्रकार चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब (अपने आधारभूत) जलादि का अनुवर्तन करने वाला होता है, उसी प्रकार वह बुद्धि रूप उपाधि के स्वभाव का ही अनुवर्ती है। तात्पर्य यह है कि तपे हुए लोह पिण्ड में अग्नि के समान रूप से शरीर में व्याप्त स्थित होता है।[3]

3.1.4.4 आचार्य शङ्कर का कहना है कि मनुष्य प्रकृत आत्मा को चक्षु से नहीं देख सकता। यह ज्ञान हृदयस्थिता बुद्धि से जो सङ्कल्पादिरूप मन की

---

1. हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डम् मांसपिण्डम्। बृ०उ० 4/3/7
2. हृदयं नाम मांसपिण्डः तस्मान्मांसपिण्डात्पुण्डरीकाकारात्। तत्र बुद्धेरन्तः करणस्य हृदयं ..... व्याप्नोति। बृ०उ० 2/1/19
3. संङ्कोचनकाले च तस्या ..... विकासानुभावो भोगः। बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि सः ..... जलाद्यनुविधरी। बृ०उ० 2/1/19

नियन्त्री होकर ईशन करने के कारण 'मनीट' है, उस विकल्पशून्या बुद्धि से मन अर्थात् मननरूप यथार्थदर्शन द्वारा सब प्रकार समर्थित अर्थात् प्रकाशित हुआ आत्मा जाना जा सकता है।[1]

3.1.5.1 गुहा

गुहा बुद्धि का नाम है। इस गुहा में भोग और अपवर्ग ये पुरुषार्थ निगूढ़ अवस्था में स्थित हैं। अतः गुहा है।[2] संवरण अर्थात् आच्छादन अर्थ वाले 'गुह' धातु से गुहा शब्द निष्पन्न होता है। इस गुहा में ज्ञान, ज्ञेय और पदार्थ निगूढ़ (छिपे हुए) हैं।

3.1.6.1 अहंकार

हृदय जैसा कि पूर्व में कहा गया है, कमल के समान सूक्ष्म है। उसका अनुवर्तन करनेवाला उसका अन्तर्वर्ती अन्तःकरण के पुण्डरीकाकाश से परिच्छिन्न है। जिस किसी ने अपने योग के माध्यम से अपने इन्द्रियों को वश में करके अन्तःकरण को स्वच्छ कर लिया है, उस योगी का वह अन्तःकरण जल व दर्पण के समान हो जाता है। जिस प्रकार जल व दर्पण में अपने रूप को साफ-साफ देखा जा सकता है, उसी प्रकार विशुद्ध अन्तःकरण की सारी बातें या उसका विज्ञान ज्योतिः स्वरूप प्रतीत होने लगता है, और वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है।[3] अतः अन्तःकरण उपाधि के कारण इसका अन्तर्वर्ती आकाश सूक्ष्म है।

---

1. न संदृशे संदर्शनविषये ..... रूपम्। अतो इन्द्रियाणि ..... पश्यति नोपलभते .... प्रकृतमात्मानाम्। हृदा हृत्स्थया ..... अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत्। आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः। क०उ० 2/3/9
2. तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यो वेद ..... गुहायाम्। गूहतेः ..... गुहा बुद्धिः। गूढावस्थां भोगापवर्गौ ..... व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये। तै०उ० 2/1/1
3. तस्मिन्विशुद्धे संहृतकरणानां योगिनां स्वच्छ इवोदके प्रतिबिम्बरूपादर्श इव च शुद्धे स्वच्छं विज्ञान ज्योतिः स्वरूपावभासं तावन्मात्रं तावन्मात्रं ब्रह्मोपलभ्यत इति। छा०उ०शा०भा० 8/1/2

3.1.6.2 जो मनुष्य या योगी अमरत्व की इच्छा को लिए होता है, उसे सर्वप्रथम उपने इन्द्रियों पर नियन्त्रण पाना होता है। क्योंकि इसकी अनुपलब्धि में अमरत्व संभव नहीं। जैसे कहा भी गया है– जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा धीर पुरुष प्रत्यगात्मा को देख पाता है तथा उस आत्मा के स्वरूप की अहं पूर्वक व्याख्यान करने में समर्थ होता है।[1]

3.1.7.1 चित्त

चित्त किसी भी विषय को समझने की शक्ति है जिसके सहारे हम भूत और भविष्यत् के विषयों के प्रयोजन का निरूपण करने के योग्य होते हैं।[2]

3.1.7.2 जिस समय पुरुष प्राप्त हुई वस्तुओं को इस प्रकार की वस्तु प्राप्त हुई इस प्रकार से चित्त के द्वारा चेतित किया जाता है, उसके ही समान वह किसी वस्तु को त्यागने या ग्रहण करने का सङ्कल्प करता है। अर्थात् चित्त के माध्यम से ही सङ्कल्प करने की स्थिति होती है, इसकी अनुपस्थिति में यह संभव नहीं।[3]

3.1.7.3 चित्त का स्थान किसी वस्तु का ज्ञान करने में महत्त्वपूर्ण है। कारण सङ्कल्प से लेकर कर्मफल पर्यन्त वे सब एकमात्र चित्तरूप, लयस्थान वाले, 'चित्तमय' अर्थात् चित्त से उत्पन्न होने वाले और चित्त से प्रतिष्ठित एवं चित्त में ही रहने वाले हैं।[4]

3.1.7.4 चित्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी भी ज्ञान का माध्यम होता है जिसकी अनुपस्थिति अर्थात् अचितावस्था में बहुत से शास्त्रादि

---

1. कश्चिद्धरिः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। क०उ०शा०भा० 2/1/1
2. चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानुरूपबोधत्वमतीतानागत विषय प्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च। छा०उ०शा०भा० 7/5/1
3. यदा वै प्रासं वस्त्विदमेवं प्राप्तमिति चेतयते तदादानय वापोहाय वाथ संकल्पयते .....। –वही
4. तानि वै प्रासं वस्त्विदमेव प्राप्तमिति चेतयते तदादानाय वापोहाय वाथ संकल्पयते .....। –वही। चित्तस्थितानीत्यपि पूर्ववत्। छा०उ०शा०भा० 7/5/2

का परिज्ञान रखनेवाला होकर भी अचित् अर्थात् प्राप्त विषयादि के यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हो जाता है तथा उसके विषय में कहने लगता है कि यह कुछ नहीं है– विद्यमान होते हुए भी असद्रूप है। अतः यह निश्चित है कि चित्त ज्ञान प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण मार्ग है।[1]

3.1.7.5 चित्त के अस्तित्व की महिमा इस प्रकार है कि जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि इसकी अनुपस्थिति में विद्वान् वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाता वहीं दूसरी ओर अल्पज्ञ व्यक्ति भी जो चित्तवान् होता है वह प्राप्त विषय के स्वरूप को समझने की इच्छा करता है तथा उसे जानने के लिए उत्सुक होता है। अतः यह सत्य है कि चित्त ही इन सङ्कल्पादि का एकायन है।[2]

3.1.7.6 चित्त चेतनायुक्त अन्तःकरण और उसका चेतयितस्य विषय है जो त्वगिन्द्रिय से भिन्न प्रकाश विशिष्ट त्वचा और विद्योतयितव्य तथा प्रकाशित होने वाला विषय है।[3]

3.2 ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द

3.2.8.1 इन्द्रिय

विषयग्रहणरूपकार्य से अनुमित होने वाले कारणों के सामर्थ्य का नाम 'इन्द्रिय' है। अर्थात् इन्द्रिय की अनुपस्थिति में विषयज्ञान संभव नहीं।[4] कारण इन्द्रिय के माध्यम से ही मनुष्य किसी घट–पटादि वस्तुओं को देखने में समर्थ होता है, अतः इसे ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक यन्त्र कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

---

1. यस्माच्चित्तं संकल्पादिमूलं ..... तं निपुणा लौकिका विद्यमानोऽप्यसत्सम एवेत्येनमाहुः। छा०उ०शा०भा० 7/5/2
2. अथाल्पविदपि यदि चित्तवान् भवति तस्माएतस्मै तदुक्तार्थग्रहणायैवोतापि शुश्रूषन्ते श्रोतुमिच्छन्ति। छा०उ०शा०भा० 7/5/2
3. चित्तं च चेतनावदन्तः करणम्। प्र०उ०शा०भा० 4/8
4. इन्द्रियं विषयग्रहणकार्यानुमेयं करणसामर्थ्यम्। छा०उ०शा०भा० 3/4/1

3.2.8.2 मन अन्तः इन्द्रिय का विषयज्ञान में प्रमुख स्थान है क्योंकि पुरुष बाह्य इन्द्रिय विषय और आत्मा का सम्बन्ध रखते हुये भी अपने सामने के विषय को ग्रहण नहीं कर सकता। फिर भी ज्ञानेन्द्रिय भी एक माध्यम है जिसके न रहने पर विषय ज्ञान में व्यवधान उत्पन्न होता है।[1]

3.2.8.3 'देव' शब्द द्योतनार्थक 'दिव्' धातु से सिद्ध है इसका अभिप्राय शास्त्रालोकित इन्द्रियवृत्तियाँ हैं जिसके कारण वह स्वरूप द्योतित होता है।[2]

3.2.8.4 विषयों को हरण करने के कारण इन्द्रियों का नाम 'हरि' है। ये दश इन्द्रियाँ विषय को जानने के लिए रथ में जुते हुए घोड़े के समान काम करते हैं, अतः इन इन्द्रियों को हरि (घोड़ा) कहा गया है।[3]

3.9.2.1 खानि

'ख' छिद्रों को कहते हैं, उनसे उपलक्षित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ खानि नाम से कही जाती हैं।[4]

3.2.10.1 चक्षु

'चष्टे अनेन' अर्थात् इन्द्रिय जिस गोलक से विषय को देखती है, उसे 'चक्षु' कहते हैं।[5]

3.2.11.1 पराञ्चि

जो इन्द्रिय पराक् अर्थात् बाहर की ओर अञ्चन गमन करती है उसे 'पराञ्चि' अर्थात् बाहर जाने वाली कहते हैं। अर्थात् ऐसी इन्द्रिय जो बाहर जाकर विषयों से सम्पर्क कर उसका ज्ञान कराती है ऐसी इन्द्रिय पराञ्चि नाम

---

1. यत एवं प्रसिद्धमबाह्यकरणविषयात्मसम्बन्धे सत्यप्यभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति। बृ०उ०शा०भा० 1/5/3
2. देवा दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य शास्त्रोद्भासिता इन्द्रियवृत्तयः। बृ०उ०शा०भा० 1/2/1
3. यस्मादस्य हरयो हरणादिन्द्रियाणि। बृ०उ०शा०भा० 2/5/19
4. खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते। क०उ०शा०भा० 2/1/1
5. चक्षुश्चचष्टे पश्यत्यनेनेति चक्षुः। छा०उ०शा०भा० 8/12/5

से जानी जाती है।[1]

3.2.12.1 सम्पत्

श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि श्रोत्र से वेद और उनके अर्थ का विशेष ज्ञान ग्रहण किए जाते हैं फिर कर्म किए जाते हैं तदनन्तर भोगों की प्राप्ति होती है। इस तरह भोगों की प्राप्ति होने के कारण श्रोत्र ही सम्पत् हैं।[2]

3.2.13.1 श्रोत्र

जिसके द्वारा हम श्रवण करते हैं वह श्रोत्र है। इसी बाह्य इन्द्रिय श्रोत्र के माध्यम से विषय तथा अन्त:करण के मिलन से विषयादि का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है।[3]

3.3.14.1 वृत्तिज्ञान

प्रारंभिक ज्ञान नितान्त शुद्ध एवं जागरूक होता है, जिस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है– सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।[4] वृत्ति व ज्ञान कराने के महत्त्वपूर्ण अंग हैं कारण अन्त:करण तो तैजस (अतएव स्वच्छ) द्रव्य होने के कारण ये (विषय) जीव चैतन्य का प्रतिबिम्ब धारण नहीं कर सकते। किन्तु जब घटाकारा वृत्ति द्वारा घट का अन्त:कारण से सम्बन्ध होता है तब घट की जड़ता को अभिभूत कर देती है और अन्त:करण अपने समान अपने से संयुक्त घट में भी चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता ला देता है, जैसे स्वच्छ भित्ति भी विशेष तैल आदि से युक्त हो तो उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण की योग्यता आ जाती है।[5] इस प्रकार जीव चैतन्य–रूपी प्रकाश से सम्बन्ध होने

---

1. पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति। क०उ०शा०भा० 2/1/1
2. श्रोत्रं वाव संपत्। यस्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृह्यन्ते तदर्थविज्ञानं च, ततः कर्माणि क्रियन्ते, ततः काम संपत्। इत्येवं कामसंपद्धेतुत्वाच्छ्रोत्रं वा संपत्। छा०उ०शा०भा० 5/1/4
3. श्रोत्रस्यश्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्। के०उ०शा०भा० 1/2
4. तै०उ०शा०भा० 2/1/1
5. तैजसमन्त:करणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव ..... तत्–प्रतिबिम्बग्राहित्वम् चैतन्याभि–व्यक्तत्वं तत्र प्रतिबिम्बितत्वम्। वे०प०, पृ० 327–28

पर विषय प्रकाशित होता है। इस अभिव्यञ्जकत्व की सिद्धि वृत्ति के बिना संभव नहीं।

3.3.15.1 प्रमाता

सर्वान्तर अर्थात् वह आत्मा सबका अन्तर्वर्ती है। सर्वान्तर समस्त विशेषणों के उपलक्षणार्थ है। अर्थात् जो साक्षात् अव्यवहित और अपरोक्ष-अगौण ब्रह्म इस बृहत्तम आत्मा सबके अभ्यन्तर हैं।[1] अर्थात् आत्मज्ञान से पूर्व यह आत्मा और कर्मविशिष्ट से ग्रसित एवं इन्द्रियरूप उपाधि से युक्त संसारी कहलाता है।[2]

3.3.16.1 अप्रमेय

ब्रह्म अप्रमेय है, कारण यह कि इस ब्रह्म में सबकी एकता विद्यमान है।[3] समान्यतः यह देखा गया है कि एक को दूसरे के द्वारा देखा जाता है, किन्तु तो एक ही है इसलिए यह अप्रमेय है तथा ध्रुवकूटस्थ यह विचलित होने वाला नहीं है।[4] अतः इसके ज्ञान में दूसरे की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य शङ्कर शंका उठाते हुए कहते हैं कि ब्रह्म अप्रमेय हैं और वह जाना जाता है। इस कथन में परस्पर विरोधाभास जाना जाता है, इससे यह सिद्ध होता है कि प्रमाणों द्वारा इसकी पुष्टि होती है। किन्तु ब्रह्म अप्रमेय है इस कथन से तो इसका प्रतिषेध ही होता है।[5] आचार्य शङ्कर कहते हैं कि दोष नहीं है क्योंकि 'अप्रमेय' यह विशेषण, अन्य वस्तुओं के समान उसके आगम आदि अतिरिक्त प्रमाण से प्रमित होने के कारण प्रतिषेध करने के लिए है।[6]

---

1. यत्साक्षाद् अव्यवहितम् अपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तमम् आत्मा सर्वस्य सर्वस्याभ्यान्तरः। बृ०उ०शा०भा० 3/4/1
2. अविद्याकामकर्म विशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते। बृ०उ०शा०भा० 3/8/12
3. ब्रह्म अप्रमेयम् सर्वैकत्वात्। बृ०उ०शा०भा० 4/4/20
4. अन्येन हि अन्यत प्रमीयते इदंत्वेकमेव , अतोऽप्रमेयम्। वही 4/4/20
5. ननु विरुद्धमिदमुच्यते ..... इति च तत्प्रतिषेधः। वही 4/4/20
6. अन्यवस्तुवद् अनागमप्रमाणप्रमेयत्वप्रतिषेधार्थत्वात्। वही 4/4/20

आत्मा सभी के पास है अत:किस आत्मा को किसके द्वारा देखा जाए ऐसे व्यवधान की स्थिति में शास्त्र ही प्रमाता प्रमाणादि व्यवहार का प्रतिषेध करके उसका बोध कराता है।[1] अर्थात् देहादि अनात्म वस्तुओं में आरोपित आत्मभाव की निवृत्ति ही ब्रह्मविषयक ज्ञान है।[2]

उस ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान करने की आवश्यकता नहीं कारण वह आत्मभाव तो वहाँ पहले ही विद्यमान है। सबका ही ब्रह्म के साथ आत्मभाव नित्य सिद्ध है केवल अज्ञान की स्थिति मे हमें ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता। अत: अब्रह्मविषयक आत्मभावाभास की निवृत्ति के अतिरिक्त उसमें आत्मभाव का विधान नहीं हो सकता। अन्यात्मभाव की निवृति हो जाने पर अपने आत्मा में जो स्वाभाविक आत्मभाव है, शुद्ध हो जाता है, इसलिए आत्मा जान लिया गया – ऐसा कहा जाता है, किन्तु स्वयं वह 'अप्रमेय' है – किसी भी अन्य प्रमाण का विषय नहीं होता, अत: उसका अप्रमेयत्व और ज्ञान दोनों विरुद्ध नहीं है।[3]

3.3.17.1 प्रमा

शब्दश: प्रमा का अर्थ वृत्तिजन्यज्ञान जो बुद्धि के कारण होता है किन्तु आचार्य शङ्कर ने इसे स्वीकार कर प्रमा शब्द का प्रयोग एक गूढ़ अर्थ में स्वच्छ आत्मज्ञान के लिए किया है। ब्रह्म के बारे में श्रुति कहती है कि ब्रह्म ही सत्य ज्ञान और अनन्त है।[4] ज्ञान शब्द भाववाचक है, 'सत्य' और 'अनन्त' के साथ ब्रह्म का विशेषण होने के कारण उसका अर्थ 'ज्ञानकर्ता' को नहीं हो सकता। उसका ज्ञान कर्त्ता स्वीकार करने पर ब्रह्म की सत्यता और अनन्तता संभव नहीं है। ज्ञान कर्त्तव्य रूप विकार को प्राप्त करके ब्रह्म सत्य और अनन्त

---

1. प्रमातृप्रमाणादिव्यापारप्रतिषेधैनैव आगमोऽपि विज्ञापयति। वही 4/4/20
2. ज्ञानं च तस्मिन् परात्मभावनिवृत्तिरेव। वही 4/4/20
3. न तस्मिन् साक्षादात्मभाव: कर्त्तव्य: ..... इति उभयमप्यत्रविरुद्धमेव। बृ०उ०शा०भा० 4/4/20
4. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै०उ० 2/1/1

कैसे हो सकता है।[1] शङ्कराचार्य कहते हैं कि नहीं वह अंशरहित होने के कारण एक साथ उभयरूप नहीं हो सकता। निरवयव ब्रह्म का एक साथ ज्ञेय और ज्ञाता होना संभव नहीं।[2] नैयायिक कहते हैं कि 'चेतयिता' नित्य आत्मा की घटादि को विषय करने वाली अनित्य चेतनता उत्पन्न और नष्ट होती रहती है।[3]

3.3.18.1 प्रमाण

प्रमाण उसे कहते हैं जिसके माध्यम से ज्ञान होता है।[4] दूसरे शब्दों में प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं।[5] इस प्रकार प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक ज्ञान संभव नहीं है यथा अग्नि शीतल होता है, अथवा सूर्य नहीं तपता – यह बात सैकड़ों दृष्टान्तों से भी प्रतिपादित नहीं हो सकती; क्योंकि अन्य प्रमाण से तो वह वस्तु दूसरे प्रकार की जानी जाती है।[6] एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण बतलाता है।[7]

3.3.18.2 छः प्रमाण ही वास्तविक ज्ञान के साधन यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और अगम प्रमाण। आचार्य शङ्कर

---

1. ज्ञानं ज्ञपितरवबोधो ज्ञान शब्दो न तु ज्ञानकर्तृ ब्रह्मविशेषणत्वात्सत्यानन्ताभ्यां सह। न हि सत्यतानन्तता च ज्ञानकर्तृत्वे सत्यमुपपद्यते। ज्ञानकर्तृत्वे हि विक्रियमाणं कथं सत्यं भवेदनन्तं च। तै०उ०शा०भा० 2/1/1
2. न हि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वोपपत्तिः। वही 2/1/1
3. घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्यात्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्यपरे। प्र०उ०शा०भा०6/2
4. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। ब्र०सू०शा०भा० 11/4
5. प्रमाकरणं प्रामाण्यम्। V.P. Pratyaksa-Paricheda
6. न ह्यग्निः शीत आदित्यो न तपतीति वा दृष्टान्तशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्, प्रमाणान्तरे–णान्यथाधिगतत्वद्वस्तुनः। बृ०उ०शा०भा० 2/1/20
7. न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। वही 2/1/20

ने पाँच प्रमाणों को ही इंगित किया है।[1] अनुपलब्धि को बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में नहीं गिनाया गया है। अनेक प्रकार के उदाहरण के द्वारा इस बात को ये सिद्ध करते हैं कि ज्ञान का अस्तित्व दो प्रकार का होता है— वास्तविक ज्ञान तथा दूसरा (ब्रह्मानुभूति) आत्मज्ञान।[2]

3.4 प्रत्यक्ष तथा उससे सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द

3.3.19.1 अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि उसका कोई रंग नहीं होता वह निर्गुण है। इन्द्रियों का विषय कभी नहीं बन सकता। किन्तु ग्रन्थों का मत है कि अपरोक्षानुभव आत्मा का स्वभाव है।[3]

3.4.20.1 दृष्टि

इन्द्रियों के द्वारा सभी विषयों को उपलब्ध करने को दृष्टि कहते हैं।[4] ये दृष्टि दो प्रकार की होती है– लौकिकी और पारमार्थिकी।[5]

3.4.20.2 लौकिकी दृष्टि

चक्षु से संयुक्त जो अन्तःकरण की वृत्ति है वह लौकिकी दृष्टि कहलाती है। वह उत्पन्न होती है तथा नष्ट भी होती है। वह मानो चक्षु द्वारा संश्लिष्ट–सी ही उत्पन्न होनेवाली है, वह नित्य आत्मदृष्टि से संसृष्ट सी, उसकी प्रतिच्छाया और उससे व्याप्त ही उत्पन्न होती है और विनाश को प्राप्त होती है। उसी के कारण सर्वदा देखनेवाला होने पर भी द्रष्टा के विषय में वह देखता है, नहीं देखता है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु द्रष्टा की दृष्टि में कभी अन्यथात्व नहीं होता।[6]

---

1. तत्र हि प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोऽस्ति। बृ०उ०शा०भा० 3/3 (याज्ञवल्क्य भृगुसंवाद)
2. क०उ०शा०भा० 1/2/1
3. यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म। ब्र०उ० 3/4/1
4. दृष्टिरिन्द्रिय द्वारा सर्वविषयोपलब्धिः। ऐ०उ०शा०भा० 3/1/2
5. दृष्टिरिति द्विविधा भवति – लौकिकी पारमार्थिकी चेति। बृ०उ०शा०भा० 3/4/2
6. तत्र लौकिकी दृष्टि लौकिकी ..... विनश्यति च। यासौ लौकिकी ..... कदाचिदप्यन्याथा त्वम्। वही 3/4/2

3.4.20.3 पारमार्थिकी दृष्टि

पारमार्थिकी दृष्टि अग्नि के उष्णत्व और प्रकाशादि के समान आत्मा की दृष्टि है वह द्रष्टा का स्वरूप होने के कारण न कभी उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है।[1] उस द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता अर्थात् द्रष्टा की दृष्टि सर्वथा नित्य है ऐसा श्रुति के द्वारा भी ज्ञात होता है।[2] आदित्यादि के प्रकाशकत्व के समान इस (आत्मा) का देखना भी उपपन्न नहीं है अर्थात् जिस प्रकार आदित्यादि नित्य प्रकाश स्वभाव होते हुए भी अपने नित्य स्वाभाविक प्रकाश से प्रकाश करते हैं, वे स्वयं अप्रकाशस्वरूप होकर अपने से भिन्न प्रकाश उत्पन्न करके प्रकाशित करते हैं ऐसा नहीं है, क्योंकि वे अपने स्वभाव रूप नित्य प्रकाश से ही प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी अपनी अविनाशस्वरूपा नित्यदृष्टि के कारण द्रष्टा कहा गया है।[3]

बुद्धि स्वच्छ हुआ करती है एवं आत्मा के समीप रहने से आत्मचैतन्य की प्रतिच्छाया से युक्त होकर ही ज्ञान प्राप्त करती है अर्थात् अन्तःकरण इन्द्रिय की अपनी शक्ति नहीं हुआ करती वह आत्मज्योतिशक्ति से संयुक्त होकर ही सक्रिय हो जाती है।[4]

इसलिए यह स्पष्ट है कि बुद्धि विज्ञानरूप उपाधि से संपृक्त होकर ही ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ होती है। जिस प्रकार राहु चन्द्रमा और सूर्य में आकर ही उपलब्ध होता है।[5]

---

1. सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च। बृ०उ०शा०भा० 3/4/2
2. द्रष्टुस्तु नित्या दृष्टिः ''न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'' इति। बृ०उ० 1/4/10
3. यथा आदित्यादयो नित्य प्रकाश स्वाभावा ..... दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते। बृ०उ० 4/3/23
4. बुद्धिस्तावत् स्वच्छत्वादानन्तर्याच्चात्मचैतन्यज्योतिः प्रतिच्छाया भवति। बृ०उ० 4/3/7
5. बुद्धिविज्ञानसम्पृक्त एव हि यस्मादुपलभ्यते, राहुरिव चन्द्रादित्यसम्पृक्तः। बृ०उ० 4/3/7

3.4.21.1 स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष

स्वप्न–दर्शन में प्रत्यक्ष जागरित काल के प्रत्यक्ष से विलक्षण होता है।[1] जागरित अवस्था प्रत्यक्ष में आत्मज्योति इन्द्रिय, बुद्धि, मन, और आलोकादि व्यापार से व्याप्त रहती है, किन्तु स्वप्न में तो इन्द्रियों के अभाव और उनके उपकारक आदित्यादि के प्रकाश के अभाव के कारण वह विशुद्ध अर्थात् केवल रहती है[2], इसलिए इसमें कोई मलिनता नहीं हुआ करती। अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्षानुभूति हुआ करती है।

3.4.22.1 सुषुप्तावस्था में प्रत्यक्ष

सुषुप्तावस्था का प्रत्यक्ष कुछ भिन्न प्रकार का होता है। यहाँ पर चेतना आन्तरिक इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होती है एव अलग रहती है। इस अवस्था में कोई विविधता का दर्शन नहीं होता। जैसा कि बाह्य इन्द्रियों में होता है। इसलिए वे सभी एक हो जाते हैं इस अवस्था में आत्मा पूर्ण अवस्था के रूप में प्रतिबिम्बित होता है, अतः व्यक्तिगत आत्मा आन्तरिक इन्द्रियों में पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होती है। इस अवस्था को परमानन्द की अवस्था कहते हैं, क्योंकि यही अनन्त है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी यही कहा गया है। 'यो वै भूमा तत् सुखम्।[3]'

3.5 अनुमान तथा उससे संबन्धित पारिभाषिक शब्द

3.5.23.1 ब्रह्म को अनुमान के माध्यम से भी विषय बनाया जा सकता है ऐसा आचार्य शङ्कर कहते हैं, आत्मा के अस्तित्व में लिङ्ग (बीज) दिखलाया है[4] और लिङ्ग प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है। आत्मा का अस्तित्व जान लेने पर ही उसी का अनुसरण करने वाले मीमांसक और वैदिक अहंप्रतीति और वैदिक लिङ्गों को ही 'ये हमारी बुद्धि से निकले हुए तर्क हैं' ऐसी कल्पना करते हुए 'आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय है।'

---

1. वैलक्षण्यात् स्वप्नदर्शस्य .....। बृ०उ० 4/3/9/
2. जागरिते हि इन्द्रियबुद्धिमनआलोकादिव्यापार ..... विविक्तं केवलं भवति। वही
3. छा०उ०शा०भा० 7/23/1
4. लिङ्गस्य च प्रत्यक्षविषयत्वात्। बृ०उ०शा०भा० 1/1 (सम्बन्धभाष्य)

3.5.23.2 प्रत्यक्ष दर्शनादि कर्म करता है, वह देहेन्द्रियसंघात ही आत्मा होना चाहिए, कोई दूसरा नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध होने पर अनुमान की प्रामाणिकता नहीं हो सकती इसका उत्तर आचार्य शङ्कर देते हुए कहते हैं कि संघात ही दर्शनादि क्रियाओं को करने वाला आत्मा हो तो ऐसा क्यों होता है कि इसमें कोई विकार न आने पर भी कभी तो इसमें क्रियाओं का कर्तृत्व रहता है और कभी नहीं रहता है। अतः अनुमानादि से भी प्रत्यक्ष संभव है।[1]

3.5.24.1 लिङ्ग

जिसके द्वारा कोई वस्तु जानी जाती है, वह बुद्धि आदि लिङ्ग कहलाते हैं।[2] अर्थात् कोई पुरुष आत्मा को चक्षु से सम्पूर्ण इन्द्रियों में से किसी से भी नहीं देख सकता अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सकता। अतः अनुमान से ही इसका साक्षात्कार संभव है। यहाँ चक्षु ग्रहण इन्द्रियों का उपलक्षण कराने के लिए है।

3.5.24.2 जिसके द्वारा लिङ्गन–अवगमन होता है अर्थात् जिससे साक्षी उस आत्मा को जानता है उसे लिङ्ग कहते हैं। कहा गया है कि लिङ्गयते अर्थात् जिससे ज्ञान प्राप्त हो अर्थात् उस परम ब्रह्म का साक्षात्कार हो वह लिङ्गानुमान है।[3]

3.6 उपमान

3.6.25.1 उपमान वहीं संभव है जहाँ सादृश्य की उपलब्धि हो। बिना सादृश्य के उपमान कोई अस्तित्व नहीं है। यथा पूर्व देखे गए गाय से नील गाय की सादृश्य स्थापित कर हमें ज्ञान होता है कि यह वही गाय के समान है जो हमारे घर में है। अतः उस अपनी गाय से सादृश्य स्थापित कर हमें यह ज्ञान होता है कि यह नील गाय ही होगा। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान और आत्मज्ञान का वास्तविक ज्ञान होता है।[4]

---

1. प्रत्यक्षा विरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात्। बृ०उ०शा०भा० 4/3/6
2. अलिङ्गो लिङ्गयते गम्यते येनतल्लिङ्गम्। क०उ०शा०भा० 2/3/8
3. लिङ्गयतेऽवगम्यतेऽवगच्छति येन तल्लिङ्गं। बृ०उ०शा०भा० 4/4/6
4. सादृश्ये हि सत्युपमानिस्यात्। बृ०सू०शा०भा० 2/4/1

3.7 अर्थापत्ति प्रमाण

3.7.26.1 निष्काम कर्मों का मोक्ष के सिवा कोई अन्य फल न होने पर किसी अन्य कारण से इसकी विधि उपासना न होना हह्वी इसमें 'अर्थापत्ति' प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि नित्य कर्मों का विश्वजित् न्यास से तो कोई फल कल्पित नहीं किया जाता और उनका कोई श्रुत फल भी नहीं है तथा उनकी विधि है ही इसलिए परिशेषतः मोक्ष ही उनका फल है–ऐसा जाना जाता है।[1]

3.7.26.2 जहाँ अन्यथा अनुपपत्ति होती हो किसी एक वस्तु या सिद्धान्त को माने बिना काम न चलता हो, सङ्गति न लगती हो, वहाँ ही अर्थापत्ति स्वीकार की जाती है, जैसा कि यज्ञादि क्रिया तो इस लोक में ही समाप्त हो जाती है, कालान्तर में मिलने वाले स्वर्गादि फल का सम्बन्ध उस क्रिया के साथ क्योंकर माना जा सकता है? क्रिया तो नष्ट हो चुकी है, वह है ही कहाँ जो फल दे सके? इस प्रकार फल सिद्धि में अनुपपत्ति देखकर मीमांसक लोक व क्रिया से अपूर्व की उत्पत्ति मानते हैं। वह अपूर्व ही कालान्तर में स्वर्गादि का जनक है।[2]

3.8 अनुपलब्धि प्रमाण

3.8.27.1 आचार्य शङ्कर की विशेषता रही है कि वे विभिन्न नैयायिकों, मीमांसकों आदि की ओर से प्रश्न उठाकर उसका उत्तर सिद्धान्त के रूप में देते हैं। यहाँ शून्यवादी की ओर से प्रश्न करते हैं कि घट उत्पन्न होता है, अतः उत्पत्ति से पूर्व घट की सत्ता नहीं होती। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि क्योंकि घटोत्पत्ति से पूर्व भी मृत्पिण्डादि देखे जाते हैं। जो वस्तु उपलब्ध नहीं होती उसी का अभाव होता है। अतः कार्य का अभाव भले ही रहे कारण का अभाव तो अभाव नहीं होता, क्योंकि वह तो उपलब्ध होता ही है।[3]

---

1. ननु फलान्तराभावे चोदनान्यर्थानुपपत्तिः प्रमाणमिति। न हि नित्यानां ..... प्रवर्तेरन्। बृ०उ०शा०भा० (याज्ञवल्क्य–भृगु संवाद) 3/3
2. किञ्चान्यत्, अपूर्वकल्पनायां चार्थापत्तेः क्षयोन्यथैवोपपत्ते। बृ०उ० 3/8/9
3. यन्नोपलभ्यते तस्यैव नास्तित। अस्तु कार्यस्य ..... लभ्यमानत्वात्। बृ०उ०शा०भा० 1/2/1

3.8.27.2 अभावों में घट का जो अन्योन्याभाव है वह घट से भिन्न ही देख जाता है, यथा घट का अभाव पटादि ही है। घट का स्वरूप नहीं है तथा घटाभाव होने से ही पट अभाव रूप नहीं हो जाता। अर्थात् वह भाव रूप ही होता है। इस तरह से अनुपलब्धि होती है।[1]

3.9 आगम प्रमाण / शब्द प्रमाण तथा उससे संबन्धित पारिभाषिक शब्द

3.9.28.1 जो व्यक्ति अविरुद्ध अर्थ का ज्ञान रखता है वही अभीष्ट प्राप्त करता है तथा अनिष्टों से दूर रहता है विपरीत अर्थ के ज्ञान से ऐसा संभव नहीं। यहाँ श्रुति के शब्द से लिकलने वाले अर्थ के ही श्रेयः प्रप्ति होना संभव है।[2]

3.9.29.1 लक्षण

जिससे कोई पदार्थ लक्षित होता है उसे प्रमाण कहते हैं। जो ज्ञान प्राप्त करने का प्रबल साधन है।[3]

3.9.30.1 वचन

यथार्थ अर्थ को बतलाने वाले का ही नाम वचन है।[4] वह वचन किसी अविद्यमान पदार्थ को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। सैंकड़ों वचन होने पर भी नित्य वस्तु को आरम्भ करने वाला नहीं हो सकता और न ही आरंभ होने वाली वस्तु अविनाशी हो सकती है। इससे विद्या और कर्म के मोक्षारम्भकत्व का प्रतिषेध होता है।

---

1. यथा घटाभावः पटादिरेव न घटरूपमेव। न च घटाभावः सन्पटोऽभावात्मकः, किं तर्हि ? भाव रूप एव। बृ०उ०शा०भा० 1/2/1
2. श्रौतशब्दजनितार्थप्रतिपत्तौ श्रेयः प्राप्तिरूपपन्ना च विपर्यये। बृ०उ०शा०भा० 1/3/1
3. लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणाप्रमाणं प्रमाणशून्यमुभयं चित्तं द्वयं यतस्तन्मतेनैव तच्चित्तयैवतद् गृह्यते। मा०उ०/अ०भा०प्र० 67
4. वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तृ। तै०उ०शा०भा० 1/11/4

3.9.31.1 वसिष्ठ

वाक् को ही वसिष्ठ कहा गया है, क्योंकि वाग्मी (श्रेष्ठ वक्ता) ही बसते हैं, अर्थात् दूसरों का पराभव करते हैं और अधिक धनवान् भी होते हैं, अत: वाक् ही वसिष्ठ है।[1] किसी ज्ञान में श्रुति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रुति का वास्तविक ज्ञान बिना आचार्य के संभव नहीं हो सकता। अत: वशिष्ठादि आचार्य ने अपनी वाक् रूपी श्रुति से ज्ञान को हम तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

3.9.32.1 सुमेधा

जिसमें मेधा शोभन अर्थात् सर्वज्ञत्वशाली लक्षण वाली होती है, उसे सुमेधा कहते हैं। अर्थात् यह शब्द आचार्य के लिए यहाँ प्रयुक्त हुआ है। जिनकी मेधा अत्यन्त उन्नत होती है। जिस मेधा के माध्यम से वे दूसरों को ज्ञान से आलोकित करते हैं।[2]

3.9.33.1 श्रुति

श्रुति ज्ञान को प्राप्त कराने वाली साधन है।[3] इसी श्रुति को आचार्य से जिन्होंने आत्मसात् कर लिया है, उसे सुनकर तथा उसका मनन एवं निदिध्यासन कर मानव वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करता है।

3.9.33.2 श्रुति लोक प्रसिद्ध क्रिया कारक और फल भेद की सत्यता एवं असत्यता का न तो प्रतिपादन करती है और न ही निपेध करती। क्योंकि वह इष्ट प्राप्ति अनिष्ट निवृत्ति के उपाय का विधान करने में ही तत्पर है।[4]

---

1. वाग्वाव वसिष्ठ: वाग्मिनो हि पुरुषा वसन्त्यभिभवन्त्यान्यान्वसुमत्तमाश्च, अतो वाग्वसिष्ठ:। छा०उ०शा०भा० 5/1/2
2. सुमेधा: शोभना मेधा सर्वज्ञलक्षणा यस्य मम सोऽहं सुमेधा। तै०उ० 1/10/1
3. श्रुतेर्ज्ञार्पकत्वात्। बृ०उ० 2/1/20
4. श्रुति: क्रियाकारक फलभेदस्य लोकप्रसिद्धस्य सत्यतामसत्यतां वा नाचष्टे न च वारयति, इष्टानिष्टफलप्राप्तिपरिहारोपायविधिपरत्वात्। बृ०उ० 2/1/20

3.9.34.1 शास्त्रम्

जिस प्रकार दर्शपौर्णमासादि क्रिया आदि के विषय में वास्तविक ज्ञान अर्थात् उसमें निहित अलौकिक बातों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है।[1] किन्तु यथार्थ होने के कारण वेद वाक्यों से उसका ज्ञान होता है। उसी प्रकार परमात्मा, ईश्वर एवं देवातदि पदार्थ स्थूलत्वादि धर्मों से रहित एवं क्षुधादि से अतीत है तथा इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट हैं – ये सभी बातें वेद–वाक्यों से ही जानी जा सकती हैं।[2]

3.9.34.2 पुरुष निःश्वासों के समान नियतरचनावन् विद्यमान वेद की ही अभिव्यक्ति हुई है, पुरुष के प्रयत्न पूर्वक इनकी रचना नहीं हुई अतः ये अपने निरपेक्ष अर्थ में ही प्रमाण हैं।[3]

3.9.34.3 लोक में वास्तविक ही मूर्त और अमूर्तादिरूप पदार्थ धर्म प्रसिद्ध हैं। उन्हें दृष्टान्त रूप से ग्रहण कर शास्त्र एक ऐसी वस्तु का प्रतिपादन करता है जिसका विरोध संभव नहीं।[4]

3.9.34.4 जो विषय प्रमाणान्तर के विरुद्ध है, उसमें श्रुति प्रामाण्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि कोई यह कहता है कि अग्नि शीतल होता है तथा वह भिगो देता है। ऐसा अर्थ अगर श्रुति सम्मत भी हो तो अन्य प्रमाण प्रमाणाभास हो जाते हैं।[5] जैसे कि मूर्खों को यह प्रत्यक्ष होता है कि खद्योत अग्नि है, अंतरिक्ष का तल मलिन है तथापि उनके विषय में प्रमाणान्तर से निश्चय हो जाने पर वह मूर्खों द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ निश्चित

---

1. इत्येतदलौकिकं वस्तु प्रत्यक्षाद्यविषयं तथाभूतं च वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते। बृ०उ०शा०भा० 1/3/1
2. तथा परमात्मेश्वरदेवतादिवस्तु ..... वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते। वही
3. नियतरचनावतोविद्यमानस्यैव वेदस्याभिव्यक्तिः। बृ०उ० 2/4/10
4. यथाभूता मूर्तामूर्तादि ..... प्रसिद्ध। तद् दृष्टान्तन्तोपादानेन ..... प्रहत्तं शास्त्रं। बृ०उ०शा०भा० 2/1/20
5. श्रुते तु तादर्थ्ये वाक्यस्य प्रमाणान्तरस्य आभासत्वम्। बृ०उ० 3/3 (याज्ञवल्क्य–भृगुसंवाद)

अर्थ भी मिथ्या हो जाता है।[1] अत: वेद के प्रामाण्य का सदा अव्यभिचार होने के कारण उसका वैसा तात्पर्य होने पर भी वाक्य की यथार्थता होती है। केवल मनुष्य का बुद्धिकौशल ही वाक्यार्थ का निर्णय नहीं कर सकता।[2]

3.9.34.5 आत्मवस्तु के स्वरूप तत्त्वमसि इत्यादि का श्रवण कर तथा उनका मनन करने से आत्मदर्शन होता है। द्रष्टव्य विधि से अन्य अनुष्ठान कर्त्तव्य नहीं है।[3] जिस समय भी आत्म प्रतिपादक वाक्य के श्रवण से आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है।[4] उसी समय उत्पन्न होने वाला ज्ञान आत्मविषयक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति करता हुआ ही उत्पन्न होता है तथा आत्माविषयक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर तज्जनित अनात्मवस्तुभेद-विषयक स्वाभाविकी स्मृतियाँ नहीं रहतीं।[5] इसके अलावा अनात्मवस्तुविषयक स्मृतियाँ अनर्थकारिणी हैं-ऐसा बोध हो जाने पर भी उनकी आवृत्ति नहीं होती। आत्माज्ञान हो जाने पर अन्य वस्तुएँ अनर्थरूप से ज्ञात होती हैं क्योंकि वे अनित्यता, दु:ख एवं अशुद्धि आदि अनेकों दोषों से युक्त होती हैं और आत्मवस्तु उससे भिन्न स्वभाव वाली है।[6] अन्ततोगत्वा आत्मैकत्वविज्ञान सम्बन्धी स्मृति का प्रवाह अर्थत: प्राप्त होने के कारण विधि का विषय नहीं है।[7] क्योंकि आत्मस्मृति तो शोक, मोह, भय, श्रम आदि बहुत से दु:ख और दोषों की निवृत्ति करने वाली है।[8] शोक मोहादि दोष तो विपरीत ज्ञान से ही होने वाला वाला है।[9] वस्तुत: तो ब्रह्मविज्ञान के सिवा मोक्ष का दूसरा साधन

---

1. यथा खद्योतोऽग्निरिति ..... आभासीभवति। -वही
2. तस्माद् वेदप्रामाण्यस्याव्यभिचारादर्थ्ये ..... पुरुषमतिकौशलम्। -वही
3. आत्मवस्तुस्वरूपसर्म्पकैरेव वाक्यै: 'तत्त्वमसि' इत्यादिभि: श्रवणकाल एवं तद्दर्शनस्य कृतत्वाद्। बृ०उ०शा०भा० 1/4/7
4. यदैवात्मप्रतिपादकवाक्यश्रवणाद ..... मिथ्याज्ञानंनिवर्तयदेवोत्पद्यते। -वही
5. आत्मविषयक मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ ..... न भवति। -वही
6. आत्मावगतौ हि ..... तद्विलक्षणत्वात्। -वही
7. पारिशेष्यादात्मैकत्व ..... विधेयत्वम्। -वही
8. शोकमोहभयायासादिदु:खदोषनिवर्तकत्वाच्च तत्स्मृते:। -वही
9. विपरीतज्ञानप्रभवो हि शोकमोहादिदोष:। -वही

जानने में ही नहीं आता।[1] पूर्वपक्षी कहते हैं कि तथापि ज्ञान से भिन्न निरोध भी तो एक मोक्ष का साधन है।[2] आचार्य शङ्कर कहते हैं कि क्योंकि वह मोक्ष के साधन रूप से नहीं जाना जाता। वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्मात्मविज्ञान के सिवा अन्य कुछ भी परमपुरुषार्थ के साधन रूप से नहीं जाना जा सकता।[3]

प्रमाणादि के अतिरिक्त कुछ शब्द हैं जिनको ज्ञानमीमांसीय शीर्षक के अन्दर रखकर अध्ययन किया जा सकता है, जो इस प्रकार से हैं–

3.9.35.1 धृति

धारण करना, जिससे शिथिल हुए शरीर और इन्द्रियों में जागृति होती। धृति से ही शरीर को उठाकर वहन करते हैं, ऐसा पण्डितजन कहते हैं।[4]

3.9.36.1 निमित्त

निमित्त कारण विषय को कहते हैं।[5]

3.9.37.1 निरुक्त

जिसे सजातीय और विजातीय पदार्थों से अलग करके देशकाल विशिष्टरूप से वह यह है, ऐसा कहा जाए उसे निरुक्त कहते हैं।[6]

3.9.38.1 प्रज्ञान

प्रज्ञप्ति यानी प्रज्ञता समयोचित बुद्धि स्फुरित हो जाना–प्रतिभा ही प्रज्ञान है।[7]

---

1. न तु ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेण ..... वगम्यते। –वही
2. निरोधस्तह्यर्थान्तरमिति चेत्। –वही
3. न; मोक्षसाधनत्वेनानवगमात् ..... अन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। –वही
4. धृतिधारणमवसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां ययोत्तभनं भवति–धृत्याशरीरमुद्वहन्तीति हि वदन्ति पण्डिता:। ऐ०उ० 3/1/2
5. निमित्तं कारणं विषय इत्येतत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्त विषयेत्येतत् प्रति जानीमहे। मा०उ०/अ०भा०प्र०/24
6. निरुक्तं नाम निष्कृष्य समानासमानजातीयेभ्यो देशकालविशिष्ट तयेदं तदित्युक्तमनिरुक्तम्। तै०उ०शा०भा० 2/6/1
7. प्रज्ञानं–प्रज्ञप्ति: प्रज्ञता। ऐ०उ० 3/1/2

3.9.39.1 भारूप

भा–दीप्ति को कहते हैं। अर्थात् चैतन्य ही जिसका रूप है उसे भारूप कहते हैं।[1]

3.9.40.1 मेधा

ग्रन्थ धारण की शक्ति मेधा है। अर्थात् ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उसके समान आचारण कर अपने सिद्धि तक पहुँचना ही मेधा कहा जाता है।[2]

3.9.41.1 मनीषा

मनन करने की स्वतंत्रता ही मनीषा है। यहाँ मनन करते समय किसी प्रकार का व्यवधान नहीं हुआ करता। अर्थात् बातों का अतिक्रमण यहाँ संभव नहीं।[3]

3.9.42.1 यश

जो ख्याति अपनी इन्द्रियों से गृहीत की जाती है, उसे यश कहते हैं।[4]

---

1. भारूप:, भा दीप्तिश्चैतन्यलक्षणं रूपं यस्य स भारूप: । छा०उ० 3/14/2
2. मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम्। ऐ०उ० 3/1/2
3. मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्। ऐ०उ० 3/1/2
4. यश: स्वकरणसंवेद्यं विश्रुतत्वम्। छा०उ० 3/13/4

चतुर्थ अध्याय

आचारमीमांसीय पारिभाषिक शब्द

सत्य के साक्षात्कार के लिए विहित अनुशासन पद्धति ही आचारशास्त्र है। अज्ञान अथवा अविवेक प्रभाव अत्यन्त दृढ़ होता है। इसलिए अज्ञान निवृत्ति के लिए श्रुति ग्रन्थों, उपनिषद् आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों तथा स्मृतिशास्त्रों में मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के निमित्त अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इन नियमों का अनुष्ठान करने से बहिर्मुख ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य विषयों से पराङ्मख हो जाती हैं। फलस्वरूप मन भी अन्तर्मुखी होने लगता है। अन्तर्मुख होने के अभ्यास से आसक्ति शनैः शनैः दूर होने लगती है। मन शुद्ध हो जाता है। शङ्कर कहते हैं कि शुद्ध मन आत्मसाक्षात्कार में हेतु बनता है। एतदर्थ आचार से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों का स्वरूप का आकलन करना अत्यन्त उपादेय है। आचारमीमांसीय पारिभाषिक शब्द जो आचार्य शङ्कर के द्वारा रचित उपनिषद् भाष्यों में आए हैं। उनका अध्ययन करते हुए इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखा गया है।

4.1 श्रवणादित्रय सम्मत पारिभाषिक शब्द

4.1.1 श्रुति तथा श्रुति संबधित पारिभाषिक शब्द

4.1.1.1 श्रुति

आचार्य शङ्कर कहते हैं कि आत्मज्ञान हमें स्वतः ही अनायास प्राप्त नहीं हो जाता।[1] इसकी सिद्धि के लिए एक विशिष्ट यन्त्र की अपेक्षा होती है।[2] आत्मज्ञान एक अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभव है, अतः अन्ततः यह आत्मा

---

1. अतोऽयन्त्रतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम्। तै०भा० 1/1/1
2. तस्मात्तल्लाभे महान् यत्न आस्थेयः। बृ०उ०भा० 1/4/8

द्वारा ही आत्मा का संभव है। और इस सत्य को साक्षात् अनुभव के प्रतीक के कारण श्रुति को मोक्ष का प्रधान (मूल) साधन माना गया है। आचार्य शङ्कर ने अनेक स्थलों पर ऐसा कहा है– सत्य केवल श्रुति से ही जाना जा सकता है।[1]

आचार्य भी गौ के सींग पकड़कर गौ–दर्शन की भाँति आत्मदर्शन नहीं करा सकते जैसा कि उषस्ति चाक्रायण कहते थे।[2] एक सच्चे विद्यार्थी को ब्रह्मज्ञानी गुरु के सजीव आध्यात्मिक सम्पर्क आत्मज्ञान का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन मिल जाता है।

4.1.1.3 ब्रह्म के स्वरूप का प्रारंभिक ज्ञान श्रुति द्वारा ही प्राप्य है। अत: श्रवण–मनन–निदिध्यासन परम्परा में श्रवण का प्रथम स्थान है। आचार्य शङ्कर सत्य के अन्यथा–करण में श्रुति की असमर्थता घोषित करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति से उनका अभिप्राय ग्रन्थों के शब्दों से नहीं वरन् तदगत सत्य से है। सहस्र श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल नहीं कर सकतीं।[3] इसका अर्थ यही है कि पदार्थों का स्वरूप उसकी सत्ता का चरम सत्य है और श्रुति शब्द उसे अन्यथा नहीं कर सकते। आचार्य शङ्कर के लिए सत्य ही चरम है तथा स्वत: परम मूल्यवान् है। श्रुति का मूल्य और महत्त्व उसके अंतर्निहित सत्य का प्रतीक होने के कारण है। श्रुति उस सत्य की कारक नहीं, ज्ञापक मात्र है,[4] वह यथाभूत अर्थ की प्रकाशक है, अविद्यमान अर्थ की कारक नहीं।[5] श्रुति की प्रामाणिकता का आधार इसका ईश्वरोक्त होना चाहिए।[6]

---

1. केवल शास्त्राचार्योपदेशशम्यम्। छा०उ०शा०भा० 6/1/2
2. बृ०उ० 3/4/1
3. न ह्यग्निः शीत: आदित्यो न तपतीति वा दृष्टान्तशतैरपि प्रतिपादयितुं शक्यम्। बृ०उ०शा०भा० 2/1/20
4. ज्ञापकं शास्त्रं न कारकं इति स्थिति:। बृ०उ०भा० 1/4/10
5. ज्ञापकत्वाद् वचनस्य, वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानकर्तृ। तै०उ०भा० 1/11
6. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै०सू० 1/11

4.1.1.4 श्रुति स्वतः प्रामाण्य है इसको अन्य बाह्य प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं होती।[1] आचार्य शङ्कर छान्दोग्योपनिषद् में कहते हैं कि श्रुति का वचन नित्य सत्य होता है, किसी भी कुतर्क द्वारा वह मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रुति सत्य का चरम प्रमाण है, क्योंकि उससे गुरुतर प्रमाण उपलब्ध नहीं।[2] श्रुति पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा नहीं बनाती, वह केवल यथार्थ को प्रकाशित करती है।[3] श्रुति किसी अनिवार्य नियम का निष्ठुर तन्त्र नहीं, किन्तु हमारे कठिन सत्य-पथ पर एक अत्यन्त करुणामयी मार्गदर्शिका है, जो अधिकर और आदेश से नहीं वरन् मातृवत् करुणा स्नेह से हमारा पथ-प्रदर्शन करती है तथा हमारे साधना-शिशु को करुणामयी माता के समान पोषित करती है।[4]

4.1.2 उपनिषद्

अपना सेवन करने वाले पुरुषों के गर्भ जन्म और जरा आदि का निशातन (उच्छेद) करने का या उसका अवसादन (नाश) करने के कारण उपनिषद् शब्द से विद्या कही जाती है, अथवा ब्रह्म के समीप ले जानेवाली होने से या इसमें परमश्रेय ब्रह्म उपस्थित हैं, इसलिए (यह विद्या उपनिषद्) उस विद्या के लिए होने के कारण ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाता है।[5]

4.1.2.2 जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आत्मभाव से इस ब्रह्मविद्या के समीप जाते हैं, यह उनके गर्भ, जन्म, जरा और रोग आदि अनर्थ समूह का छेदन करती है, अथवा उन्हें परब्रह्म को प्राप्त करा देती है, या संसार के कारण

---

1. *Indian Philosophy, vol. II, p 518*
2. श्रुतेर्वचनं सत्यमेव भवेत् न च कुतर्कबुद्ध्या मृषा कर्तुं युक्तम्, ततोगुरुतरस्य प्रमाणन्तर-स्याऽनुपपत्तेः। छा०भा० 8/12/1
3. वचनस्य न कारकत्वात्। न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते, किं तर्हि? यथा भूतार्थाविद्यतन। प्र०उ०शा०भा० 6/2
4. श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत्। कठ० 1/3/14
5. उपनिषदिति विद्योच्यते; तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वाब्रह्मणो-वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति तदर्थत्वाद् ग्रन्थोऽप्युपनिषत्। तै०उ० 1/1

रूप अविद्या आदि का अत्यन्त अवसादन–विनाश कर देती है, इसलिए इसे उपनिषद् कहते हैं। क्योंकि 'उप' और 'नि' पूर्वक 'सद्' (षद्लृविशणगत्यवसादनेषु।) धातु का यही अर्थ माना गया है।[1]

4.1.3 प्रज्ञप्ति – प्रज्ञान अर्थात् शब्दादि–प्रतीति का नाम प्रज्ञप्ति है। अर्थात् श्रुति आदि ज्ञान प्रदायक शब्द के माध्यम से ही वास्तविक अर्थ को समझ कर लोग ब्रह्म की उपासना कर अपनी इच्छा की पूर्ति करते हैं।[2]

आचार्य तथा आचार्य से संबंधित पारिभाषिक शब्द

4.1.4 आचार्य

जो पुरुष कृतार्थ होता है, वही आचार्य है।[3] आचार्य शङ्कर कहते हैं कि ब्रह्म आचार्य के बार–बार उपदेश द्वारा ही जाना जाता है, तर्क, प्रवचन बुद्धि, बहुश्रवण, तप, यज्ञ आदि के द्वारा नहीं।[4] आचार्य के शास्त्र उपदेश द्वारा ही ब्रह्मज्ञान संभव है।[5]

4.1.4.2 साधनत्रय की परम्परा में श्रुति तथा आचार्य से प्राप्त तत्त्व के मनन को श्रवण के बाद दूसरा स्थान दिया गया है और तृतीय स्थान निदिध्यासन यह स्पष्ट कर देता है कि अन्त में साधक को निरन्तर अनुभावन (ध्यान) द्वारा उस अनुभव को अपना बनाना है। श्रुति भगवान् का पुण्य वचन है तथा तत्त्वज्ञान त्रैलोक्य के राज्य से भी बढ़कर है।[6]

---

1. य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसरःसन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगद्यन–र्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्। कु०उ० 1
2. प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादि प्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्। मा०उ०/अ०रा०प्र० 24
3. कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवति। तै०उ० 1/3/4
4. ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाभिगन्तव्यम् न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुत–तपोयज्ञादिभ्यश्च। के०उ०शा०भा० 1/3
5. केवल शास्त्राचार्योपदेशगम्यम्। छा०उ०शा०भा० 6/1/2
6. त्रैलोक्यराज्याच्च गुरुतरा विद्या। छा०उ०शा०भा० 8/7/2

4.1.5.1 अथर्वाङ्गिरस

अथर्वाङ्गिरस अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियों के प्रत्यक्ष किए हुए मन्त्र अथर्वाङ्गिरस कहलाते हैं। अर्थात् ये ऋषि स्वयं प्रत्यक्ष कर उस मन्त्र का व्याख्यान उपासकों के बीच करते हैं उस व्याख्यान को सुनकर तथा उसका मनन एवं निदिध्यासन कर वह उसके माध्यम से ब्रह्म – साक्षात्कार करने में समर्थ हो पाते हैं।[1]

4.1.6.1 अननुभूत

जिसने मन से ही जन्मान्तर में अनुभव किया हो। अर्थात् जिसका इसी जन्म में केवल मन से अनुभव किया हो उसे अनुभूत कहा गया है एवं जिसने मन से ही जन्मान्तर का भी अनुभव प्राप्त कर लिया हो उसे (अननुभूत) कहा गया है। अर्थात् इसे ज्ञान प्राप्त ऋषियों के द्वारा सुने गए वाक्यों एवं श्रुतियों एवं श्रुतियों का मनन, निदिध्यासन कर ज्ञान प्राप्त होता है।[2]

4.1.7.1 प्रज्ञा

गुरु के उपदेश से तत्त्वमसि आदि वाक्य से उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में षष्ठ अध्याय में श्वेतकेतु को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से आत्मतत्त्व का ज्ञान कराया गया है।[3]

4.1.8.1 बहुज्ञ

बहुात से शास्त्रादि का परिज्ञान रखनेवाला होकर भी अचित्त अर्थात् प्राप्त विषयादि यथार्थ स्वरूप को जानने की सामर्थ्य से रहित हो तो निपुण लौकिक पुरुष उसके विषय में यह कुछ नहीं है – विद्यमान होते हुए भी असद्रूप ही है – ऐसा जाननेवाला बहुज्ञ कहलाता है।[4]

---

1. अथर्वाङ्गिरसोऽथर्वणाङ्गिरस। छा०उ० 3/4/13
2. अननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽभूतमित्यर्थः। प्र०उ० 4/5
3. प्रज्ञा गुरूपदेशात्तत्त्वमादिवाक्यजा बुद्धिः। श्वे०उ० 4/18
4. बहुविद्बहुशास्त्रादिपरिज्ञानवान्सन्नचित्तो भवति प्राप्तादिचेतयितृत्वसामर्थ्यविरहितो भवति तं निपुणा लौकिका नायमस्ति विद्यमानोऽप्यसत्सम एवेत्येनमाहु। छा०उ० 7/5/2

4.1.9.1 संन्यासी

जो ज्ञान–ध्यानादि क्रियाओं वाला और आर्य मर्यादा का भंग न करने वाला है वही संन्यासी है।[1] संन्यासी में क्या गुण होना चाहिए उसका वर्णन भी समीचीन है। संन्यासियों को अन्त:करण के संस्कार के लिए कुछ संन्यास के गुणों का अनुशीलन करना आवश्यक है। उनसे हमारी भावना शुद्ध होती है। शौच, उपशम, त्याग, तप और श्रम ये पाँच प्रधान संन्यास–गुण हैं। शौच, प्रथम कर्त्तव्य है, क्योंकि शौच के बिना अन्य श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति संभव नहीं। शौच दो प्रकार का होता है – बाह्य और अन्तर। जलादि द्वारा शरीरेन्द्रियादि की पवित्रता बाह्य शौच है तथा मोह, राग आदि आन्तरिक कलुषता के निवारण द्वारा मन और बुद्धि का नैर्मल्य आन्तर शौच है।[2] शौच से उपशम की प्राप्ति होती है। उपशम दो प्रकार का होता है बाह्य इन्द्रियों का उपशम दम है, अन्त:करण का उपशम शान्ति या शम कहलाता है।[3] उपशम से त्याग, तप, सन्तोष का मार्ग प्रशस्त होता है। इस प्रकार मन निर्मल होने से सत्य का अवलोकन करने में संन्यासी समर्थ होते हैं।

मनन तथा मनन से संबंधित पारिभाषिक शब्द

4.2.10.1 मनन

वेदविद् गुरु से श्रुति का शाब्दिक उपदेश ग्रहण कर लेना पर्याप्त नहीं है। अर्थात् उस श्रुत ज्ञान को निरन्तर जब तक मनन न किया जाए तब तक ब्रह्मानुभव संभव नहीं। मनन द्वारा न्याय बुद्धि से सम्यक् अवधारण के बाद ही वेद वाक्यों का तात्पर्य अन्त में दृढ़ हो जाता है।[4]

---

1. ज्ञानध्यानादिक्रियावानसंभिन्नार्यमर्याद: संन्यासी। मु०उ० 3/1/4
2. गीता भा० 16/3
3. गी०भा० 16/2
4. परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषां वाक्यानां विषय–विभाग: शक्यतेऽवधारयितुम्। बृ०उ०शा०भा० 4/15/5

4.2.10.2 अध्यात्म–साधना का क्रम इस प्रकार कहा गया है– पहले आगम तथा आचार्य से तत्त्व का उपदेश ग्रहण कर पुनः तर्क पूर्वक उसका मनन करें तब वह निदिध्यासन के द्वारा अनुभव ग्रहण करेगा।[1]

4.2.11.1 मुनि

आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु बाल के अग्रभाग के बराबर भी नहीं इस प्रकार जो देखता है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति–संज्ञक तीनों अवस्थाओं को छोड़कर मनन करता है[2] अतः मुनि कहा जाता है।

4.2.12.1 योगी

मनन करने के कारण ही मुनि योगी कहलाता है। अर्थात् मननोपरान्त ही वह वास्तविक सत्य को समझ कर उस ज्ञान से सामान्य मानव को लाभान्वित करते हैं।[3]

निदिध्यासन तथा निदिध्यासन से संबन्धित पारिभाषिक शब्द

4.3.13.1 निदिध्यासन

आचार्य द्वारा किए गए श्रुतिपाठ पर मनन करने से सत्य की बौद्धिक निष्ठा प्राप्त होती है। किन्तु इस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान को निरन्तर निदिध्यासन द्वारा आध्यात्मिक अनुभव का रूप देना आवश्यक है। श्रुति के वाक्यों का निरन्तर पारायण करने से उनका अर्थ मनोगत होता है। अतः साधक को चाहिए कि किसी वेदविद् आचार्य से श्रद्धापूर्वक श्रुति का अध्ययन करे, तर्क द्वारा विचार कर उसे निश्चित करे, तदन्तर निदिध्यासन द्वारा उसे अनुभव का

---

1. पूर्वमाचार्यागमाभ्यां श्रुतेः पुनः तर्केणोपपत्याः मते विचारिते पश्चात् विज्ञाते। बृ०उ०शा०भा० 5/5/6
2. सर्वं समस्तमात्मानमेव पश्यति, नान्यद् आत्मव्यतिरिक्तं वालाग्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति, मननान्मुनिर्भवति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यस्थानत्रयं हित्वा। बृ०उ० 4/4/23
3. मननान्मुनिर्योगी भवति। बृ०उ० 3/5/1
4. समाहितः सन् यथोक्तमाचार्येण आगमार्थतो विचार्य निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वा। के०पा०भा० 2/1

स्वरूप दे।[4] उष्णता चाहे वह किसी भी परिमाण में क्यों न हो, अग्नि-शिखा को उत्पन्न नहीं कर सकती उसी प्रकार श्रवण मनन आदि बिना निदिध्यासन के आत्मानुभव उत्पन्न नहीं कर सकते।

4.3.14.1 ध्यानपाद

ध्यान के आपादन का नाम है 'ध्यानापाद' अर्थात् ध्यान के फल की प्राप्ति उसके एक अंश-अवयव यानी कला से युक्त होते हैं, तात्पर्य यह है कि वे मानो ध्यानफल के आंशिक लाभ से सम्पन्न होते हैं। तथा वे निश्चल से दिखलाई देते हैं - क्षुद्र पुरुषों के समान नहीं।[1]

4.3.15.1 प्राणायाम

प्राण और अपान का संयोग होना ही प्राणायाम है।[2] प्राणायाम के द्वारा पाप क्षीण होते हैं तथा चित्त ब्रह्म में जाता है। प्राणायाम की विधि क्या है? उसका वर्णन करना भी समीचीन होगा। सर्वप्रथम नाड़ी शोधन करने के पश्चात् दायें नासारन्ध्र को अंगूठे से दबाकर बायें से यथाशक्ति शनैः-शनैः वायु खींचे। उसके उपरान्त दायीं नासिका को छोड़कर तथा कनिष्ठा तथा अनामिका से बायें नासिकारन्ध्र को बन्द करके दायें से धीरे-धीरे वायु को निकालें। पुनः दायें से पूरक करके यथाशक्ति बायें नासिकारन्ध्र से रेचक करें। इस प्रकार से शेषरात्रि, मध्याह्न और पूर्वरात्रि और अर्धरात्रि इन चार समय तीन-तीन या पांच-पांच बार अभ्यास करने वालों की एक पक्ष या एक मास में नाड़ी-शुद्धि हो जाती है। रेचक, कुम्भक और पूरकभेद से तीन प्रकार का प्राणायाम है।[3] इस प्रकार प्राणायाम करने पर मनोवाञ्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं। एवं योगाभ्यासी समस्त प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। साधक को चाहिए कि प्राणायाम द्वारा शरीर के दोषों को भस्म करे, धारण से पापों का नाश करे। कहा भी गया है

---

1. ध्यानापादंशा इव ध्यानस्यापादनमापदो ध्यानफललाभ इत्येतत्, तस्यांशोऽवयवः कला काचिद्ध्यानफललाभकलावन्तः इवैवेत्यर्थः ते भवन्ति निश्चला इव लक्ष्यन्ते न क्षुद्रा इव। छा०उ० 7/6/2
2. प्राणापानसमायोगः प्राणायामः प्रकीर्तितः। श्वे०उ०
3. प्राणायामक्षयितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि ..... रेचकः पूरकः कुम्भक इति। श्वे०उ० 2/8

कि जो व्यक्ति प्रतिदिन स्नानोपरांत सौ प्राणायाम करता है वह यदि माता, पिता या गुरु की हत्या करने वाला भी हो तो भी तीन वर्ष में उस पाप से मुक्त हो जाता है।[1]

4.3.16.1 योग

अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना योग कहलाता है।[2] और यह निदिध्यासन से ही संभव है कारण केवल श्रवण और मनन मात्र से किसी वस्तु को प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक उसका पुनः पुनः अभ्यास न किया जाए।

उपासनादि से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द

4.4.17.1 उपासना

जिस प्रकार उपास्य सम्बन्धी अर्थवाद में श्रुति के द्वारा देवतादि का स्वरूप ज्ञात कराया जाता है, उसी प्रकार का स्वरूप मन में स्थापित कर उप (मानासिकरूप से) समीप आसन लगाकर लौकिक प्रत्ययों का व्यवधान हटाकर तब तक चिन्तन करना जब तक कि देवतादि का अभिमान न हो जाए। इस प्रकार की विधि को उपासना कहते हैं।[3]

4.4.17.2 शास्त्रानुसार प्रत्यय के प्रवाह का नाम उपासना है।[4] उपासना के कई प्रकारों का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है उनमें से मुख्य उपासनाओं का उल्लेख करके विवेचन करना अर्थपूर्ण होगा।

---

1. *(i)* प्राणायामं समभ्यसेत्। मनसा प्रार्थितं याति सर्वप्राणजयीभवेत्॥

   (ii) प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
   प्रत्याहाराच्च संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥

   (iii) प्राणायमशतं स्नात्वा यः करोति दिने-दिने।
   मातृपितृगुरुघ्नोऽपि त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति॥ श्वे०उ० 2/8
2. योगक्षेमइति योगोऽपात्तस्योपादानम्। तै०उ० 3/10/4
3. उपासनं नाम उपास्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्याज्ञाप्यते तथा मनसोपागम्य आसन चिन्तनं लौकिकप्रत्याव्यवधाने यावत्तादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति लौकिकात्माभिमानवत् देवो भूत्वा देवानप्येति। बृ०उ० 4/1/2
4. उपासनं च यथा शास्त्रं तुल्यप्रत्ययसन्ततिरसंकीर्णाकीर्णाचातत्प्रययैः शास्त्रोक्ता-लम्बनविषया च। तै०उ०शा०भा० 1/3/1-4

4.4.18.1 गायत्र्युपासना

ब्रह्म गायत्रीरूप उपाधि से गायत्री सम्पूर्ण छन्दों में प्रधान है। वह अपने उपासक का त्राण करती है। अन्य छन्दों में अपने प्रयोक्ता के प्राणों की रक्षा करने की सामर्थ्य का अभाव होता है। यह सभी छन्दों का आत्मस्वरूप है। गायत्री को प्राणरूप भी कहा गया है। अतः गायत्री की प्राणरूप से उपासना का विधान अभीष्ट है।[1] भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः – ये आठ प्रकार के अक्षर हैं। गायत्री का केवल प्रथम पाद ही अष्टाक्षर है। 'द्यौः' इसके यकार से ही आठ संख्या की पूर्ति होती है, वस्तुतः यही गायत्री छंद का त्रिलोकरूप प्रथम पाद है। इस त्रैलोक्य प्रथम को जो सम्यक्तया जान लेता है वह त्रिलोकी में जो कुछ जीतने योग्य है वह जीत लेता है।[2] इसी प्रकार गायत्री के द्वितीय पाद[3] तथा तृतीय पाद[4] में भी क्रमशः ऋधः (यजूंषि) समाधि तथा प्राण, अपान व्यान को जो जान लेता है वह सम्पूर्ण त्रयीविद्या एवं प्राणिसमूह को जीत लेता है।

4.4.18.2 गायत्री का चतुर्थ पद लोक में पर्याप्त प्रसिद्ध है उसी पद को 'तुरीय' शब्द से कहा गया है। यह मण्डलस्थ पुरुष समस्त रजः समूह अर्थात् सारे ही लोक के ऊपर-ऊपर यह समस्त लोक पर आधिपत्य को दर्शाने के लिए है। शंका होने पर यह स्पष्ट किया गया है कि जो कि इससे ऊपर लोक है, यह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष उनका और देवताओं के अभीष्ट फलों का स्वामी है। इस प्रकार अन्य श्रुति से यह स्पष्ट होता है। अतः यह द्विरुक्ति सभी लोकों का अवरोध करने के लिए है। जो गायत्री के इस चतुर्थ

---

1. सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीछन्दः प्रधानभूतम् ..... तदुपासनमेव विधित्स्यते। बृ०उ०शा०भा० 5/14
2. भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्येतान्य ..... जयति योऽस्था एतवेदं पदं वेद। बृ०उ०शा०भा० 5/14/1
3. बृ०उ०शा०भा० 5/14/2
4. बृ०उ०शा०भा० 5/14/3

पद को जानता है वह श्री तथा कीर्ति से प्रकाशित होता है।[1]

वस्तुतः यह गायत्री अध्यात्म प्राण में प्रतिष्ठित है। इस गायत्री ने गयों का त्राण किया था। इस कारण इसका नाम गायत्री पड़ा। आचार्य उपनयन के समय वस्तुतः आठ वर्ष के वटु के प्रति जिस सावित्री का उपदेश किया था, वह यही है। वह जिस-जिस वटु को इसका उपदेश करता है, वह गायत्री उसके-उसके प्राणों की रक्षा करती है।[2]

4.4.19.1 दहरविद्या

उपनिषदों में जिस हृदय स्थित आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, उसका विस्तृत व्यापक एवं विशद विवेचन निर्विवादतः दहर विद्या है। दहर विद्या एवं उपनिषदों में प्रतिपादित पञ्च आवरण विद्या औपनिषदिक उच्चस्तरीय शिक्षण का उत्कृष्ट रूप है। दहरविद्या की महत्ता दहराकाश के शिक्षण में है। दहाराकाश का अभिप्राय हृदय स्थित सूक्ष्म (दहर) और अवस्थान (आकाश)। वस्तुतः मन्द पुरुषों की बुद्धि सहसा परमार्थसम्बन्धिनी नहीं की जा सकती तथा ब्रह्म को जाने बिना पुरुषार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसका अनुभव करने के लिए हृदयकमल रूप देह का उपदेश करना आवश्यक है। यह परम ज्ञान तक पहुँचाने की आरंभिक अवस्था है, जिसका उपदेश आरंभिक को परम ज्ञान की ओर उन्मुख करने हेतु अत्यन्त आवश्यक है।

4.4.20.1 हृदयकमल

वस्तुतः ब्रह्म दिशा, देश और कालादि भेद से रहित सत् एकमात्र आद्वितीय है, ऐसा जाना जाता है तथापि यहाँ दिशा और देश आदि भेदयुक्त वस्तु है यह परमार्थसम्बन्धिनी मन्द बुद्धिवाले पुरुषों को सहसा नहीं जाने

---

1. अथानन्तरं ..... व्याचष्टे। यद् वै चतुर्थं ..... सर्वलोकाधिपत्यरव्यापनार्था। ये चामुष्मात् ..... (छा०उ०1/6/8) इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मात् वीप्सा। यथासौ ..... पदं वेद। बृ०उ०शा०भा० 5/14/3
2. गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हेषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद् तद् गयाꣳस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम। बृ०उ०शा०भा 5/14/4

बिना पुरुषार्थ की सिद्धि संभव नहीं अतः इस अनुभव के लिए हृदयकमल का उपदेश करना आवश्यक है।

यद्यपि आत्मतत्त्व सत्, एकमात्र सम्यक् ज्ञान का विषय तथा निर्गुण है, तो भी अल्पबुद्धि पुरुष को ब्रह्म की सगुणता ही इष्ट है। अतः उसके सत्य-संकल्पादि गुणों से युक्त होने का प्रतिपादन आवश्यक है। इसी प्रकार प्रायः ब्रह्म के उपासकों को स्त्री आदि विषयों से स्वयं ही उपरति होती है। किन्तु संचित अभ्यास को सहसा निवृत्त नहीं किया जा सकता अतः इसके लिए ब्रह्मचर्यादिसाधन विशेष का वरण भी आवश्यक है। इस प्रकार हृदय पुण्डरीक के द्वारा उस परम तत्त्व का अन्वेषण तथा उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।[1]

4.4.21.1 दहराकाश

जिस प्रकार पुर में राजा का भवन होता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मपुररूप शरीर में एक सूक्ष्म गृह अर्थात् ब्रह्म की उपलब्धि का अधिष्ठान है यथा शालिग्रामशिला विष्णु आदि का उपलब्धि स्थान है।[2] इस सूक्ष्य गृह में दहर – अत्यन्त सूक्ष्म अन्तराकाश अर्थात् आकाशसंज्ञक ब्रह्म है। गृह सूक्ष्म होने से इसके अन्तर्वर्ती आकाश का सूक्ष्मतरत्व सिद्ध होता है। अर्थात् उस के समान अशरीर होने के कारण तथा सूक्ष्मत्व और स्वर्गतत्त्व में उससे समानता के कारण उस आकाश संज्ञकतत्त्व के भीतर जो वस्तु है उसका अन्वेषण करना चाहिए तथा इसका अन्वेषण गुरु के आश्रय तथा श्रवणादि उपायों से संभव है।[3]

4.4.21.1 शिष्य के द्वारा प्रश्न किए जाने पर कि यह कमलाकर हृदय प्रथम सूक्ष्म होता है तथा उसमें रहने वाला आकाश उससे भी सूक्ष्म। इस सूक्ष्मतम आकाश में किसी वस्तु का अस्तित्व कैसे संभव है ? इस पर कहा

1. एकमेवाद्वितीयमात्मैवेदं ..... पुण्डरीकदेश उपदेष्टव्यः। छा०उ०शा०भा० 8/1
2. दहर-मलपं पुण्डरीक ..... मत्त्वात्। पुरे च वेश्म ..... विष्णोः शालिग्रामः। छा०उ०शा०भा० 8/1/1
3. दहरोऽल्पतरोऽस्मिन् दहरे ..... साक्षात्करणीयमित्यर्थः। छा०उ०शा०भा० 8 1/1

गया है कि आपका कथन हृदयाकाश सूक्ष्म है तथा उसमें स्थित ब्रह्म और भी सूक्ष्म होगा अचित नहीं। वस्तुतः हृदयकमल सूक्ष्म है, उसका अनुवर्तन करनेवाला उसका अनुवर्ती अन्तःकरण उस पुण्डरीकाकाश से परिच्छिन्न है। जिन योगियों ने अपने इन्द्रियों का उपसंहार कर लिया है। उन योगियों को उस विशुद्ध अन्तःकरण में जल में प्रतिबिम्ब के समान तथा स्वच्छ दर्पण में रूप के समान विशुद्ध विज्ञान ज्योतिः स्वरूप से होने वाला ब्रह्म उसी के बराबर उपलब्ध होता है। अतः इसी अन्तःकरण उपाधि के कारण इसका अन्तर्वर्ती आकाश करण रूप उपाधि के कारण सूक्ष्म है।[1]

वस्तुतः कहना उचित नहीं कि हृदयाकाश अत्यन्त सूक्ष्म है और उस सूक्ष्मतम जगह में किसी भी अन्य पदार्थ का अस्तित्व संभव नहीं। क्योंकि यह आकाश भौतिक आकाश के आकार का है। अर्थात् द्युलोक तथा पृथिवी लोक दोनों ही इसके अन्तर्गत स्थित हैं। साथ ही अग्नि, वायु, सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र एवं जो कुछ भी इस लोक में है और जो कुछ नहीं है, वह सब सम्यक् प्रकार से इसी में स्थित है।[2] ऊपर जो आचार्य ने कहा कि संसार में जो कुछ है और जो कुछ नहीं है वे सभी चीजें इस दहर आकाश में उपलब्ध होती हैं। इस पर शंका उठाते हुए शिष्य कहते हैं कि फिर तो जिस प्रकार शरीर जीर्ण हो जाने पर झुर्रियाँ पड़ जाने से केशों के पक जाने से अर्थात् शरीर का नाश होने पर देह में आश्रित उत्तरोत्तर कार्य पूर्व–पूर्व कारण का नाश होने पर हो जाएगा। अर्थात् इस प्रकार कुछ शेष नहीं रहेगा।[3] इस पर आचार्य ने उत्तर दिया है कि देह के वृद्ध होने से शरीर आकाश में रहने वाला ब्रह्म जीर्ण नहीं होता। साथ ही शरीर के बद्ध होने की भी स्थिति में यह नाश नहीं होता, अर्थात् यह ब्रह्मपुर सत्य है तथा इसमें सभी कामनाएँ सम्यक् प्रकार से स्थित हैं, इस प्रकार यह जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और

---

1. तं चे देव मुक्तवन्तमाचार्यं यदि .... एवाकाशः। दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः .... इत्यभिप्रायः। श्रृणुत .... दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्यवोचामन्तःकरणोपाधिनिमित्तम्। छा०उ० 8/1/2
2. यावान्वा .... तदस्मिन्समाहितमिति। छा०उ०शा०भा० 8/1/2
3. यदा यस्मिन्काल एतच्छरीरं ... किञ्चनावतिष्ठत इत्यभिप्रायः। छा०उ०शा०भा० 8/1/4

सत्यसंकल्प है। जिस प्रकार प्रजा लोक में राजा का अनुवर्तन करती है तो वह जिस-जिस वस्तु की कामना करती है तथा जिस-जिस देश या भू-भाग की इच्छा करती है, उसी-उसी के आश्रित जीवन धारण करती है।[1]

4.4.21.3 दहर ब्रह्मोपासना के फलस्वरूप व्यक्ति मनोवांछित फल को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। अर्थात् वह यदि पितृलोक, मातृलोक, भ्रातृलोक, सुखभोगादि रूप जो भी इच्छा उसे होती है वह प्राप्त होता है।[2]

4.4.22.1 ॐ खं ब्रह्मोपासना

यहाँ आकाश को ब्रह्म कहा गया है। अर्थात् ब्रह्म का विशेषणरूप आकाश को माना गया है। यहाँ ब्रह्मोपासना के साधनार्थ ॐ शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] अर्थात् जिस प्रकार ॐ ऐसा कहकर शास्त्रपाठ किया जाता है, उसी प्रकार ॐ का ध्यान करके ब्रह्म की उपासना की जाती है, क्योंकि श्रुतिप्रामाण्य से ब्रह्म का अत्यन्त समीपवर्ती प्रियतम नाम ओंकार ही है। यही कारण है कि यह ब्रह्म-प्राप्ति में परमसाधन है।[4] साधन का दो प्रकार से यहाँ आचार्य शङ्कर ने निरूपित किया है प्रतीक रूप से नाम रूप सें, जिस प्रकार विष्णु आदि की प्रतिमाओं का विष्णु आदि के साथ अभेदरूप से चिन्तन किया जाता है, उसी प्रकार ओङ्कार ही ब्रह्म है इस प्रकार चिन्तन आवश्यक है। इस प्रकार ओङ्कार जिसका आलम्बन है उससे ब्रह्म प्रसन्न होता है, जैसा कि यह श्रेष्ठ आलम्बन है। इस आलम्बन को जानकर उपासक ब्रह्मलोक में पूजित होता है ऐसा श्रुति से सिद्ध होता है। यहाँ आकाश भौतिक आकाश रूप नहीं वरन् पुराणम् सनातन परमात्माकाश वह चक्षु आदि का विषय नहीं होने के कारण निरालम्बन है अर्थात् उसे श्रद्धाभक्ति भाव के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[5]

---

1. स ब्रूयान्नस्य ..... तमेवोपजीवन्ति छा०उ० 8/1/5
2. य आत्मानं ..... संस्तत्स्थांश्च सत्यान् कामान्। छा०उ० 8/2/1-10
3. यत्तत् खं ब्रह्म तदोंशब्दवाच्य ..... समानाधिकरणम्। बृ०उ० 5/1/1
4. अन्यार्थासम्भवाच्चोपदेशस्य ..... परं साधनम्। -वही 5/1/1
5. तत्र खमिति भौतिके ..... चोङ्कार आवेशयति। -वही 5/1/1

4.4.23.1 हृदय ब्रह्मोपासना

हृदय तीन अक्षरों से मिलकर बना है जिसे 'त्र्यक्षर' कहते हैं। हृदयरूप ब्रह्म के प्रति ही इन्द्रिय और शब्द अपने-अपने कार्यों का अभिहरण करते हैं। हृदय उन सभी को भोक्ता तक ले जाने का कार्य करता है। अत: 'हृदय' नाम का 'हृ' यह एक अक्षर है इस प्रकार जो जानता है, उस विद्वान् के प्रति स्वा: उसके सजातीय और 'अन्ये' दूसरे असम्बद्ध पुरुष अभिहरण करते हैं। 'बलिम' यह वाक्य शेष है। विज्ञान (उपासना) के अनुरूप ही यह फल है।[1] इन तीनों अक्षरों की उपासना का अलग-अलग फल प्राप्त होते हैं यथा— 'द' रूप की उपासना करने वाले स्वजन तथा अन्य जन से अभीष्ट वस्तु प्राप्त करते हैं। 'यम' रूप की उपासना करने वाले 'स्वर्गलोक' का साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार नाम के अक्षरमात्र से जब पुरुष इस प्रकार का विशिष्टफल प्राप्त कर लेता है तो उसे हृदयस्वरूप ब्रह्म की अपूर्व फल की प्राप्ति होती है।[2]

4.4.24.1 हृदयान्तर्गत पूर्वसुषिभूत प्राणोपासना

हृदय में स्वर्गलोक की प्राप्ति रूप देवसुषिरूप पाँच छिद्र हैं। वे प्राण तथा आदित्य देवताओं से सुरक्षित हैं। अत: देवसुषि कहलाते हैं।[3] वह प्राण ब्रह्म स्वर्गलोक का द्वारपाल है। अत: स्वर्गलोक की इच्छा रखने वाला पुरुष चक्षु और आदित्य रूप से तथा अन्नाद्यरूप से सविता का तेज और अन्नाद्य है। इस प्रकार इन दो गुणों से इसकी उपासना करें। इस प्रकार उपासना करने से रोग आदि मनुष्य से दूर भाग जाते हैं, जो ऐसा जानता है उसे यह गौण फल प्राप्त होता है, किन्तु मुख्य तो यही है कि उपासना द्वारा अपने अधीन किया

---

1. तत्र हृदयनामाक्षरविषयमेव तावदुपासनमुच्यते ..... विज्ञानारूप्येणैतत् फलम्। बृ०उ०शा०भा० 5/4/1
2. तथादत्येदप्येकाक्षरमेतदपि ..... हृदयस्वरूपापोसनादिति हृदयस्तुतये नामाक्षरोपनयाय:। वही 5/4/1
3. तस्येति प्रकृतस्य हृदयस्येत्यर्थ:। एतस्यानन्तरनिर्दिष्टस्य .....देवसुषय:। छा०उ०शा०भा० 3/21/1

हुआ वह द्वारपाल स्वर्गलोक प्राप्ति का कारण होता है।[1] इस प्रकार उपनिषद् में हृदनान्तर्गत दक्षिण सुषिभूत व्यान, पश्चिमसुषिभूत अपान, उत्तर सुषिभूत समान तथा ऊर्ध्व सुषिभूत उदान की उपासना के विषय में आचार्य शङ्कर ने पारिभाषित किया है, जिसके फलस्वरूप उपासाना करने वाले व्यक्ति के घर में या कुल में वीर उत्पन्न होता है। तथा जो इस प्रकार स्वर्गलोक के द्वारपाल इन पाँच पुरुषों को जानता है वह स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है।[2]

4.4.35.1 सत्य ब्रह्मोपासना

हृदयब्रह्म को आचार्य शङ्कर ने सत्य कहा है कि जो भी इस महत्, यक्ष पूज्य उत्पन्न हुए हैं यह ब्रह्म ही सत्य है और जो इस सत्य ब्रह्म के द्वारा, ब्रह्म इस सत्यलोक द्वारा ही आत्मसात् किए हुए हैं अर्थात् सत्यात्मा प्रथमोत्पन्न, महत् पूज्य ब्रह्म ही है इस प्रकार जो जानता है, वह उपासना के द्वारा उपासनानुरूप फल को प्राप्त करता है, क्योंकि ब्रह्म भी सत्य ही है।[3]

4.4.26.1 हृद स्थ मनोमय पुरुषोपासना

प्रकाश ही जिसका (सत्य) स्वरूप है ऐसे पुरुष मनोमय कहलाते हैं। वह अन्तर्हृदय में उतने ही स्थान में रहता है जैसा परिमाणत: 'ब्रीहि' और 'यव' होता है। अत: यह दर्शन योगियों द्वारा ही सुलभ होता है। वह अपने (औपाधिक) भेदसमुदाय का स्वामी है। तथा इन सभी पर शासन करता है। इस प्रकार मनोमय ब्रह्म की उपासाना से तद्रूपता की प्राप्तिरूप ही फल मिलता है। उसकी जो जिस प्रकार उपासना करता है, उसी प्रकार हो जाता है।[4]

---

1. तदेतत्प्राणाख्यं स्वर्गलोक ..... मुख्यं च फलम्। छा०उ० 3/31/1
2. छा०उ०शा०भा० 3/13/2-6
3. (1) यथा सत्येन ब्रह्मणे मे लोका ..... भवेदित्यर्थ:।
   (2) य एवेतन्महद् ..... यस्माद् ब्रह्म। बृ०उ० 5/4/1
4. (1) तस्मिन्नन्तर्हदये----पालयिता।
   (2) सर्वमिदं प्रशास्ति----इति ब्राह्मणम् - बृ०उ०भा० 5/6/1

4.4.27.1 विद्युद् ब्रह्मोपासना

श्रुति ब्रह्म की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) बतलाती है। अन्धकार के विदान-खण्डन के कारण, क्योंकि यह मेघ के अन्धकार को विदीर्ण करके प्रकाशित होती है इसलिए इसे विद्युद् कहते हैं।[1] इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जो विद्युत् को जानता है वह पाप को विद्यति - अर्थात् खण्डित अर्थात् नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है कि इस आत्मा के प्रतिकूल जितने पाप हैं उन सबका यह खण्डन कर मनोरूप फल प्रदान करता है। इस प्रकार इस रूप में ब्रह्म की उपासना करने वाले उपासक तदाकार हो जाते हैं।[2]

4.4.28.1 धेनुरूपवागुपासना

'वाग्वै ब्रह्म' अर्थात् वाक् को ही ब्रह्म कहा गया है। इस वाक् रूपी ब्रह्म का धेनु के रूप में उपासना अभीष्ट है कारण जिस प्रकार धेनु (गाय) अपने चारों स्तनों के द्वारा बछड़ों के लिये दूध बहाती है। उसी प्रकार वाग्धेनु देवतादि के दूध समरूप अन्न प्रदान करते हैं। वाक् के दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा देवतादि को हवि दी जाती है। हन्ताकार मनुष्य है, 'हन्त' ऐसा कहकर मनुष्य को अन्न प्रदान करते हैं स्वाधाकार के उपजीवी पितृगण हैं, उस धेनु प्राणी का प्राण वृषभ है, क्योंकि मन से ही वह प्रस्त्रवित होती है (यानी पन्हाती है) मन से आलोचना किये हुए विषय में ही वाणी की प्रवृत्ति होती है। इसलिए मन को वत्स स्थानीय कहा गया है। इस प्रकार वाक् रूपी धेनु उपासक तद्रूपता को (तदुपाधिक ब्रह्मभाव को) ही प्राप्त होता है।[3]

---

1. विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः। विद्युतो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते-विदानाद् खण्डनात् तमसो मेघान्धकारं विदार्य ह्यवभासतेऽतो विद्युद्। बृ०उ० 5/7/1
2. एवंगुणं विद्युद् ब्रह्मेति----यस्माद् ब्रह्म। बृ०उ० 5/7/1
3. वागिति----देवादिभ्यः। तस्याः एतस्याः वाचो धेन्वा----व्यमेव प्रतिपद्यते। बृ०उ०शा०भा० 5/8/1

4.4.29.1 उक्थदृष्ट्या प्राणोपासना

'उक्थ' इस प्रकार प्राण की उपासना करें। क्योंकि उक्थ शास्त्र है तथा वह महाव्रत महाव्रत क्रतु में प्रधान होता है। उक्थ को प्राण कहने का तात्पर्य यह है कि प्राण ही सबको उठाता है अतः सबको उठाने के कारण उक्थ प्राण है ऐसी उपासना करनी चाहिए। इस उपासना के फलस्वरूप उपासक से उक्थवित्-प्राणवित् वीर यानी पुत्र उत्पन्न होता है यह प्रत्यक्ष फल है, परोक्ष फल यह है कि जो ऐसा जानता है, वह उक्थ के समान सालोकता को प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार प्राण की उपासना यजुःदृष्टि से भी किया गया है, यहाँ यजुः को ही प्राण कहा गया है साथ इस भाव से उपासना करने वाले उपासक को श्रेष्ठता का एहसास होता है।[2] इसके उपरांत साम तथा क्षत्र दृष्टि से भी प्राण की उपासना की गयी है। साम एवं क्षत्र भाव से प्राण की उपासना से उपासक - सायुज्य और सालोकता को प्राप्त कर लेता है।[3] प्राण की उपासना ज्येष्ठत्व एवं श्रेष्ठत्व के लिए भी किया जा सकता है कारण प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुणों से युक्त है। वस्तुतः कुल में या अपने परिवार में आयु में ज्येष्ठ होते हुए भी गुणहीन होने के कारण व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं माना जाता, उसी प्रकार गुण सम्पन्न होने के कारण मध्यम और कनिष्ठ श्रेष्ठ तो हो जाता है किन्तु ज्येष्ठ नहीं हो सकता। इसलिए जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुण वाले प्राण को जानता है अर्थात् उसकी उपासना करता है। वह प्राण के उस गुण से युक्त होकर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है।[4]

---

1. उक्थं तथोपासनान्तरम्। उक्थं----उक्थ मित्युपासीत। तदुपासनफलमाह उद्धास्मादेवंविद----जयति य एवं वेद। बृ०उ०भा०मा० 5/13/1
2. यजुरिति चोपासीत प्राणम्----सायुज्यमित्यादि सर्वं समानम्। बृ०उ०शा०भा० 5/13/2
3. (1) सामेति चोपासीत्----सायुज्यमित्यादि पूर्ववत्। बृ०उ०शा०भा० 5/13/3
   (2) तं प्राणं क्षत्रमित्युपासीताप्राणो वं----जयति य एवं वेद। बृ०उ०शा०भा० 5/13/4
4. यः कश्चिद्ध वां इत्यवधारणार्थो। यो----प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। भवितु तु कश्चित्--श्रेष्ठश्च। सर्वथापि तु प्राणं----ज्येष्ठश्रेष्ठगुणोपासनसामर्थ्यात्। बृ०उ०शा०भा० 5/1/1

4.4.30.1 वसिष्ठदृष्ट्या वाक् उपासना

वस् धातु से वसिष्ठ शब्द निष्पन्न होता है। वाक् कुशल लोग वाणी से दूसरों का पराभव कर देता है। अतः वसिष्ठ गुणयुक्त पदार्थ की उपासना करने पर उपासक वसिष्ठ गुणवान् हो जाता है इस प्रकार उन्हें ज्ञानानुसार (फल की प्राप्ति होती है।)[1]

4.4.31.1 प्रजाति दृष्ट्या 'रेतस्' की उपासना

जो प्रजाति को जानता है, वह प्रजात अर्थात प्रजा तथा पशुओं से सम्पन्न होता है। वीर्य ही 'प्रजाति' है। रेतस् शब्द प्रजननेन्द्रिय उपलक्षित होती है। जो ऐसी उपासना करता है, उसे उसकी दृष्टि के अनुरूप फल मिलता है।[2]

4.4.32.1 शाण्डिल्य विद्या

शाण्डिल्यविद्या के अन्तर्गत शाण्डिल्य ऋषि के द्वारा ब्रह्म की महत्ता बतलायी गयी तथा उनकी उपासना किस-किस प्रकार से उचित है, उसका वर्णन शाण्डिल्य विद्या के अन्तर्गत शङ्कराचार्य ने किया है। यहाँ सर्वदृष्टि से ब्रह्म की उपासना की गयी है, यहाँ कहा गया है कि यह सारा जगत् निश्चित रूप से ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन होता है। अतः इस ब्रह्म की शान्त रागद्वेष होकर उपासना करनी चाहिए, क्योंकि पुरुष निश्चित ही क्रतुमय-निश्चयात्मक है। अर्थात् मनुष्य इस लोक में जिस प्रकार का निश्चय करता है यहाँ से मरणोपरांत जाने पर वैसा ही वहाँ होता है अतः पुरुष को शुद्ध मन से उस परंब्रह्म की उपासना ही करनी चाहिए।[3] अब उस ब्रह्म में आरोपित गुणों के विषय में कहा गया है कि वह मनोमय अर्थात् जिसके द्वारा जीव मनन करता है, प्राणशरीर अर्थात् पुरुष मनःप्राय होकर मनके प्रवृत्त होकर प्रवृत्त-सा होता है और निवृत्त होने पर निवृत्त-सा हो जाता है इसलिए

---

1. आच्छादनार्थस्य वा वसेर्वसिष्ठा। अभिभवन्ति----दर्शानुरूप फलम्। बृ०उ०शा०भा० 6/1/2
2. यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायेत----पशुभिर्य एवं वेद। बृ०उ०भा० 6/1/6
3. सर्वं खल्विदं----क्रतुं कुर्वीत। छा०उ० 3/14/1

वह प्राण शरीर है, प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प अर्थात् जिनके सङ्कल्प सत्य यानी अमिथ्या हैं वह ब्रह्म सत्य-सङ्कल्प हैं,[1] इसका शरीर आकाशात्मा- जिसका आत्मा यानी स्वरूप आकाश के समान हैं।

4.4.33.1 प्रतिष्ठादृष्ट्या चक्षुरुपासना

प्रतिष्ठा को जानने वाला व्यक्ति ही प्रतिष्ठित होता है। वस्तुत: वह प्रतिष्ठागुणवती चक्षु को जानकर दुर्गम्य देश और दुर्भिक्षादि विषय काल में प्रतिष्ठित होता है। प्रतिष्ठा चक्षु ही है क्योंकि श्रुति कहती है कि-सम और विषम देशकाल में चक्षु से देखकर ही पुरुष प्रतिष्ठित होता है। अत: जो इस प्रकर से उपासना करते हैं, उन्हें अनुरूप फल होता है और वह दुर्गमों में भी प्रतिष्ठित होता है।[2]

4.4.34.1 सम्पद् दृष्ट्या श्रोत्र-उपासना

सम्पद् श्रोत्र को कहा गया है। इस सम्पद् को जा जानता है, वह सद्गुणवान् हो जाता है। कारण श्रोत्र के माध्यम से ही सम्पूर्ण वेद आदि का ज्ञान होता है। और भोग तो वेदविहित कर्मों के अधीन नहीं है, अत: श्रोत्र को सम्पद् कहा गया है। इसलिए विज्ञान (उपासना) के अनुरूप ही फल मिलता है। जो इस प्रकार इस श्रोत्र की उपासना करता है व उपासक अपने इच्छानुसार योग को प्राप्त करता है।[3]

4.4.35.1 आयतन दृष्ट्या मन उपासना

मन को ही आयतन कहते हैं। वह इन्द्रिय तथा विषयों का आश्रय है। मन के आश्रित होकर ही विषय आत्मा के भोग्यत्व को प्राप्त होते हैं। मन के अधीन रहकर ही इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त तथा निवृत्त होती हैं अत: मन

---

1. मनोमय:---प्रवृत्तोभवति। तेन मनसा----अतएव प्राणशरीर:। भारूप:---भारूप। बृ०उ०भा०मा० 3/14/2
2. यो ह वै प्रतिष्ठां वेद----दुर्गे य एवं वेदेति। छा०उ० 6/1/3
3. यो ह वै संपदं वेद संपद् गुणयुक्तं----यं कामं कामयते ये एवं वेद। बृ०उ० 6/1/4

इन्द्रिय का आयतन है इस प्रकार जो मन की उपासना करता है उसे मनोनुरूप फल प्राप्त होता है।[1]

4.4.36.1 समग्र ब्रह्मोपासना

जिसका आत्मा यानी स्वरूप आकाश के समान हो उसे आकाशात्मा कहते हैं।[2] इसी प्रकार उस ब्रह्म का विशेषण सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्धा, सर्वरस है। जो इस सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाक्रहित और सम्भ्रम शून्य अर्थात् असम्भ्रम आग्रह रहित है। जो आप्तकाम नहीं है। जो इस प्रकार आप्तकाम होने के कारण नित्यतृप्त ईश्वर को कहीं भी सम्भ्रम नहीं है।[3] ब्रह्म छोटा से छोटा तथा बडा़ से बड़ा है अर्थात् अपनी इच्छानुसार वह धान व यव का रूप ले सकता है तथा अन्तरिक्ष एवं भूलोक का भी रूप धारण कर सकता है।[4] शाण्डिल्य कहते हैं कि वस्तुतः हृदयस्थित ब्रह्म तथा परब्रह्म में भिन्नता नहीं समझना चाहिए कारण इसी ब्रह्म को लोग मरणोपरान्त भी प्राप्त करते हैं ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। वही ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।[5]

4.4.37.1 वैश्वानर उपासना

'सुतेजा' सुतेजा प्राकृत वैश्वानर आत्मा का मस्तक कहा गया है, चक्षु विश्व रूप है, प्राण पृथग्वर्त्मारूप वायु है, शरीर का मध्यभाग बहुल है, बस्ति ही रयि है और पृथिवी ही चरण है। ये वाक्य विधि के लिए प्रयोग किये गये हैं। इस प्रकार कहा गया है कि उपर्युक्त प्रकार से वैश्वानर की उपासना करनी चाहिए। साथ ही वैश्वानर वेत्ता के भोजन में अग्निहोत्र को निश्चय करने की

---

1. मनोवा आयतनमाश्रय----जनानां य एवं वेद। बृ०उ०भा०मा० 6/1/5
2. आकाशात्मा, आकाश इवात्मा स्वरूपं यस्य स आकाशात्मा। छा०उ० 3/14/2
3. अनादरोऽसंभ्रमः----संभ्रमोऽस्ति क्वचित्। छा०उ० 3/14/2
4. एवं म आत्मान्त----जयायानेभ्यो लोकेभ्यः। छा०उ० 3/14/3
5. सर्वकर्मा सर्वकामः----शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः। छा०उ० 3/14/4

इच्छा से राजा कहता है – इस वैश्वानर यानी भोक्ता का वक्ष:स्थल ही आकार में समान होने के कारण वेदी, लोम कुशाएँ हैं, क्योंकि वेदी में बिछे हुए कुशों के समान वे वक्ष:स्थल पर बिछे हुए दिखायी देते हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है क्योंकि मन हृदय से ही उत्पन्न–सा होकर उसका अन्तर्वर्ती होता है, इसलिए मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है तथा आस्य–मुख आहवनीयाग्नि है। समान आहवनीय है, क्योंकि इसमें अन्न का हवन होता है।[1]

4.4.38.1 स्वाहा

स्वाहाकार होमार्थ मन्त्रों का अन्त: सूचित करने के लिये होता है।[2] उपनिषदों में भोजन अग्निहोत्रत्वसिद्धि के लिए अनेक प्रकार स्वाहाकार के माध्यम से आहुति का वर्णन किया गया है यथा–

4.4.39.1 प्राणाय स्वाहा

भोजन करते समय जो भात (अन्य) आये उससे सर्वप्रथम हवन करना चाहिए। यहाँ अग्निहोत्र की कल्पना विवक्षित है। इसलिए अग्निहोत्र की अङ्गभूत इतिकर्तव्यता सहकारी साधनों की प्राप्ति नहीं है। भोक्ता को पहली आहुति देने के संदर्भ में श्रुति मार्ग दिखलाता है कि 'प्राणाय स्वाहा' इस मन्त्र से यहाँ 'आहुति' शब्द होने के कारण अवदान प्रमाण अर्थात् जितना आवश्यक है उस मात्रा में अन्न को मुख में डाले। इस प्रकार से प्राण तृप्त होता है।[3] प्राण के तृप्त होने पर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती हैं इस प्रकार क्रमश: सूर्य, सूर्य से द्युलोक, द्युलोक के तृप्त होने पर द्युलोक और आदित्य (स्वामी भाव से) अधिष्ठित है, वह तृप्त होता है। उसकी तृप्ति होने पर स्वयं भोक्ता प्रजा, अन्नाद्य तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है।[4]

---

1. तस्य ह वै----हूयतेऽस्मिन्नन्नमिति। छा०उ० 5/20/2
2. स्वाहा स्वाहाकारो होमार्थमन्त्रान्तापनार्थ:। तै०उ० 1/4/1–2
3. तत्तत्रैवं सति यद्भक्तं भोजन----तेन प्राणस्तृप्यति। छा०उ० 5/19/1
4. प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति----तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। छा०उ० 3/19/2

4.4.40.1 व्यानाय स्वाहा

प्राण की आहुति के उपरांत 'व्यानाय स्वाहा' इस प्रकार आहुति का विधान किया गया है। इस आहुति के फलस्वरूप व्यान तृप्त होता है।[1] व्यान के तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती हैं, जब श्रोत्र तृप्त हो जाता है तो इसके प्रभाव से चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने के उपरांत दिशाएँ तृप्त (स्वामिभाव से) अधिष्ठित है वह सन्तुष्ट होता है उसके उपरातं भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है। अतः इस प्रकार स्वाहाकार से मनुष्य आत्मसंतुष्टि को प्राप्त करता है।[2]

4.4.41.1 अपानाय स्वाहा

प्राण एवं व्यान के बाद अपानाय स्वाहा इस तीसरी आहुति को देना चाहिए कारण इस आहुति से अपान तृप्त होता है।[3] एवं अपान के तृप्त होने मात्र से ही वागिन्द्रिय तृप्त होती है, वाक् के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होता है। अग्नि के तृप्त होने पर जिस किसी की भी पृथिवी और अग्नि (स्वामिभाव) अधिष्ठित है वह तृप्त होता है – तत्पश्चात् भोक्ता, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है।[4]

4.4.42.1 समानाय स्वाहा

इस प्रकार चतुर्थ प्रकार की आहुति का विधान किया गया है। यह चतुर्थ प्रकार की आहुति 'समानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देनी चाहिए। इस आहुति से समान तृप्त होता है।[5] समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने पर पर्जन्य तृप्त होता है पर्जन्य के तृप्त होने पर विद्युत् तृप्त होती है तथा विद्युत् के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित है

---

1. अथ यां द्वितीयां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति----व्यानतृप्यति। छा०उ० 5/20/1
2. व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति----तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। छा०उ० 5/20/2
3. अथ या तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानायस्वाहेत्यपानस्तृप्यति। छा०उ० 5/21/1
4. अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि----तेजसा ब्रह्मवर्चसेति। छा०उ० 5/21/2
5. अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तं जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति। छा०उ० 5/22/1

वह तृप्त होता है, एवं उसकी तृप्ति के अन्न भोक्ता पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है।[1]

4.4.43.1 उदानाय स्वाहा

पाँचवी प्रकार की आहुति स्वाहा ऐसा कहकर देना चाहिए, इस आहुति से उदान तृप्त होता है।[2] जब उदान तृप्त हो जाता है तो त्वचा भी तृप्त हो जाती है, त्वचा के तृप्त होने पर तृप्त होती है, वायु के तृप्त होने पर आकाश तृप्त होता है तथा आकाश के तृप्त होने पर जिस किसी पर वायु और आकाश (स्वामिभाव) से अधिष्ठित हैं, वह तृप्त होता है, उसकी तृप्ति के पश्चात् स्वयं भोक्ता पशु, अन्नाद्य और ब्रह्म तेज के द्वारा तृप्त होता है।[3] इस प्रकार उपर्युक्त पांचों आहुतियों– सम्पूर्ण ब्रह्मरूप की तृप्ति संभव हो जाती है अर्थात् इस प्रकार उपासना का उपसक मनोवांछित फल प्राप्त कर लेता है।

4.4.44.1 होम

देवता के उद्देश्य से वस्तु में स्वत्व त्यागना गया है। उसी में जब 'आहुति देना' इतना कर्म अधिक होता है तो उसे होम कहते हैं।[4] इस आहुति के फलस्वरूप ब्रह्म के विभिन्न रूपों को तृप्त कर मनुष्य अपने आपको तृप्त करने में समर्थ होता है। अब यहाँ अविद्वान् तथा विद्वान् के हवन के स्वरूप को व्याख्यायित किया जा रहा है।

4.4.45.1 अविद्वान् के हवन का स्वरूप

वह जो वैश्वानर विद्या को न जानकर हवन करता है, उसका हवन उसी प्रकार का है जिस प्रकार अङ्गारों हो हटाकर भस्म में हवन करे। तात्पर्य यह है कि हवन करने से पूर्व वैश्वानर की उपासना तथा उसका ज्ञान अपेक्षित है तभी हवन रूपी मार्ग प्रशस्त होता है जिस प्रकार अग्नि हवन का मुख कहा

---

1. समाने तृप्यति मनस्तृप्यति----तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ छा०उ० 5/22/2
2. अथ यां पंचमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति। छा०उ० 5/23/1
3. उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति----तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति। छा०उ० 5/23/2
4. यागोदेवतामुद्दिश्य स्वत्व परित्यागः, स एव आसेचनाधिको होमः। बृ०उ० 1/4/16

जाता है जिस प्रकार अन्न मुँह में खाकर विभिन्न अंगों तक यह पहुँचता है, उसी प्रकार वैश्वानर की उपासना के उपरांत ही हवन का उद्देश्य सार्थक होता है।[1]

4.4.46.1 विद्वान् के हवन का फल

अग्निहोत्र के स्वरूप को जानकर जो व्यक्ति अग्निहोत्र करता है, उसके द्वारा समस्त लोक, भूत एवं आत्मा में हवन हो जाता है। इसमें एक दृष्टांत है कि जिस प्रकार सींक का तुल–अग्रभाग में पर तुरन्त ही जल जाता है उसी प्रकार सबके अन्तरात्मभूत और समस्त अन्नों के भोक्ता इस विद्वान् के अनेकों जन्मों में संचित हुए तथा इस जन्म में ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व और ज्ञान के साथ–साथ होने वाले धर्माधर्मसंज्ञक समस्त निःशेष पाप दग्ध हो जाते हैं, केवल वर्तमान शरीर के आरम्भ करने वाले पाप रह जाते हैं। क्योंकि लक्ष्य के प्रति छोड़े हुए बाण के समान फल देने में प्रवृत्त हो जाने के कारण उनका दाह नहीं हो सकता। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार के वैश्वानर के स्वरूप को जानकर जो हवन करता है, उसे उपर्युक्त फल प्राप्त होता है।[2]

4.4.47.1 अस्पर्शयोग

जिस योग का कभी किसी से स्पर्श या संबध नहीं होता उस योग को अस्पर्शयोग कहते हैं। वह ब्रह्म का स्वभाव ही होता है। यह योग समस्त प्राणियों के लिये कल्याणकारक हुआ करता है। वस्तुतः कुछ विषय जो अत्यंत सुखसाधन विशिष्ट होते हुए भी दुःख रूप हुआ करता है जैसे तप आदि किन्तु यह समस्त प्राणियों के लिये केवल सुखदायक एवं हितकारक हुआ करता है।[3]

---

1. स यः कश्चिदिदं वैश्वानरदर्शनं––––वेश्वानरविदोऽग्निहोत्रं स्तूयते। छा०उ० 5/24/1
2. तद्यथेषीकायास्तुलमग्रमग्नौप्रोतं––––विद्वानग्निहोत्रं जुहोति मुङ्क्ते। छा०उ० 5/24/3
3. स्पर्शनं स्पर्शः संबंधो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव। मा०उ०/अ०शा०प्र० /2

4.4.48.1 अनाग्रयण

शरद आदि ऋतु में अन्न के प्रथमोत्पन्न होने पर आग्रयण कर्म किया जाता है। यह कर्म अग्निहोत्र के लिये आवश्यक नहीं है अतः यहाँ अग्निहोत्र में विधि पूर्वक हवन नहीं करने के कारण इसे अनाग्रयण कर्म कहा गया है।[1]

4.4.49.1 आयुष्मान्

देवगण अमृत ज्योति की आयुरूप गुण के कारण उपासना करते हैं, अतः आयुष्मान् कहे गए हैं।[2] तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को आयु की इच्छा है वह ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे।

4.4.50.1 आलम्बन

ब्रह्मोपासना के साधानार्य होने के कारण जो 'ऊँ' शब्द को प्रयोग किया जाता है, उसे श्रेष्ठ आलम्बन कहते हैं। इस आलम्बन को उत्कृष्ट आलम्बन कहते हैं[3] और इस प्रकार 'ऊँ' का उच्चारण कर चित्त को शुद्ध करना चाहिए एवं 'ऊँ' इस शब्द के द्वारा परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए, 'ऊँ', इस प्रकार आत्मा करो, इत्यादि श्रुतियों से सह सिद्ध होता है।

4.4.51.1 उपसद्व्रत

जो व्रत उपसदों में किया जाता है, ज्योतिष्टोम याग में उपसद् नाम की इष्टियाँ प्रसिद्ध हैं। उसमें स्तनों के उपचय-उपचय के द्वारा दुग्ध का आहार किया जाता है, ऐसे व्रत को उपसद्व्रत कहा जाता है।[4] इस प्रकार व्रत कर मनुष्य याग-क्रिया में अपने कर्मो के अनुसार मनोवांछित फल को प्राप्त कर सकता है।

---

1. अनाग्रयणमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते यस्य----सम्यगग्निहोत्र कालेऽहुतम्। मु०उ० 1/2/3
2. आयुर्गुणेन यस्माद् देवतास्तद् ज्योतिरूपास्ते, तस्मादायुष्मान्----ब्रह्मेत्यर्थः। बृ०उ०शा०भा० 4/4/16
3. एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम----इत्यादेः बृ०उ० 5/1/1
4. उपसतसुव्रतम् उपसदः प्रसिद्धा ज्योतिष्टोमे। तत्र च स्तनोपचयापचय द्वारेण पयोभक्षणं तदव्रतम्। बृ०उ० 1/4/7

4.4.52.1 उपास्य

'अकृत्स्नो ह्येषोंऽतएकैकेनभवति' इस वाक्य से प्राणादि एक-एक क्रिया से विशिष्ट आत्मा को सम्पूर्ण बतलाना व्यर्थ होगा। अतः सिद्ध है कि जो एक-एक क्रिया से विशिष्ट नहीं है, वह आत्मा तो पूर्ण होने के कारण उपास्य ही है।[1] इस आत्मा की उपासना विभिन्न रूपों में किया गया है जिसका उल्लेख पुर्व किया जा चुका है। जिसके फलस्वरूप मानव विभिन्न प्रकार के फलों को प्राप्त करता है।

4.4.53.1 कर्म

संसार-बंधन को प्राप्त और मुक्त हुए देह और इन्द्रियों का अपने कारण से संसर्ग होना, यह समान होते हुए भी मुक्त पुरुषों को उनका पुनः सर्वथा अग्रहण होता है, और जिसकी प्रेरणा से संसार में आने वाले पुरुषों को उनका पुनर्ग्रहण होता है, कर्म है।[2] कर्म दो प्रकार के बतलाए गए हैं पुण्यकर्म, पापकर्म। 'पुण्यकर्म' से पुण्य शरीरयुक्त होता है और पाप कर्म से पाप शरीर युक्त होता है। पाप कर्म के कारण मनुष्य दुःख का भागी होता है। यथा पापकर्म से स्वभावतः ही दुःख की अधिकता है, उन नरक, तिर्यक एवं प्रेतादि स्थावर जङ्गम योनियों में पुनः-पुनः जन् और मरण को प्राप्त होता हुआ दुःख का अनुभव करता है। साथ ही पुण्य कर्म से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है तथा श्रुति-स्मृतियों के द्वारा मनुष्य पुरुषार्थ को प्राप्त करता है और जितनी ही पुण्य की उत्कृष्टता होती है उतनी ही पुण्य उत्कृष्ट फल को प्रदान करती है।

4.4.54.1 काम्यकर्म

जिस कर्म में अपने एषणा रूप की कामना की जाती है उस कर्म को काम्यकर्म कहा जाता है। यथा (आदि पुरुष) ने इच्छा की थी कि मेरी पत्नी

---

1. अतोऽनेनैकविशिष्टस्त्वात्मकृत्स्नत्वादुपास्य एवेति सिद्धम्। बृ०उ० 1/4/7
2. संसरतां मुच्यमानानां च कार्यकरणानां स्वकारसंसर्गे समाने मुक्तानामत्यन्तमेव पुनरनुपादानम्, संसरतां तु पुनः पुनरुपादानं येन प्रयुक्तानं भवति, तत्कर्म इत्यवधारितं विचारपूर्वकम्। बृ०उ० 3/3 (याज्ञवल्क्य-भृगुसंवाद)

हो, इत्यादि कथन से ये दोनों (साध्य-साधनरूप) एषणाएं ही हैं इस प्रकार इससे यही होता है कि पुत्र, वित्तादि पाङ्क्तलक्षण कर्म काम्य ही हैं।[1]

4.4.55.1 तत्क्रतु

काममय होकर कामना से युक्त अर्थात् यथा काम होने की स्थिति को तत्क्रतु कहते हैं। जो अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करता है वह व्यक्ति तत्क्रतु कहलाता है। इस प्रकार से कर्म करने पर वह तत्क्रतु अपने इच्छानुरूप फल को निश्चित रूप से प्राप्त करने में समर्थ होता है।[2]

4.4.56.1 तपः

अपने आश्रम-विहित कर्म का नाम तप है। अत: तप से तात्पर्य यह है कि विभिन्न आश्रमों में कौन-कौन से तथा किस प्रकार से कर्म अपेक्षित हैं उस कर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर उसके अनुरूप जब कर्म किया जाता हो तो उस कर्म को तप कहते हैं।[3]

4.4.57.1 त्वाष्ट्रमधु

यज्ञ के शिर काटे जाने पर वह त्वष्टा हो गया उनके प्रतिसन्धान जोड़ने के लिए प्रवर्ग्य कर्म है। वहाँ प्रवर्ग्यकर्म का अङ्गभूत जो विज्ञान है, वही त्वाष्ट्रमधु है।[4] साथ ही यज्ञ के शिरोच्छेदन के प्रतिसन्धानादि से दर्शन है, वही त्वाष्ट्रमधु है।[5]

---

1. ''सोऽकामयत जाया मे स्यात्'' (बृ०उ० 1/4/7) इत्यादीनां पुत्रवित्तादि पाक्तलक्षणं काम्यमेवेत्ति उभे ह्येते एषणे एव बृ०उ० 3/5/1 4/4/22 इति वाजसनेयि ब्रह्मणेऽवधारणात्। ऐ०उ० 1/1
2. यस्मात् स च काममय: सन् यादृशेन कामेन यथा कामो भवति, तत्क्रतुर्भवति। बृ०उ० श०भा० 4/4/5
3. तप: स्वाश्रमविहितं कर्म। मु०उ० 1/2/11
4. यज्ञस्य शिरश्छन्नं त्वष्टाभवत् तत्प्रतिसन्धानार्थ प्रवर्ग्य कर्म। तत्र प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं यद् विज्ञानतत्वाष्ट्रंमधु। बृ०उ० 2/5/17
5. यज्ञस्य शिरश्छेदन प्रतिसन्धानादिविषयं दर्शनं तत्वाष्ट्रयन्मधु। बृ०उ० 2/5/17

4.4.58.1 देवरथाह्न

देव के रथ की गति से एक दिन में संसार का जितना भाग मापा जाता है, उतना देवरथाह्न कहलाता है। अर्थात् इस लोक में बत्तीस देवरथाह्न हैं। सूर्य को यहाँ देव कहा गया है तथा उसका रथ देवरथ है तथा सूर्य के रथ के माध्यम से दिन में जितनी दूरी तय की जाती है उसे देवरथाह्न कहा जाता है।[1]

4.4.59.1 दीक्षा

मौञ्जीबंधन आदि यज्ञकर्त्ता के नियम विशेष अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण यज्ञ दीक्षा है।[2] अर्थात् यज्ञ के समय यजमान को अर्थात् यज्ञकर्त्ता को मौञ्जी आदि को धारण करवाया जाता है जो यज्ञोपरांत उतार लिया जाता है वह मौञ्जी-बंधन अग्निहोत्र आदि यज्ञ में आवश्यक होता है जिसकी अनुपलब्धि में उचित फल दुर्लभ होता है।

4.4.60.1 प्रतिपद्

जो कर्म करके अर्थात् यथा विशिष्ट कर्म करके देवयान या पितृयान मार्ग को प्राप्त होते हैं, वह कर्म 'प्रतिपद्' कहलाता है।[3] अर्थात् यह प्रतिपद् ऐसा मार्ग है जो पितृलोक तथ देवलोक को जाता है और इस मार्ग का अनुसरण कर आसानी से उस पितृलोक तथा देवलोक को प्राप्त कर सकता है।

4.4.61.1 प्रणयन

गार्हपत्याग्नि को ही प्रणयन कहते हैं क्योंकि अग्निहोत्र के समय गार्हपत्य अग्नि से ही आह्वनीय अग्नि (जिसमें हवन किया जाता है) अथवा सम्पन्न होता

---

1. देवरथस्तस्य यथरय अह्नहा यावत् परिच्छिद्यते देशपरिमाणं तद् देवरथाह्नयम्। बृ०उ० 3/3/2
2. दीक्षा मौञ्ज्यादिलक्षण कर्त्तृनियमविशेषः यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः। मु०उ० 2/1/6
3. यत् कर्मं कृत्वा यथाविशिष्टं कर्मं कृत्वेत्यर्थः, देवयानं वा पन्थानं मार्गे प्रतिपद्यन्ते, पितृयाणं वा यत् कर्म कृत्वा प्रतिपद्यन्ते तत् कर्म प्रतिपदुच्यते। बृ०उ०शा०भा० 6 2/2

है, अतः प्रणयन किये जाने के कारण प्रणीयतेऽस्मात् इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसे प्रणयन कहा गया।[1] इस प्रकार इसी गार्हपत्याग्नि में अग्निहोत्र यज्ञ के समय हवन करके हविदान देकर तथा उस हवि के माध्यम से अभीष्ट देवता को सन्तुष्ट करके यजमान खुद को सन्तुष्ट करता है।

4.4.62.1 यजमान

यज्ञकर्त्ता तथा उसके कर्मफलस्वरूप जो लोक में उत्पन्न हुए हैं, वे यजमान हैं।[2] अर्थात् यज्ञ करते समय दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, एक वह जो यज्ञ का सम्पादन करता है तथा एक दूसरा जो यज्ञ सम्पादनार्थ नियमों आदि की व्याख्या करता है। पहला यजमान होता है और दूसरे को पुरोहित कहा जाता है।

4.4.63.1 यजुः

स्वाहा, स्वधा, वषट् आदि सम्पूर्ण वाक्य ही यजुः है।[3] इस प्रकार उपर्युक्त यजुः के माध्यम से यजमान क्रमशः आधिभौतिक, अधिदैविक तथा आध्यात्मिक देवों को हविदान व आहुति देकर उसे सन्तुष्ट कर अपने को सन्तुष्ट करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि हमें जिस वस्तु की कामना होती है उसी कामना के अनुरूप देवता का चयन करके हविदान करने का विधान उपनिषदों में सुझाया गया है अतः तथाविध उपासना करके हम मनोवांछित फल प्राप्त करते हैं।

4.4.64.1 यज्ञ

जो चलता हुआ इस सम्पूर्ण जगत् को पवित्र कर देता है, वह यज्ञ है।[4] अर्थात् यज्ञ के माध्यम से ही जगत् की पवित्रता संभव है इस यज्ञ में जगत् के

---

1. यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकालइतरोग्निः आह्वनीयः प्रणीयते प्रणयनात् प्रणीयतेऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्योग्निः। प्र०उ०शा०भा० 4/3
2. यजमानश्चकर्त्ता लोकास्तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते। मु०उ० 2/1/6
3. यजुः स्वाहास्वधावषडादि। छा०उ० 1/7/5
4. यद्यस्माच्च यन्नेष इदं सर्वं पुनाति यस्मादेष एवं यज्ञो यत्पुनातीति। छा०उ० 4/16/1

विभिन्न स्तम्भों को पवित्र किया जा सकता है तथा पञ्चमहायज्ञ करके इस जगत् को पवित्र किया जा सकता है। इसके साथ ही आचार्य शङ्कर कहते हैं कि पुरुष प्रातः सवनरूप से निष्पन्न हुई चौबीस वर्ष की आयु से युक्त है। इस प्रकार से विधियज्ञ से सदृशता होने के कारण वह यज्ञ है।[1] साथ ही कहा गया है कि प्राण और अपान इन दोनों के योग से जिनका परिचालन होता है उन वाणी और मन का जो पूर्वापर क्रम है वही यज्ञ है।[2] और भी जिनमें यूप का संबन्ध होता है वे देवतादि विहित कर्म यज्ञ कहलाते हैं।[3]

4.4.65.1 याज्या

याग के लिये ऋचाओं की महत्त्वपूर्णा भूमिका होती है अर्थात् ऋचाओं के माध्यम से हम अभीष्ट देवता को हविदान कर सन्तुष्ट करते हैं और जो ऋचाएँ याग के लिए प्रयुक्त होती हैं वह ऋचा याज्या कहलाती है।[4]

4.4.66.1 सर्वकाम

सम्पूर्ण दोषरहित काम उस परमात्मा के ही हैं, इसलिए वह सर्वकाम है।[5] अर्थात् जो मनुष्य दोषयुक्त कर्म में लीन रहकर उस तत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसकी इच्छा सर्वथा विफल होती है, वहीं दूसरी ओर दोषरहित कर्म से परमात्मा की उपासना करता है तो निश्चित रूप से परमात्मभाव को प्राप्त होता है।

---

1. प्रातः सवन सम्पन्नेन चतुर्विंशतिवर्षायुषा युक्त पुरुषः अतोविधि यज्ञ सादृश्याद्यज्ञः। छा०उ० 3/16/1
2. प्राणापानपरिचलनवत्या हि वाचश्चित्तस्य चोतरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः। छा०उ० 4/16/1
3. देवयज्ञादयो युप संबन्धारहित विहित क्रियाश्च यज्ञाः श्वे०उ० 49
4. यागार्थं याः प्रयुज्यन्ते ऋचः सा ऋग्जातिर्याज्या। बृ०उ० 3/1/7
5. सर्वकामः सर्वे कामा दोषरहिता अस्येति सर्वकामः। धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। (गीता– 7/11) इति स्मृतेः। छा०उ० 3/4/2

4.4.67.1 स्मृति

स्मरण, संङ्कल्प, शुक्ल, कृष्णादि भाव से रूपादि का सङ्कल्प करना ही स्मृति है।[1] इस स्मरण सङ्कल्पादि स्मृति के द्वारा ही मनुष्य सत्य का अवलोकन करने में समर्थ होता है।

4.4.68.1 सप्ताङ्ग

अग्निहोत्र कल्पना में अंगभूत होने के कारण आह्वनीय अग्नि उसके मुखरूप से बतलाया गया है। इस प्रकार जिसके सात अङ्ग होते हैं उसे ही सप्ताङ्ग कहते हैं। इनके क्रमशः सभी अंगों का अलग-अलग रूप से आवाहन करके एवं उसके माध्यम से देवता को हवि देकर हम अभीष्ट फल को प्राप्त करते है।[2]

4.4.69.1 साध

समस्त अवयवों ये युक्त पाञ्चभक्तिक और साप्तभक्तिक साम की उपासना साध है।[3]

4.4.70.1 हिंकार

आवृत्तिकालिक अधोमुख लोकों में पञ्चविध उपासना क्रम में द्युलोक की उपासना करते हुए उसे हिंकार कहा गया है कारण गमन और आगमन काल में जिस प्रकार से वे स्थित हैं उसी दृष्टि में उसका सामोपासना का विधान किया गया है। अतः आगमन काल में उन अधोमुख लोकों में प्रथम होने के कारण द्युलोक हिंकार है।[4]

---

1. स्मृति स्मरणदम्, संकल्पः शुक्लकृष्णादिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्। ऐ०उ० 3/1/2
2. इत्यग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येव सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः। मा०उ०/गौ०प०का० /3
3. समस्तस्यसर्वावयविशिष्टस्य पाञ्चभक्तिकस्य साप्तभक्तिकस्य चेत्यर्थः। खल्विति वाक्यालंकारार्थः साम्न उपासनं साध। छा०उ० 2/1/1
4. तथा दृष्ट्यैव सामोपासनं विधीयते यतः अति-आवृतेषु लोकेषु द्यौर्हिंकारः प्राथम्यात्। छा०उ० 22/2

4.4.71.1 होता

यजमान को होता कहते हैं, वाणी ही अधियज्ञ में यजमान का होता है। इस प्रकार की यहाँ जो यज्ञ यानी यजमान की वाणी है, वही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। उस इस अग्नि की त्र्यन्न प्रकरण में व्याख्या की गयी है तथा 'अग्नि ही होता है' इस श्रुति के अनुसार भी अग्नि को ही होता कहा गया है। कारण यज्ञ में अग्नि की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है और वही यज्ञ सम्पादन में माध्यम का कार्य करती है उसकी मध्यस्थता में यज्ञ–कार्य का सम्पादन होता है। अतः अग्नि को होता कहा गया है।[1]

4.4.72.1 होतृषदन

जहाँ स्थित होकर होता शंसन कर्म करता है, उस स्थान का नाम होतृषदन कहते है। अर्थात् यहीं पर स्थित होकर यजमान या होता होम आहुति इत्यादि का निष्पादन कर देवतादि को प्रसन्न कर अपने इच्छानुरूप फल को प्राप्त करते हैं।[2]

4.4.73.1 त्रिवर्त्मा

सत्वादि तीनों गुण इसी के हैं, अतः यह त्रिगुण है। इसके देवयानादि तीन मार्ग भेद हैं अथवा धर्म–अधर्म और ज्ञानरूप इसके तीन मार्ग हैं। अतः इसको त्रिवर्त्मा कहते हैं।[3]

---

1. यज्ञस्य यजमानस्य गा वाक् सैव होताधियज्ञे। कथम्? तत्त्रयेयं वाग्यज्ञस्य यजमानसोऽयं प्रसिद्धोऽग्निरधिदैवतम् तदेतत् त्र्यन्न प्रकरणे व्याख्यातम्। स चाग्निर्होता 'अग्निर्वैहोता' इति श्रुतेः। बृ०उ० 3/1/3
2. होतृषदनाद्धोतायत्रश्च शंसति तत्स्थान होतृषदन होत्रात्कर्मणः। छा०उ० 1/5/5
3. त्रयः सत्त्वादयो गुणा अस्येति त्रिगुणः। त्रयो देवयानादयोमार्गभेदा अस्येति त्रिवर्त्मा धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति वा। श्वे०उ० 5/7

पंचम अध्याय

प्रकीर्ण पारिभाषिक शब्द

प्रकीर्ण पारिभाषिक शब्द के अन्तर्गत ऐसे शब्दों को लिया गया है, जिनको उपर्युक्त विषय–विभाजन के आधार पर किसी भी शीर्षक में नहीं रखा जा सकता, किन्तु दार्शनिक व्याख्यान में जिनका प्रयोग विशेष अर्थ में होता है और जो उपनिषदों के शाङ्कर भाष्य में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण स्वरूप – 'किनाट'[1] को लिया जा सकता है वस्तुतः किनाट वृक्ष में शकलों के भीतर काठ से लगी हुई छाल को कहते हैं। जिस प्रकार पुरुष की शिराएँ होती है तथा वह दृढ़ हुआ करती हैं उसी प्रकार वह पुरुष की शिराओं के समान दृढ़ है। साथ ही वह पुरुष की शिराओं के भीतर अस्थियों के समान किनाट के भीतर काठ हुआ करता है। इस तरह यहाँ सिद्ध है कि अस्थि से जिस प्रकार चमड़े को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार काठ से छाल को अलग नहीं किया जा सकता। अतः यहाँ इसमें अद्वैत सम्बन्ध है। ठीक उसी प्रकार 'कप्यास'[2] शब्द को भी इस शीर्षक में लेकर अध्ययन किया गया है। कपि बंदर को कहा जाता है उसके आस अर्थात् बैठने के स्थान को 'कप्यास' कहते हैं। 'उपवेशन' बैठने के अर्थ के वाचक 'आस्' धातु के कारण में घञ् प्रत्यय होने पर 'आस' शब्द होता है, अर्थात् 'कप्यास' का अर्थ बन्दर के पीठ का अन्तिम भाग गुदा है जिससे वह बैठता है। यहाँ पुण्डरीक को कप्यास से उपमित किया गया है और नेत्रों को पुण्डरीक की उपमा दी गयी है। इस प्रकार उपमितोपमान के कारण हीनोपमा नहीं है। उपनिषदों में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन वर्णक्रम से यहाँ प्रस्तुत है–

---

1. बृ०उ० 3/9/3
2. छा०उ० 1/7/6

5.1.1 अकथ्यम्

जो कहा न जा सके, क्योंकि उसका विषय अत्यन्त असाधारण है।[1] सामान्य विषय में मानव सोचकर कुछ कह सकता है, परन्तु असामान्य वस्तु (ब्रह्म) के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह मन तथा अन्य इन्द्रियों का गोचर नहीं है। इसलिए भाषा का विषय भी नहीं बन सकता।

5.2.1 अकृता

किसी के द्वारा सम्पादन न की हुई, जिस प्रकार जल की प्रकृति निम्न प्रदेश की ओर जाने की है।[2] अर्थात् उसको बहाने में किसी व्यक्ति विशेष का योगदान नहीं है। वह स्वत: ही ऐसा है। जल को ऊपर से नीचे लाने के लिये किसी मध्यस्थता की जरूरत नहीं होती बल्कि स्वभावत: ही वह नीचे आता है।

5.3.1 अतिवादी

जिसका स्वभाव सबको अतिक्रमण करके बोलने का होता है। उसे अतिवादी कहते हैं।[3] अर्थात् अतिवादी उसे कहा गया है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानते हुए असत्य प्रलाप करता है। वही दूसरी ओर जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह भला किसका अतिक्रमण कर बोलेगा?

5.4.1 अनविप्रयुक्ता

जो अविप्रयुक्ता नहीं है वे ही अनविप्रयुक्ता कहलाती है।[4] विप्रयुक्ता एवं अविप्रयुक्ता का उल्लेख आगे किया गया है। ओंङ्कार की तीन मात्राएँ (पृथक्–पृथक् रहने पर) मृत्यु से युक्त हैं वे (ध्यान–क्रिया) में प्रयुक्त होती

---

1. तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम्, अत्यन्तासाधारणविषयत्वात्। मा०उ०/अद्वैत प्र०/47
2. अकृता केनचिन्नकृता यथापरं निम्नदेशमानादि लक्षण/ मा०उ०/अ०शा० प्र०/9
3. अतिवहाद्यतीत्य सर्वानन्यान् वदितुशीलमस्येत्यतिवादी। मु०उ० 3/1/4
4. नविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ता। प्र०उ० 5/6

हैं और परस्पर सम्बद्ध तथा जिनका अनविप्रयुक्ता, जिनका विपरीत प्रयोग न किया गया हो ऐसा है।

5.5.1 अनीशा

मैं किसी कार्य के लिये समर्थ नहीं हूँ मेरा पुत्र नष्ट हो गया है, और स्त्री भी मर गई, अब मेरे जीवन से क्या लाभ इस प्रकार के दीनभाव के दीनभाव को अनीशा कहते हैं।[1] इससे युक्त होकर मनुष्य अविवेकिता की स्थिति में अनेक प्रकार के दु:खों से घिरकर सन्ताप करता है।

5.6.1 अमना

जिसमें ज्ञानशक्ति के अनेकों भेदवाला सङ्कल्पादि रूप मन भी न हो इस प्रकार प्राण और मन रहित ही जो भासता है वह अमना कहलाता है।[2] वस्तुत: यह अक्षर ब्रह्म का विशेषण है। प्राणादि, वायुभेद, कर्मेन्द्रियां और उनके विषय तथा बुद्धि, मन ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय इससे प्रतिषिद्ध समझना चाहिए यह श्रुति[3] से सिद्ध होता है।

5.7.1 आदि

जो कुछ 'आ' ऐसा शब्दरूप है वह आकार में समता होने के कारण आदि है। आदि यह ओंङ्कार का वाचक है। क्योंकि वही सबका आदि है।[4] ब्रह्म सभी का आदि है अर्थात् ब्रह्म से सम्पूर्ण संसार की निष्पत्ति हुई है। इसलिए इस ब्रह्म का वाचक ओङ्कार को आदि कहा गया है।

---

1. अतोऽनीशया न कस्यचित् समर्थोऽहं पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमान:। मु०उ० 3/1/2
2. अमना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्सङ्कल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयम् अमना:। मु०उ० 2/1/2
3. 'ध्यायतीव लेलायतीव' बृ०उ० 4/3/7
4. यत् आ इति स आदि:, आकारस्यसामान्यात् आदिरित्योङ्कार: सर्वादित्वात्। मु०उ० 2/8/1

5.8.1 आप

जो लोक पृथिवी से नीचे की ओर हैं वे 'आप' कहलाते हैं, क्योंकि अप शब्द नीचे के लोकों में रहने वाले प्राणियों द्वारा प्राप्य होने के कारण प्राप्तिरूप (अर्थवाले) आप् धातु से बना हुआ है। यद्यपि अम्भ, मरीचि, मर और आप (जल) की अधिकता होने के कारण 'आप' ही कहे जाते हैं।[1]

5.9.1 आय

आगमन का नाम 'आय' है अर्थात् 'अन्न की प्राप्ति' है, वह जिससे होती है, उसे अन्न का आयी कहते हैं।[2] आय के उपरांत ही अन्न की प्राप्ति संभव है, कारण उसके आये बिना हम अन्न आदि का सुख भोग नहीं सकते।

5.10.1 आवसथ

(धर्मशाला) जहाँ आकर यात्री ठहरते हैं आवसथ कहलाते हैं।[3] आवसथ समस्त गाँव और नगरों में बनवाये जाते हैं। जहाँ आकर लोग दिनभर के कार्यों से उत्पन्न थकावट को दूर करते हैं। आकर आराम करने के करण इसको आवसथ कहा गया है।

5.11.1 उषा

ब्राह्ममुहूर्त का नाम उषा है।[4] इस उषा को मेधार्ह (यज्ञार्ह) यानी सम्बन्धी अश्व का शिर है। शिर वस्तुतः शरीर में प्रधान होता है अतः दिन के महत्वपूर्ण काल का नाम उषा दिया गया है।

---

1. या अद्यस्तात् पृथिव्यास्ता आप उच्यन्ते; आप्नोतेः, लोकाः। यद्यपि पञ्चभूतात्मकत्वं लोकानां तथाप्यब्बा हुल्यादब्नाममिरेवाम्भोमरीचिर्मरमाप इत्युच्यन्ते। ऐ०उ० 1/1/2
2. आगमनायोऽन्नस्य प्राप्तिरित्यर्थेः सा यस्य विद्यते सोऽन्नस्यायी। छा०उ० 7/9/1
3. आवसथानेत्य वसन्ति येष्वियावसथास्तान्मापयाञ्चक्रे कारितवानित्यर्थः। छा०उ० 4/1/1
4. उषा इति, ब्राह्मो मुहूर्त उषाः। बृ०उ० 1/1/1

5.12.1 उक्षा

गर्भाधान में समर्थ साँड को उक्षा कहते हैं। उसी के समान शक्तिशाली होने के कारण औषधि विशेष का नाम भी उक्षा है।[1] 'उक्षा' शब्द के कोष में दो प्रकार के अर्थ मिलते हैं। कलकत्ता से प्रकाशित 'वाचस्पत्य' नामक बृहत् संस्कृताभिधान में उसे अष्टवर्गान्तर्गत 'ऋषभ' नामक औषधि का पर्याय माना गया है– 'ऋषी औषधौ च' प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्स ने अपने बृहत् संस्कृत–अंग्रेजी कोष में इसे 'नामक' पौधे का पर्याय माना है।

5.13.1 किनाट

वृक्ष के किनाट होते हैं, किनाट उसे कहते हैं, जो शकलों के भीतर काठ से लगी हुई छाल होती है, वह पुरुष की शिराएँ हैं। वह स्थिर है अर्थात् वह किनाट शिराओं के समान दृढ़ है। जिस प्रकार पुरुष की शिराओं के भीतर अस्थियाँ होती हैं, इसी प्रकार किनाट के भीतर काष्ठ होता है।[2]

5.14.1 कप्यास

कपि मर्कट (बंदर) के आस का नाम कप्यास है। उपवेशन (बैठने) अर्थ के वाचक 'आस्' धातु के करण में 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'आस' शब्द सिद्ध होता है। अतः 'कप्यास' का अर्थ वानर की पीठ का अन्तिम भाग (गुदा) है, जिससे कि वह बैठता है यहाँ पुण्डरीक को 'कप्यास' से उपमित किया गया है और नेत्रों को पुण्डरीक की उपमा दी गई है, इस प्रकार उपमितोपमान होने के कारण यह हीनोपमा नहीं है।[3]

---

1. अक्षा सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम्। वृ०उ० 6/4/18 p–1353
2. किनाटं वृक्षस्य, किनाटं नाम शकलेभ्योऽभ्यन्तरं वल्कलरूपं संलग्नम्, तत् स्नाव पुरुषस्य; तत् स्थिरम्–तच्च किनाटं स्नाववद् दृढ़ं हि तत्; अस्थीनि पुरुषस्य, स्नाव्नाऽन्तरतोऽस्थीनि भवन्ति तथा किनाटस्याभ्यन्तरतो दारूणि काष्ठानि भवन्ति। बृ०उ० 3/9/3
3. यथा कपेर्मकटंस्यासः कप्यासः कप्यासः, आसेरुपवेशनार्थस्यकरणे घञ् कपिपृष्ठान्तो येनोपविशति। कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्ततेजस्वि, एवमस्य देवस्याक्षिणी उपमितोपमानत्वान्नहीनोपमा। छा०उ० 1/6/7

5.15.1 तिरश्चीनवंश

जो तिरश्चीन (तिरछा) हो और वंश (बांस) हो उसे तिरश्चीनवंश (तिरछा बांस)[1] कहते हैं। द्युलोक तिरछा रहने के कारण इस तिरछे बांस से अन्तरिक्ष लोक में स्थित मधु को इसके माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

5.16.1 नाक

'क' सुख को कहते हैं उसका प्रतिषेधक 'अक' है, वह जिसमें न हो उसे नाक कहते हैं।[2] सुख की जहाँ अनुपस्थिति हो ऐसे स्थान को नाक शब्द से बतालाया गया है। नाक यहाँ जगत् से अभिप्रेत है, कारण जगत् में रहते हुए वास्तविक सुख को नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

5.17.1 निधन

जो कुछ 'नि' ऐसा शब्दरूप है, वह निधन है। क्योंकि नि और निधन में 'नि' शब्द की समानता है।[3] सप्तविध वाणी विषयक सामोपासना में निधन भी एक है, जिसके द्वारा की उपासना की गई है।

5.17.2 सूर्यास्त से पूर्व अर्थात् सूर्य जब अदृश्य होना चाहता है, उस समय का जो रूप होता है वह निधन है।[4] उसके इस रूप से पितृगण कारण है, इसी में निहित रहकर पिता, पितामह और प्रपितामह रूप से उन्हें दर्भो पर स्थापित करके पिण्डदान किया जाता है।

---

1. तिरश्चीनश्चासौ वंशश्चेति तिरश्चीनवंश:। छा०उ० 3/1/1
2. नाकं कमिति सुखं तस्य प्रतिषेधोऽकं तन्न भवतीति नाकं कमेवेत्यर्थ:, अमृत्युविषयत्वात्। छा०उ० 2/10/5
3. यन्नीति तन्नीति निशब्दसामान्यात्। छा०उ० 2/8/2 p–171
4. यत्प्रथमास्तमितेऽदर्शनं जिगमिषति सवितरि तन्निधनम्। छा०उ० 2/9/8

5.18.1 निनद

कानों को इस प्रकार मूंदकर–अङ्गुलियों से बंदकर निनद के समान रथ के घोष को 'निनद' कहते हैं।[1]

5.18.1 निष्काल

जिससे सभी कलाएँ निकल गयी हों उसे निष्कल कहते हैं।[2] अविद्यादि सम्पूर्ण दोषरूप मल से रहित ब्रह्म विराजमान हैं, वह सबसे बड़ा तथा सर्वरूप है, अतः उन्हें ब्रह्म कहा गया है। वह ब्रह्म निष्काल है। ब्रह्म को निष्काल कहने का तात्पर्य है कि वह निरवयव अर्थात् दोषरहित तथा अविद्यारहित है।

5.20.1 पितृमान

जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाला पिता है, वह पितृमान कहलाता है।[3] ऐसा पुत्र जिसका पिता अनुशासन के लिये विद्यमान हो, अर्थात् सम्यक् प्रकार से उसकी देखभाल करने वाला हो ऐसा पुत्र पितृमान कहलाता है।

5.21.1 पुत्र

जो पिता द्वारा नहीं किये हुए लोक प्राप्ति प्रतिबन्ध स्वरूप उस समस्त कर्त्तव्यतारूप (बन्धन) से उस सबका स्वयं अनुष्ठान करते हुए पूर्ति करके पिता को मुक्त करा देता है। अतः वह पुत्र, क्योंकि पूर्ति द्वारा पिता का त्राण कराता है, इसलिए 'पुत्र' है। पुत्र का पुत्रत्व यही है कि वह पिता के छिद्र की पूर्ति करके उसका त्राण करता है।[4]

---

1. अपिगृह्यापिधायेत्यथोत्यर्थोऽङ्गुलिभ्यां प्रोर्णुत्य निनदमिव रथस्येव घोषो निनद। छा०उ० 3/13/8
2. निष्कलं निर्गतः कला यस्मात् निष्कलं निरवयवम् इत्यर्थः। मु०उ० 2/2/9
3. पिता यस्यानुशास्ता स पितृमान। छा०उ० 4/1/2
4. कर्त्तव्यतारूपात्पित्रा अकृतात् सर्वस्माँल्लोकप्राप्तिप्रतिबन्धरूपात्पुत्रो मुञ्चति मोचयति तत्सर्वं स्वयमनुतिष्ठन्पुरयित्व। तस्मात्पूरणेन त्रायते स पितरं यस्मातस्मात्पुत्रो नाम। इदं तत्पुत्रस्य पुत्रत्वं यत्पितुश्छिद्रं पूरयित्वा त्रायते। बृ०उ० 1/5/17

5.22.1 प्रजनन

ऋतुकाल में भार्यागमन को प्रजनन कहते हैं।[1]

5.23.1 प्रत्यर

अरों की दृढ़ता के लिये जो शलाकाएँ लगायी जाती हैं वे प्रत्यर हैं।[2]

5.24.1 प्रतिहार

जो कुछ प्रति ऐसा शब्द स्वरूप है, वह प्रतिहार है, क्योंकि उनमें प्रति शब्द का सादृश्य है।[3]

5.24.2 आदित्य का जो रूप मध्याह्न के पश्चात् और अपराह्न से पूर्व होता है, वह प्रतिहार है।[4]

5.24.3 जो बिजली चमकती और कड़कती है, वही प्रतिहृत होने (इधर-उधर फैलने) के कारण प्रतिहार है।[5]

5.24.4 अपनी अनेक पत्नियों में से प्रत्येक के साथ जो शयन करना-सम्मुख या अनुकुल होना है, वह प्रतिहार है।[6]

5.25.1 परार्ध्य

अर्ध कहते हैं स्थान को जो पर होते हुए अर्ध भी हो उसका नाम परार्ध है, उसके योग्य होने से यह परार्ध्य है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा के समान

---

1. प्रजननश्च प्रजननमृतौ भार्यागमनमित्यथे:। तै०उ० 1/9/1
2. प्रत्यरा ये प्रतिविधीयन्ते कीलका अराणां दाढ़्र्याय ते प्रत्यरा इत्युच्यन्ते। श्वे०उ० 1/4
3. यत्प्रतीति स प्रतिहार: प्रतिसामान्यात्। छा०उ० 2/8/1
4. अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णाद्यद्रूपं सवितु: स प्रतिहारस्तदस्यगर्भो अन्वायत्ता:। छा०उ० 2/9/6
5. विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार: प्रतिहृत्वात्। छा०उ० 2/3/1
6. प्रतिस्त्रीं शयनं स्त्रियोऽभिमुखीभाव: स प्रतिहार:। छा०उ० 2/13/1

उपासनीय होने के कारण यह परमात्मा का अवलम्बन होने योग्य है।[1]

5.26.1 प्रस्ताव

जो कुछ 'प्र' ऐसा शब्दरूप है, वह प्रस्ताव है, क्यों कि उन दोनों में 'प्र' शब्द का सादृश्य है।[2] वाणी की सप्तविधि सामोपासना करते हुए वाणी की सात प्रकार से उपसना की गई है, उस वाणी के विषय में कहा गया है उसमें जो कुछ 'प्र' ऐसा शब्द स्वरूप है वह प्रस्ताव है।

5.27.1 परिवृषण

जिसके हाथ या पैर कट गये हों। उसे परिवृषण कहा जाता है। शरीर के स्राम या परिवृक्ण होने पर छायात्मा भी वैसा ही हो जाता है तथा इस देह के नाश होने पर यह भी नष्ट हो जाता है।[3]

5.28.1 बल

अन्न के उपयोग से प्राप्त हुई मन की विज्ञेय पदार्थ के प्रतिभान की शक्ति का नाम बल है।[4] वस्तुतः बल ही शरीर को गतिमान करता है। सौ विज्ञानवानों को एक बलवान् हाथी ही कम्पायमान कर देता है। पुरुष जब से युक्त होता है तो उस समय वह उत्थाता अर्थात् उत्थान करने वाला होता है, बलयुक्त होकर वह गुरुजनों आदि की शुश्रूसा करने वाला होता है।

5.29.1 मरीचि

द्युलोक से नीचे का जो अन्तरिक्ष है वह मरीचि लोक है। वह एक होने पर भी अनेकों स्थान भेदों के कारण 'मरीचयः' इस प्रकार बहुवचन

---

1. परार्ध्यः अर्धं स्थानं परं च तदर्धः च परार्धः तदर्हतीति परर्ध्यः परमात्मस्थानर्हः परमात्मवदुपास्यत्वादित्यभिप्रायः। छा०उ० 1/1/3
2. यत्प्रेति शब्दरूपं से प्रस्तावः प्र सामान्यात्। छा०उ० 2/8/1 p–170
3. परिवृक्णश्छिन्नहस्तश्छिन्नपादो वा। स्रामे परिवृक्णे वा देहे छायात्मापि तथा भवति तथा देहस्य नाश्मन्वेष नश्यति। छा०उ० 8/9/1
4. बलमित्यन्नोपयोगजनितं मनसो विज्ञेय प्रतिमानसामर्थ्यम्। छा०उ० 7/8/1

हुआ है अथवा किरणों से संबंधित रहने के कारण वह मरीचि कहलाता है।[1] पृथिवी 'मर' है, क्योंकि उसमें प्राणी मरते हैं वे आप कहलाते हैं।

वस्तुतः 'अप्' शब्द पृथिवी लोक में रहने वाले प्राणियों द्वारा प्राप्त होने के कारण प्राप्तिरूप अर्थवाले आप् धातु से बना हुआ है। यद्यपि सभी लोक पञ्चभूतात्मा हैं तथापि अम्भ, मरीचि, मर और आप ये लोक आप (जल) की अधिकता के कारण आप कहे जाते हैं।

5.30.1 मांसौदन

मांस से मिश्रित भात को मांसौदन कहते हैं[2] औषधि अथवा फल के गूदे को माँस कहते हैं। उससे मिश्रित भात को मांसौदन कहा जाता है अर्थात् यह इच्छा होती है कि मेरा पुत्र प्रख्यात पण्डित विद्वान् सभा में निर्भय प्रवेश करने वाला हो तथा श्रवणादि सुखद वाणी बोलने वाला हो एवं सर्वगुण सम्पन्न हो, उस पुरुष और उसकी पत्नी को गूदा में चावल पकाकर तथा घी मिलाकर खिलाना चाहिए ऐसा विधान है।

5.31.1 मात्र

जिससे माप किया जाय उसे मात्र कहते हैं।[3] ब्रह्म को वस्तुतः अमात्र कहा गया है क्योंकि उसे किसी भी चीज से मापा नहीं जा सकता अतः अमात्र अर्थात् मात्रा रूप नहीं है। यहाँ याज्ञवल्क्य। गार्गी के प्रश्नोत्तर के सन्दर्भ में ब्रह्म के स्वरूप के विषय में गार्गी के द्वारा उठाये गए प्रश्नों के उत्तर के क्रम में याज्ञवल्क्य ने कहा है।

5.32.1 रेतस्

प्रजननेन्द्रिय का आश्रयस्थान शिश्न उत्पन्न हुआ उसमें रेतः इन्द्रिय है, जो रेतोविसर्ग (वीर्यत्याग) के हेतुभूत होने से रेतः (वीर्य) के संबध से

1. द्युलोकादधस्तादन्तरिक्षं यत्तन्मरीचयः। एकोऽप्यनेकस्थानभेदत्वाद्बहुवचभाक्-मरीचय इति; मरीचिरश्मिभिः सम्बन्धात्। ऐ०उ० 1/1/2
2. मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्। बृ०उ० 6/4/18
3. मीयते येन तन्मात्रम्। बृ०उ० 3/8/8

'रेतस्' कहा जाता है।[1] यहाँ ईश्वर देवताओं से जगत् उत्पत्ति का विवेचन करते हुए रेतस् का विवेचन किया गया है अर्थात् रेतस् से आप (वीर्य के अधिष्ठाता) जल का प्रादुर्भाव हुआ, इससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

5.33.1 रामा

जो पुरुषों के साथ रमण करती है उसे रामा कहते हैं।[2] ऐसी ये दिव्य अप्सराओं के लिए कहा गया है। ये अप्सराएँ मरणशील मानव के लिए सुलभ नहीं हुआ करती थीं। ऐसा यमराज के द्वारा नचिकेता को प्रलोभित करते हुए कहा गया है, कि मैं तुम्हें वह सभी सुख-सुविधाएँ को देता हूँ जो मनुष्य के लिए सर्वथा दुर्लभ हैं, लेकिन तुम मरण सम्बन्धी प्रश्न को न पूछो।

5.34.1 रस

खट्टा-मीठा आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद पदार्थ में रस नाम से प्रसिद्ध है।[3] इसी रस को पाकर पुरुष सुखी होता है। असत् पदार्थ की हेतुता संसार में कभी नहीं देखी जा सकती। ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष विद्वान् बाह्यसुख के साधन से रहित होने पर भी बाह्य रस के लाभ से आनंदित होने के समान आनन्दयुक्त देखे जाते हैं। निश्चय ही उसका रस ब्रह्म ही है। अतः रस के समान उनके आनन्द का कारण रूप ब्रह्म ही है।

5.35.1 वर्ण

जिसका वर्णन किया जाय वे स्थूलत्वादि या शुक्लत्वादि द्रव्य के धर्म ही वर्ण हैं।[4] ये वर्ण जिसमें विद्यमान नहीं हैं वह अक्षर अवर्ण है। वस्तुतः

---

1. यथान्यत्र तथा शिश्नं निरमिद्यत प्रजननेन्द्रियस्थानम्। इन्द्रियं रेतोविसर्गात्वात्सह रेतसोच्यते। रेतस आप इति। ऐ०उ० 1/1/4
2. रमयन्ति पुरुषानिति रामाः। बृ०उ० 1/1/25
3. रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके रसमेवायं लब्ध्वा प्राप्यानन्सी सुखी भवति। तै०उ० 2/7/1
4. वर्ण्यन्त इति वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वाद्। यः शुक्लत्वादयो वा। मु०उ० 1/6

अक्षर पर ब्रह्म का कोई वर्ण नहीं हुआ करता न वह स्थूल होता न शुक्ल, ये गुण तो केवल द्रव्यों में ही देखे जा सकते हैं।

5.36.1 वैदेह

जनक नाम का सम्राट् विदेह देश का राजा था, विदेह देश में उत्पन्न होने और रहने के कारण उसे वैदेह कहते हैं।[1] जिन्होंने सबसे बड़े ब्रह्मवेत्ता को सहस्र गाय को दान में देने की घोषणा की थी, याज्ञवल्क्य ने अपने आप ब्रह्मनिष्ठ मानकर अपने शिष्य सामश्रवा को गायों को ले जाने की आज्ञा दी थी।

5.37.1 विनर्दि

जिसका नर्द यानि स्वर-विशेष ऋषभ (बैल) के शब्द के समान विशिष्ट है वह विनर्दि गान है।[2] जिस प्रकार बैल की आवाज हुआ करती है, ठीक उसी प्रकार के स्वर से युक्त गान को विनर्दि गान कहा गया है यह विनर्दि गान पशुओं के लिए हितकर और अग्निदेवता सम्बन्धी उद्गीन उद्गान है।

5.38.1 विप्रयुक्ता

जो विशेषरूप से एक विषय में ही प्रयुक्त हो वह विप्रयुक्ता कहलाती है।[3] अर्थात् जिसका विपरीत प्रयोग किया जाता हो उसे विप्रयुक्ता कहते हैं, किन्तु ओङ्कार ब्रह्म को अनविप्रयुक्ता कहा गया है कारण इसका विपरीत प्रयोग संभव नहीं है।

---

1. जनको नाम ह किल सम्राड्राजा बभूव विदेहानाम् तत्र भवो वैदेहः। बृ०उ० 3/1/1
2. विनर्दि विशिष्टो नर्दः स्वरविशेष ऋषभकूजित समोऽस्यास्तीति विनर्दिगानमिति वाक्यशेषः। छा०उ० 2/22/1
3. विशेषेणैकैकविषय एव प्रयुक्ता विप्रयुक्ताः। प्र०उ० 5/6

5.39.1 विश्वम्भर

जो विश्व का भरण करता है उसे विश्वम्भर कहते हैं। विश्व का भरण करने के कारण ही अग्नि को विश्वम्भर कहा गया है।[1]

5.40.1 वशिष्ठ

जिसके शरीर से प्राण उत्क्रमण करने पर अर्थात् निकल जाने पर इस शरीर को लोग अत्यन्त पापीय अर्थात् पापमय मानते हैं। यों तो अनेकों अपवित्र वस्तुओं का संघात होने के कारण जीवित पुरुष का भी शरीर पापमय ही है, किन्तु जिसके उत्क्रमण करने से यह उससे भी कष्टकर (दुर्दशाग्रस्त) हो वही वशिष्ठ है।[2]

5.41.1 वैश्य

धन का उपार्जन करने वाले को वैश्य कहा जाता है।[3] वर्ण विभाजन के समय इसको सम्पूर्ण वर्णो के लिए भरण–पोषण करने का दायित्व दिया गया था अतः अर्थोपार्जन इसका मुख्य कार्य था।

5.42.1 शूद्र

ऋषि ने अपनी परोक्षज्ञता प्रदर्शित करने के लिये उसे (क्षत्रिय को) शूद्र कहकर सम्बोधित किया। अथवा शूद्र के समान केवल धन के द्वारा ही विद्या ग्रहण करने के लिये उसके समीप गया था। शूद्र शुश्रूषा द्वारा ग्रहण नहीं किया गया इसलिए उसे शूद्र कहा जाता है।[4]

---

1. विश्वम्भरोऽग्निः विश्वस्य भरणाद्विश्वम्भरः। बृ०उ० 1/4/7
2. यस्मिन् वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते निर्गते शरीरादिदं पूर्वं तस्मादतश्येन पापीयः पापतरं मन्यते लोक शरीरं हि नामनेकाशुचिसंघातत्वाज्जीवतोऽपि पापमेव, ततोऽपि कष्टतरं यस्मिन् भवति; वैराग्यार्थमिदमुच्यते पापीय इति, स वो युष्माकं मध्ये वसिष्ठो भविष्यति। बृ०उ० 6/1/7
3. वित्तोपार्जयितुर भवात् वैश्यः। बृ०उ० 1/4/12
4. तेनासौ शुचा श्रुत्वा रैक्वस्य महिमानं वा आद्रवतीति ऋषिरात्मनः परोक्षज्ञतां दर्शयञ्शूद्रेत्याहेति। शूद्रावद्वाधनेनैवनं विद्याग्रह्णायोपजगाम न च शुश्रूषया न तु जात्यैव शूद्र इति। बृ०उ० 4/2/3

5.43.1 श्वोभाव

जिनका भाव अर्थात् अस्तित्व कल रहेगा या नहीं इस प्रकार संदेहयुक्त हो उन्हें श्वोभाव कहते हैं।[1] यमराज के द्वारा दिये गए प्रलोभनों को ठुकराते हुए नचिकेता कहते हैं कि वाहन, अप्सरादि का अस्तित्व नित्य नहीं है, कारण इसके विषय में संदेह है कि कल रहेगा या नहीं। अत: हमें उन सब चीजों की आवश्यकता नहीं जो अनित्य हैं।

5.44.1 स्थावर

जो पृथिवी को ऊपर की ओर भेदन करता है उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते हैं।[2] प्रसिद्ध पक्षी आदि प्राणियों के तीन बीज होते हैं अण्डज, उद्भिज्ज और जीवज। उद्भिज्ज अर्थात् बीज से उत्पन्न होने वाले जीव को उद्भिज्ज कहा गया है। उद्भिज्ज ही स्थावर है।

5.45.1 संधान

वायु संधान है। जिससे संधि की जाय उसे संधान कहते हैं।[3] पाँच प्रकार की संधिहोपासनाओं में संधान एक है। विद्या को संधि कहा गया है तथा उस विद्या से संबंधित प्रवचन को अर्थात् प्रश्नोत्तर रूप से निरूपण को सन्धान कहा गया है।

5.46.1 संधियाँ

ऋतुएँ 'अङ्ग' हैं, क्योंकि संवत्सर के अवयव होने के कारण अंङ्गों से उनकी समानता है, मास और अर्धमास, पर्व संधियाँ हैं।[4] वस्तुत: संधि करने का तात्पर्य है कि इन दोनों की संधि से समानता है।

---

1. श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेत्ति संदिह्यमान एव येषां भावो त्वयोपन्यस्यतानां भोगानां ते श्वोभावा:। क०उ० 1/1/26
2. उद्भिज्जमुद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावरम्। छा०उ० 6/3/1
3. वायुंसंधानम् संधीयतेऽनेनेति संधानम्। तै०उ० 1/3/4
4. ऋत्वोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चाधर्मासाश्चपर्वाणि सन्धयः। बृ०उ० 1/1/1

5.47.1 सैन्धव

सिन्धु का विकार अथवा उससे उत्पन्न होने वाले को सैन्धव कहा गया है।[1] सिन्धु यानी जल में डाले नमक को डालने पर उसमें घुलता हुआ वह लीन हो जाता है। पार्थिव तैजस का सम्पर्क होने से उसके घुलने में कठिनता होती है। वह अपने कारण का संयोग होने पर निवृत्त हो जाता है यथा जल में नमक का घुलना।

5.48.1 सपत्न

द्वितीय अर्थात् जो प्रतिपक्ष भाव को प्राप्त हो वह दूसरा व्यक्ति ही सपत्न कहलाता है।[2] किन्तु वाक् और मन उससे होने के कारण उसे सपत्न नहीं कहा जा सकता, वह अध्यात्म मन और वाक् समान प्राण के प्रति गौण भाव को प्राप्त करता है।

5.49.1 सोम

द्रवात्मिक होने के कारण सोम पोषक अन्न है और उष्णता तथा रूपत्व के कारण अग्नि अन्नाद है। अतः सोम ही अन्न है, अर्थात् ''जो भक्षण किया जाय वह सोम''[3] हवन किये जाने के कारण अग्नि को भी सोम पक्ष कहा जाता है और कहीं यजन किया जाने वाला होने पर अत्ता होने के कारण सोम को अग्नि माना गया है।

5.50.1 सामश्रवा

जो साम विधि का श्रवण सम्यक् प्रकार से करता है। उसे सामश्रवा कहा जाता है।[4] यहाँ सामश्रवा याज्ञवल्क्य का शिष्य है जिनको उन्होंने, अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता मानते हुए गायों को ले जाने का आदेश दिया था।

---

1. तद्विकारस्तत्र भवो वा सैन्धवः। बृ०उ० 1/5/12
2. द्वितीयो वै प्रतिपक्षत्वेनोपगतः स द्वितीयः सपत्न इत्युच्यते। बृ०उ० 1/5/12
3. सोम एवान्न यदद्यते तदेव सोम इत्यर्थः। बृ०उ० 1/4/6
4. सामाविधिं हि शृणोत्यतोऽर्थाच्चतुर्वेदो याज्ञवल्क्यः। बृ०उ० 3/1/12

5.51.1 समष्टि

वायु को सूत्र रूप से समष्टि कहा गया है, क्योंकि वायु ही अध्यात्म, अधिभूत ओर अधिदैवभाव रूप से विविध प्रकार से व्याप्त है,[1] एवं जो व्यक्ति इस वायु को इस रूप में जानता है, वह अपने स्वरूप भूत वायु को उस रूप में प्राप्त करता है।

5.52.1 संवत्सर

कर्म का अङ्गभूत काल संवत्सर है।[2]

5.53.1 स्वाभाविकी

वस्तु के स्वभाव से सिद्ध जैसा कि अग्नि आदि की उष्णता एवं प्रकारशादिरूप प्रकृति होती है।[3] यथा योगियों को अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति उनकी प्रकृति है, योगियों को उस प्रकृति का भूत या भविष्यत् काल में भी नहीं होता है।

5.54.1 संस्ताव

इन्द्राणी और इन्द्र यह संस्ताव है, जहाँ दोनों मिलकर एक–दूसरे का संस्तव (प्रशंसा) करते हैं वह संस्ताव कहलाता है।[4] इसके विषय में कहा गया है कि जो हृदयान्तर्गत आकाश है। अर्थात् अन्तर्हृदय में पिण्ड हृदय भीतर जो आकाश है उसे ही संस्ताव कहा गया है।

---

1. समष्टि केवलेन सूत्रात्मना वायुरेव। स एव अध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन विविधा या अष्टिर्व्याप्तिः स वायुरेव। बृ०उ० 3/3/2
2. संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गः। मु०उ० 2/1/6
3. तथा स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावात् एव यथाग्न्यादीनाम् उष्णप्रकाशादिलक्षणा, सापि न कालान्तरे व्यभिचरति देव्यान्तरे च। मा०उ० 9
4. तयोरेष इन्द्रस्य चैष संस्तावः सम्भूय यत्र संस्तवं कुर्वाते अन्योन्यं स एव संस्तावः। बृ०उ० 4/2/3

5.55.1 सहजा

अपने साथ ही उत्पन्न होने वाली जैसे कि पक्षी आदि की आकाश गमनादिरूपा प्रकृति होती है,[1] साथ ही जल आदि की भी जिस तरह निम्न प्रदेश में स्वभावतः ही गति देखी जाती है। उसे नीचे प्रदेश की ओर जाने के लिये बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं होती, वरन् उसकी सहज ही प्रवृत्ति होती है।

5.56.1 साङ्गववेला

जिस वेला में गो यानी सूर्य किरणों का सङ्गम होता है, अथवा जिसमें गौओं का बछड़ों से सङ्गम होता है।, उसे साङ्गववेला कहते हैं।[2] साङ्गववेला से तात्पर्य यहाँ सायंकाल से है जब बिछुड़े लोग स्वभावतः घर आ जाया करते हैं चाहे वह मानव हो या पशु उस समय मानव व पशु का अपने परिजनों से मिलन होता है, अतः इसे साङ्गववेला कहते हैं।

5.57.1 स्राम

जिसके चक्षु या नासिका सदा स्रवित होते रहते हैं, उसे स्राम कहते हैं।[3] स्राम का प्रसिद्ध अर्थ एक नेत्रवाला है किन्तु उसका अर्थ अन्धत्व से मिलता-जुलता हो जाने या समानता होने के कारण कहा गया है कि जिसकी आँख से हमेशा पानी स्रवित हो उसे स्राम कहते हैं।

---

1. तथा सहजा आत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा। मा०उ०गौ०का० /9
2. अथ यत्सङ्गववेलायां गवां रश्मीनां सङ्गमनं सङ्गमो यस्यां बेलायां गवां वा वत्सैः या सङ्गववेला। छा०उ० 2/9/4
3. चक्षुर्नासिका वा यस्य सदा स्रवति स स्रामः। छा०उ० 8/9/1

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

चिन्तक अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को बोधगम्य बनाने के लिये एक सुनिश्चित पद्धति का उपयोग करता है। यह पद्धति पूर्व प्रयुक्त पद्धतियों से अनुभव प्राप्त कर कुछ नवीनता लिए हुए होती है। अपने वैचारिक भवन की रचना में आचार्य ने लौकिक न्यायों, व्याकरण के नियमों, निरुक्त आदि को आधार बनाया है। परन्तु सर्वाधिक महत्त्व उन तकनीकी पारिभाषिक शब्दों का है जो अद्वैत दर्शन के स्वरूप की व्याख्या करने में अत्यधिक सहायक हैं। उपनिषद् काल गणना के अनुसार ईसा पूर्व 800 वर्ष के आस-पास है। शङ्कराचार्य का समय (788-820 ई०) है, 1500-1600 वर्ष के अन्तराल में भाषा में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों को ध्यान में रखकर अपने सिद्धान्त की व्याख्या करना एक दुष्कर कार्य था। इसके अतिरिक्त एक उपनिषद् की भाषा दूसरे उपनिषद् की भाषा से भिन्न है। आत्मा से सम्बन्ध होने के कारण उपनिषदों में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ 800-900 ई० में दुरूह हो गया होगा। दुरूह होने के कारण तथा उपनिषद् वाङ्मय के विशाल तथा वैभिन्न्यपूर्ण होने के कारण एक सुनिश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करना एक अत्यन्त कठिन कर्म था। आचार्य शङ्कर ने संस्कृत भाषा में रचित शास्त्रों का तथा उपनिषद् वाङ्मय का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया, उसे आत्मसात् किया। अपनी अनुभूति का विषय बने सत्य को प्रस्थानत्रयी के भाष्य के माध्यम से बोधगम्य बनाया।

उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र तथा गीता में विवेचित सत्य को प्रतिपादित करने के लिए आचार्य शङ्कर ने जो पद्धति अपनायी वह अत्यन्त सफल हुई। पद्धति का स्वरूप इस प्रकार है—(1) उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर भाष्यों की रचना (2) स्वतंत्र प्रकरण ग्रन्थों की रचना (3) इन रचनाओं में अपनायी गई ऐसी पद्धति जो समस्त वाङ्मय की व्याख्या-पद्धति से सामञ्जस्य रखती हो। इस व्याख्या-पद्धति में न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में अपनायी गई पद्धति का

आचार्य शङ्कर ने अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने में अनुकूलतया उपयोग किया।

उपनिषद् वाङ्मय में ऋषियों की अनुभूति के विषय बने आत्मतत्त्व के महत्त्व को बोधगम्य बनाने के लिये आचार्य शङ्कर ने विभिन्न काल खण्डों में रचे उपनिषदों के वाक्यों की व्याख्या करने में जो कौशल दिखाया है वह अद्यावधि दृष्टिपथ पर नहीं आता। परम मनीषी शङ्कर ने उपनिषदों में प्रयुक्त आध्यात्मिक अनुभव को सङ्केत करने वाले वाक्यों तथा पदों का रहस्यात्मक स्वरूप प्रकट करने के लिए विभिन्न व्याख्यात्मक तकनीकों का आश्रय लिया। कहीं पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, कहीं निरुक्त में प्रतिपादित निर्वचन पद्धति का सहारा लेते हैं और कहीं स्वयं द्वारा सुविचारित कई पद्धतियों के सम्मिश्रण से शब्द को नूतन अर्थ प्रदान करते हैं अर्थात् उपनिषद् में प्रयुक्त आध्यात्मिक पदों को संकेत *(Symbol)* मानकर अर्थ का संप्रेक्षण करते हैं।

सत्य को अभिव्यक्त करने में भाषा की अपनी सीमाएँ हैं। आचार्य शङ्कर इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे। यही कारण है कि उपनिषदों में सत्य की व्याख्या करने के लिये आचार्य शङ्कर ने सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में आत्म-विवेचन की दो विधियों का प्रयोग किया है—

(1) अन्वय विधि—जिसके अन्तर्गत आत्मा को सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर सबका एकायन कहा गया है। वह अणु से अणु तथा महान् से महान् है।

(2) व्यतिरेक विधि—इसमें आत्मा का विवेचन नेति-नेति से किया गया है, अर्थात् जो कुछ ज्ञेय है, जो कुछ मत्य है जो कुछ अल्प है एवं जो कुछ चिन्त्य नहीं है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा न चल है, न अचल, न स्थायी है, न क्षणिक है, न सूक्ष्म है और न स्थूल। अर्थात् वह द्वन्द्वों की कसौटियों से परे है।

उपनिषद् में निहित गूढार्थ को हृदयंगम करने के लिये व्याख्यायित पारिभाषिक शब्दों को प्रमुखतः दार्शनिक विभाजन की दृष्टिकोण से चार भागों में रखकर अध्ययन किया गया है।

शङ्कर अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक कही गई है। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म में भिन्नित्व है वस्तुतया जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐक्य ही है। प्रस्तुत अध्याय में ब्रह्म विषयक शब्दावली के अन्तर्गत ब्रह्म, आत्मा, पुरुष इत्यादि से संबंधित पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन किया गया है। जिसका सार यहाँ प्रस्तुत है। ब्रह्म को यहाँ 'अकाममय' अर्थात् ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त करने पर कामना का अस्तित्व नहीं रहता। कामना इत्यादि तो व्यावहारिक जगत् में ही देखने को मिलते हैं, कामना आदि का जहाँ अन्त होता है, वहाँ चित्त प्रसन्न तथा निष्कल्मष हो जाता है एवं चित्त शान्त हो जाता है। इस अवस्था को अकाममय कहा गया है। इसके साथ ही आत्मा को 'अखण' कहा गया है। अखण अर्थात् जिसे काटा नहीं जा सकता या जिसे छिन्न नहीं किया जा सकता है, वह अजर और अमर है। ब्रह्म या आत्मा में जन्मादि का गुण नहीं होता अतः इसे 'अजम्' कहा गया है। जिस प्रकार संसार में जीव को बार-बार जन्म लेते और मरते हुए देखा जा सकता है, उस प्रकार आत्मा को नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि यह जन्मादिरहित है। कामना आदि का गुण आत्मा का नहीं होता। अतः इसे ''अतिच्छन्दरूप'' कहा गया है। वस्तुतः छन्द काम को कहते हैं, ब्रह्म एवं आत्मा मृत्यु आदि से परे होने के कारण 'अतिमृत्यु' रूप है। आत्मा या ब्रह्म को 'अनन्त' कहा गया है। अर्थात् अन्त या कार्य विद्यमान न होने के कारण यह अनन्त है। साथ ही आत्मा में अथवा आत्मा का कोई विकार नहीं होता। विकार से यहाँ तात्पर्य हाथ-पैर इत्यादि विकार से है। अतः इसे 'अपाणिपाद' भी कहा गया है। इसी गुण के कारण इसे 'शरीर' की संज्ञा भी दी गई है। चेतना प्राणियों का धर्म है यह **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म प्रज्ञानं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म विज्ञानघन** एवं इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है, कि उत्पत्तिनाश रूप धर्म से रहित चेतन ही आत्मा है। यह 'आत्मा' ही शरीर में प्रवेश करके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान की क्रियाएँ करता है। इस प्रकार आत्मा को सर्वान्तर तथा सबका अन्तर्वर्ती कहा गया है। जो दृष्टि का द्रष्टा है, क्योंकि दृष्टि आदि का द्रष्टा होना आत्मा का स्वभाव है। इसी क्रम में आत्मा को 'अविकारी', 'अन्तर्यामी', 'आत्मक्रीड' कहा गया है। आगे आत्मा या ब्रह्म को आदित्य भी कहा गया है, जो पुनः-पुनः होते हुए प्राणियों के आयु और कर्मफल को आदान अर्थात्

ग्रहण कर चलते हैं। वे इस प्रकार सबका आदान करते हुए चलते हैं। इसलिए **आददानाः यन्ति** इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे आदित्य कहा गया है। इस ब्रह्म व आत्मा का सबसे प्रियतम एवं समीपवर्ती नाम ॐ है। ब्रह्म व आत्मा का स्वभाव समूह आदि में चलने का नहीं है। जिस प्रकार मानव समूह में चला करता है उससे विपरीत यह अकेला ही चलता है। इस कारण इसको एकहंस कहा जाता है। इस पद्धति का अनुसरण करते हुए ब्रह्मविषयक अन्य शब्दों का अध्ययन द्वितीय अध्याय के प्रथम खण्ड में किया गया है।

समष्टि अज्ञान के लिये 'माया' और व्यष्टि अज्ञान के लिये 'अविद्या' का व्यवहार किया जाता है। माया में विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और अविद्या में रहने वाले सत्त्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत होकर अविशुद्ध अथवा मलिन हो जाता है। ये क्रमशः ईश्वर और जीव की अवस्था होती है। ईश्वर तथा जीव दोनों ही अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं। अतः इन दोनों की तीन-तीन अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, ये तीनों अवस्थाएँ, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीनों शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंच कोशों पर आधारित हैं। जाग्रद् अवस्था में स्थित अन्नमय, कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को 'तैजस' कहते हैं। उक्त तीन कोश ही जीव की इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण हैं। विज्ञानमयकोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्वमय है। मनोमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है एवं प्राणमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण कार्यरूप है। सुषुप्ति अवस्था के आनन्दमयकोश से युक्त प्राज्ञ कहलाता है। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं, स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समष्टि अज्ञान की उपाधि से युक्त ब्रह्म रूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट् सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर अपनी उपाधिभूता माया का स्वामी होने से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होता है। जबकि जीव उपाधिभूता अविद्या के वशवर्ती होने के कारण अल्पज्ञ,

अल्पशक्ति और परिच्छिन्न होता है। इन दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञः ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥

अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित होने वाला चिदात्मा उस माया को वशीभूत करके सर्वज्ञ ईश्वर बन जाता है, तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित होने वाला चिदात्मा उस अविद्या के परतन्त्र होकर जीव कहलाता है।

व्यष्टिरूप अज्ञान निकृष्ट जीव की उपाधि है, उसमें रहने वाला सत्त्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत होने के कारण मलिन हो जाता है—**मलिनं रजोस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्या सा,** तथा जैसे निर्मल दर्पण किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने को स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लेता है, धूल-मिट्टी से मलिन हो जाने पर उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करने का सामर्थ्य कम हो जाता है। इसी प्रकार सत्त्वगुण जब निर्मल रहता है, तो उसमें चिदात्मा स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु जब रजस् और तमस् उसको दबाकर मलिन कर देते हैं, तब चिदात्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। जीव की अज्ञानता का यही हेतु है।

प्रस्तुत अध्याय में 'जीव' को 'अनसूरि' कहा गया है। अर्थात् जीव के पास मेधा शक्ति का अभाव होता है। वस्तुतः सूरि बुद्धि को कहते हैं। जिसके पास सूरि का अभाव हो उसे असूरि कहा जाता है। असूरि से भिन्न हो अनसूरि कहा जाता है। मेधा के अभाव में वह सत्य के स्वरूप को नहीं समझ पाता है तथा इस असमर्थता के कारण सांसारिक बन्धन में घूमता रहता है। जैसे ही मेधायुक्त होने पर उसे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, या वह वास्तविक स्वरूप में आ जाता है तो वह अनसूरि अर्थात् ब्रह्म हो जाता है।

इसी प्रकार जीव को 'अबुध' कहा गया है। बुध् धातु क्विप् प्रत्ययान्तरूप है। अर्थात् जो आत्मज्ञान से रहित है। यही कारण है कि वह जागतिक स्वरूप को सत्य समझकर जन्म-मरण के चक्र में बंधा रहता है। साथ ही जीव को

'अनृत' भी कहा गया है कारण वह सांसारिक चीजें यथा स्त्री, भोजन वस्त्रादि आदि क्षणिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हो जाता है तथा इसी के चारों ओर घूमता हुआ सत्य को जानने में असफल रहता है। जीव को 'आर्त' भी कहा गया है। अर्थात् संसार की सभी वस्तुएँ आत्मा के विपरीत क्षयशील हैं इसलिए इसे आर्त कहा गया है। वस्तुतः आत्मा न कभी नष्ट होता है और न नष्ट किया जा सकता है, किन्तु इस मानव-जगत् में मनुष्य के रूप में जन्म लेकर भी जो उस सत्य को जानने के लिये उचित मार्ग का अनुसरण करता है, अर्थात् उपासनादि के द्वारा ब्रह्म तक पहुँचने में समर्थ होता है उसे 'गन्धर्व' कहा गया है। इसी क्रम में जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से देवभाव को प्राप्त कर लेते हैं, वे 'कर्मदेव' कहलाते हैं। अर्थात् कर्म करते हुए उस लक्ष्य तक पहुँचने में कर्मशील जीव को यहाँ 'कर्मदेव' कहा गया है। इसे लक्ष्य, अविद्या, काम और कर्मविशिष्ट देह एवं इन्द्रियरूप उपाधि वाला आत्मा संसारी जीव कहा है। द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में जीव के विभिन्न स्वरूपों के पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं। जगत् प्रपञ्च माया की प्रतीति है। जीव तथा जगत् दोनों मायाकृत हैं। भ्रमकाल में जिस प्रकार रज्जु सर्प के रूप में प्रतीत होती है तथा रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प का बाध हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म अविद्या या माया के कारण जीव जगत् प्रपञ्च का बाध हो जाता है। जगत् के इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर प्रमुख उपनिषदों में प्राप्त पारिभाषिक शब्दों का संकलन कर अध्ययन किया गया है जिसका साररूप इस प्रकार है—

सर्व संसारधर्मशून्यता आत्मा का स्वभाव है, इसका सांसारिक धर्मों से युक्त होना अन्य उपाधि के कारण है और जिस हेतु से इसका परोपाधिकृत संसारधर्मित्व है वह 'अविद्या' है। अर्थात् इस अविद्या के कारण ब्रह्म एवं जीव में भेद उत्पन्न होता है तथा दोनों अलग-अलग प्रतीत होने लगते हैं, किन्तु जैसे ही इस अविद्या की निवृत्ति ज्ञान के माध्यम से हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म और जीव की एकता का प्राकट्य हो जाता है। इस प्रकार आत्मा से जो भी भिन्न वस्तु है वह 'अविद्या' है। इस जगत् को 'आवर्त' कहा गया है जिस

प्रकार आवर्त वस्तु को एक ही जगह पर घुमाता रहता है, उसी प्रकार जगत् में मनुष्य अज्ञानवश जन्म-मरण का चक्कर काटता रहता है। अज्ञान ब्रह्म का 'आवरण' है। अज्ञानावरण के कारण ही जीव ब्रह्म को नहीं समझ पाता है। अन्धकार के कारण जीव रज्जु को सर्प समझ बैठता है। किन्तु जैसे ही प्रकाशादि के द्वारा अन्धकारादि की निवृत्ति होती है तो जीव रस्सी के स्वरूप के ज्ञान से सर्प के भ्रम से मुक्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जगत् का अस्तित्व तभी तक है जब तक ब्रह्म अज्ञानावरण से आवृत रहता है। 'एषणा' भी जगत् की सत्ता को दृढ़ करने में स्तम्भ का काम करती है। कारा इस जागतिक स्त्री, पुत्र, वित्त, कर्म आदि एषणाओं के जाल में फँसकर मनुष्य जन्म-मृत्यु के जाल में फँसा रहता है। जगत् से सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख पारिभाषिक शब्द ये हैं—अविद्या, अमात्र, असत्, अज्ञान, आकाशछिद्र, आद्रिजा, आवर्त, आवरण, आहार, एषणा, क्वधस्थ, काम, कामान्नी, जगत्, तामिस्र, माया, मायामय, दुःख, नीहार, निलयन, प्रतिमात्र, प्रतिवेश, पाश, बहुदायी, मिथ्या, मोह, वैराग्य, पाश, सृष्टि, संसार आदि। द्वितीय अध्याय के तृतीय खण्ड में जगद्विषयक पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन किया गया है।

आचार्य शङ्कर के वेदान्त में ज्ञानमीमांसा साक्षिज्ञान एवं वृत्तिज्ञान इन दो ज्ञानों पर आधारित है। साक्षिज्ञान आत्मा का स्वरूप होता है। अद्वैत की आत्मा चैतन्य या ज्ञान स्वरूप ही है। वह त्रिकालाबाधित है। दूसरी ओर जो ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उत्पन्न होता है वह 'वृत्तिज्ञान' है। अद्वैत वेदान्ती छः प्रकार के प्रमाण मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। ये समस्त प्रमाण वृत्तिज्ञान को उत्पन्न करते हैं। साक्षिज्ञान जहाँ सुषुप्ति में भी बना रहता है अर्थात् वह नित्य, अखण्ड एवं निर्विकार है। वही वृत्तिज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के संबंध से उत्पन्न होता है।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार चैतन्य तीन प्रकार का होता है, अर्थात् प्रमातृचैतन्य, प्रमाण चैतन्य और विषय चैतन्य। अन्तःकरण की उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमातृ' चैतन्य है, अन्तःकरण की वृत्ति से अविच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य है और ज्ञान के विषय से अवच्छिन्न चैतन्य (अर्थात् वह चैतन्य जिसमें विषय का अध्यास हो) विषय चैतन्य है।

भारतीय दार्शनिकों की यह मान्यता है कि बाह्य विषय की स्थिति में अन्त:करण की वृत्ति बाहर जाकर विषय से सम्पर्क करती है तथा उसके आकार में इन्द्रियों के माध्यम से परिणत हो जाती है। यहाँ वृत्ति शब्द का अर्थ अन्त:करण परिणाम विशेष है। उदाहरण के लिये चाक्षुष प्रत्यक्ष में तैजस अन्त:करण आँख के माध्यम से निकलकर घट आदि ज्ञान के विषय तक पहुँचता है और उसका आकार धारण कर लेता है यह वृत्ति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष की अपेक्षा करती है, इस अन्त:करण की वृत्ति को उपचारवश ज्ञान कहते हैं। सुख-दु:ख अन्त:करण के धर्म हैं। जब अन्त:करण सुखाकार अथवा दु:खाकार के आकार को धारण करता है तब उसे इन्द्रियों के माध्यम से बाहर नहीं जाना पड़ता। विषय चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य के एकदेशस्थ होने के कारण सुख अथवा दु:ख का अनुभव होता है।

विवरणकार के मत में अन्त:करण इन्द्रिय नहीं है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हो और मन को इन्द्रिय माना जाय तो अनुमिति ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो जाएगा। प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, विषयचैतन्य का अभेद ही विषय प्रत्यक्ष का हेतु है। वेदान्त का निश्चित सिद्धान्त है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता, मिथ्या ज्ञान का भी 'विषय' होता है। प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की सत्ता अवश्य होती है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि ज्ञेय वस्तु का इन्द्रिय से ही ग्रहण हो। स्वप्नदशा में केवल सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है और स्थूल शरीर से संयोग छूट जाता है यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या स्वप्न प्रत्यक्ष में भी ज्ञेय वस्तु की सत्ता होती है? यह सुनकर आश्चर्य होगा कि वेदान्त का उत्तर स्वीकारात्मक है। सुषुप्ति दशा में सूक्ष्म शरीर का भी साथ छूट जाता है और कारण शरीर मात्र रह जाता है, कारण शरीर से अभिप्राय साक्षी की अज्ञानोपाधि से है। सुषुप्ति दशा में सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर अविद्या में लय हो जाता है। साक्षि चैतन्य का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होना ही जीव की सत्ता का हेतु है। सुषुप्ति अवस्था में वस्तुत: जीव की, जो कर्त्ता और भोक्ता है सत्ता नहीं रहती। उपनिषद् में प्रतिपादित सब प्राणी प्रतिदिन ब्रह्म से सम्पन्न होते हैं पर उसे जानते नहीं। सुषुप्ति में मनुष्य को ही नहीं बल्कि हर प्राणी को ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। **(समाधिसुषुप्तिमुक्तिषु ब्रह्मरूपता)** अन्त:करण के निष्क्रिय हो

जाने के कारण सुषुप्ति में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान से संबंधित सम्पूर्ण प्रमुख उपनिषदों में उपलब्ध वृत्तिज्ञान, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्रमा, प्रमेय, प्रमाण तथा सम्पूर्ण छः प्रमाणों का अध्ययन तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

मोक्ष आत्मा का नित्य स्वरूप है और कोई उत्पाद्य पदार्थ अथवा घटना नहीं है। अज्ञान के कारण इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता जैसे कि यह अविद्यारूपी आवरण ज्ञान एवं लौकिक व्यवहार (आचरण) के द्वारा दूर हो जाता है, तथा इसका स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के गौण साधन के रूप में है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष जीवन का परमार्थ है। आत्मानुभव ही मोक्ष है। आत्मा समस्त अनुभव और कर्म का आधारभूत अध्यात्मतत्त्व है, अतः ज्ञान साधनों द्वारा ज्ञेय नहीं और न ही वह कर्म द्वारा साध्य है। हमारा अन्तरतम तत्त्व होने के कारण यह हेय है और न उपादेय। श्री शङ्कराचार्य का कथन है कि पुनरपि आत्मज्ञान हमें स्वतः अनायास प्राप्त नहीं होता। इसकी सिद्धि के लिये महान् यत्न की आवश्यकता है इन यत्नों में श्रुति को मोक्ष का प्रधानमूल साधन माना गया है। आचार्य शङ्कर ने अनेक स्थलों पर कहा है कि सत्य केवल 'श्रुति' से ही जाना जा सकता है। अध्यात्मज्ञान की भण्डाररूपा श्रुति भाषा अर्थ और स्वर की कठिन प्रणाली पर निर्मित होने के कारण किसी सिद्ध 'आचार्य' की कृपा के बिना जिसने किसी प्राचीन गुरु-परंपरा से ज्ञान प्राप्त किया हो, गम्य नहीं थी। साथ ही केवल गुरु के द्वारा ही श्रुति-निहित ब्रह्मज्ञान की दीक्षा प्राप्त कर लेने मात्र से ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। साधक को ब्रह्मज्ञान की निष्ठा प्राप्त करने के लिये उस तत्त्व का निरंतर मनन करना आवश्यक है। वेदान्त बुद्धिवाद नहीं, अध्यात्मवाद है। यद्यपि तर्क का ज्ञान साधन रूप में दर्शन में आदरणीय स्थान है, फिर भी तत्त्व का अन्तिम निर्णायक नहीं। आचार्य से प्राप्त श्रुतज्ञान पर मनन करने से सत्य की बौद्धिक निष्ठा प्राप्त होती है, किन्तु इस बुद्धि-निष्ठा-ज्ञान को निरंतर 'निदिध्यासन' द्वारा आध्यात्मिक अनुभव का रूप देना आवश्यक है। इसके साथ ही इस ज्ञान के लिए उपासना का भी विशेष महत्त्व है। यथा दहर उपासना, दहरकमल, हृदय, पुण्डरीक आदि की उपासना तथा शाण्डिल्य विद्या, मधुविद्या आदि। इनका अध्ययन पंचम अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

इसके अन्तर कुछ ऐसे शब्द जो विषय और विभाजन के दृष्टिकोण से अपना अलग अस्तित्व रखते हैं अद्वैत तत्त्व से सम्बन्धित हैं उनको प्रकीर्ण पारिभाषिक शीर्षक के रूप में पंचम अध्याय के अन्तर्गत अध्ययन का विषय बनाया गया है। यथा—**अश्वत्थ** – न श्वः तिष्ठति इति 'अश्वत्थ' अश्वत्थ का अर्थ वृक्ष होता है। वस्तुतः वृक्ष की तुलना यहाँ जगत् से की गई है। जिस प्रकार जगत् का अस्तित्व क्षणिक है ठीक उसी प्रकार वृक्ष का भी अस्तित्व क्षणिक होता है। अर्थात् जो कल नहीं रहेगा उसे यहाँ वृक्ष कहा गया है। संसार की नश्वरता इससे सिद्ध होती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

मूल स्त्रोत (प्रत्यक्ष)

1. ईशावास्योपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि टीका सहित आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलिः पूना से सन् 1934 में प्रकाशित

2. ईशावास्योपनिषद् — शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित गीताप्रेस, गोरखपुर से संवत् 2052 में प्रकाशित

3. उपनिषत्सङ्ग्रह (मूलमात्र) — मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली से सन् 1980 में प्रकाशित

4. उपनिषद् भाष्यम् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरिकृत टीका सहित महेश अनुसन्धान संस्थान, देववाणी प्रेस, वाराणसी से (प्रथम खण्ड) सन् 1979 में प्रकाशित

5. उपनिषदां समुच्चयः — आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, ग्रन्थांक 29 (पुण्यारण्यपत्तन) पूना, 1937

6. ऐतरेयोपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, पूना से सन् 1939 में प्रकाशित

7. ऐतरेयोपनिषद् — शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर से संवत् 2052 में प्रकाशित

8. कठोपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से सन् 1889 में प्रकाशित

9.	कठोपनिषद्	शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर से संवत् 2052 में प्रकाशित
10.	केनोपनिषद्	शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, पूना से सन् 1985 में प्रकाशित
11.	केनोपनिषद्	शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2052 में प्रकाशित
12.	छान्दोग्योपनिषद्	शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलिः, पूना से सन् 1983 में प्रकाशित
13.	छान्दोग्योपनिषद्	शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2052 में प्रकाशित
14.	तैत्तिरीयोपनिषद्	शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, पूना से सन् 1977 में प्रकाशित
15.	तैत्तिरीयोपनिषद्	शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2053 में प्रकाशित
16.	दशोपनिषद् (मूलमात्रम्)	आनन्दाश्रम ग्रन्थावलिः से सन् 1982 में प्रकाशित
17.	प्रश्नोपनिषद्	शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से सन् 1922 में प्रकाशित
18.	प्रश्नोपनिषद्	शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2055 में प्रकाशित

19. बृहदारण्यकोपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से सन् 1921 में प्रकाशित

20. बृहदारण्यकोपनिषद् — शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2052 में प्रकाशित

21. माण्डूक्योपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से सन् 1977 में प्रकाशित

22. माण्डूक्योपनिषद् — शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2050 में प्रकाशित

23. मुण्डकोपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि कृत टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से सन् 1925 में प्रकाशित

24. मुण्डकोपनिषद् — शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2052 में प्रकाशित

25. श्वेताश्वतरोपनिषद् — शाङ्करभाष्य पर शङ्करानन्द कृत दीपिका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से सन् 1927 में प्रकाशित

26. श्वेताश्वतरोपनिषद् — शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2052 में प्रकाशित

27. *Hundred and eight Upaniṣad - Edited by Shiv Prasad Raghuram*

मूल स्त्रोत (अप्रत्यक्ष)

1. सातवलेकर एस.डी. — ईशोपनिषद् स्वाध्यायमंडल।
2. मजूमदार जे. — ईशोपनिषद् सत्यानन्दभाष्य गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1953
3. *Bucca. S.* — *ISA Upaniṣad Note Estudies, felosofia Argentina, 1952*
4. *Renou. L.* — *ISA Upaniṣad Les Upaniṣad Adrien Maisonnuse, Paris, 1943*
5. सातवलेकर एस. डी. — ऐतरेयोपनिषद्, स्वाध्याय मंडल, 1953
6. सर्वानन्द स्वामी — ऐतरेयोपनिषद् रामकृष्णमठ, मद्रास, 1944
7. *Sil Brun. L.* — *Aitareya Upaniṣad, Lea Upaniṣads, 10 Adrien Maisonneuse, Paris, 1943*
8. सातवलेकर एस. डी. — कठोपनिषद् स्वाध्याय, मंडल, 1950
9. अरविन्दो श्री — कठोपनिषद् श्री अरविन्दो आश्रम, पांडिचेरी, 1952
10. *Renou. L.* — *Kath Upaniṣad, Les Upaniṣad, 2 Adrien Maisonneuse, Paris, 1943*
11. सर्वानन्द स्वामी — छान्दोग्योपनिषद्, रामकृष्ण आश्रम, मद्रास, 1956
12. सातवलेकर एस. डी. — तैत्तिरीयोपनिषद् स्वाध्याय मंडल, 1956
13. सर्वानन्द स्वामी — तैत्तिरीयोपनिषद् रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1949
14. सातवलेकर एस. डी. — प्रश्नोपनिषद् स्वाध्याय मंडल, 1950

15. बृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1951

16. बृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) मायावती आश्रम, अल्मोड़ा, 1951

17. बृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, बम्बई प्रेसीडेन्सी, बम्बई, 1887–88, 1988–89

18. बृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) सुरेश्वराचार्य का वार्तिक तथा आनन्दगिरि का शास्त्र, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी, 1982

19. बृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) आनन्दगिरि की अद्वैत दृष्टिकोण की टीका, कैलाशआश्रम महासमिति, ऋषिकेश

20. बृहदारण्यकोपनिषद् सिद्धान्त दीपिका – लिस्ट ऑफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट, 1980

21. सातवलेकर एस. डी. माण्डूक्योपनिषद्, अथर्ववेदीय स्वाध्याय मंडल, 1952

22. मोतीलाल शर्मा माण्डूक्योपनिषद् का हिन्दी भाष्य वेदतत्त्व शोध संस्थान, जयपुर, 1936–48

23. सातवलेकर एस. डी. अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् स्वाध्याय मंडल, 1952

24. Sil Busna. *Svetasvatara Upaniṣad, Les Upaniṣad, 7 Adrien Maisonneuse, Paris, 1948*

(2) गौण स्त्रोत

हिन्दी ग्रन्थ

1.	अभिमन्यु	वेदान्त विमर्श	परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली–1991
2.	अरविन्द	कठोपनिषद् अनुवादक केशवदेव आर्य	दिव्य जीव साहित्य पांडिचेरी–1974
3.	अभेदानन्द	शाङ्करोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973
4.	अवस्थी, डॉ० ब्रह्ममित्र	कठोपनिषद्	इन्दु प्रकाशन, दिल्ली–1929
5.	आङ्गिरस रमाकान्त	शाङ्कर वेदान्त एक अनुशीलन	नटराज पब्लिशिंग हाऊस, करनाल–1982
6.	ओझा, मधुसूदन अनु. शर्मा, देवीदत्त	ब्रह्म सिद्धान्त	राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर–1990
7.	उपाध्याय बलदेव	भारतीय दर्शन	शारदा मंदिर वाराणसी–1991
8.	ऋषि उमाकान्त	सर्वदर्शन संग्रह माधवाचार्य पाठ	चौखम्भा, संस्कृत सीरीज वाराणसी
9.	कविराज, गोपीनाथ	भारतीय संस्कृति और साधना (2 भाग)	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना–1963
10.	कुमार वागीश	भारतीय दर्शनों में अन्तर्निहित समरूपता	परिमल प्रकाशन दिल्ली–1990
11.	गिरि , गगनदेव	गीता के शाङ्करभाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन	ज्योति प्रकाशन, पटना–1978

12. डॉ० एस.एन. गुप्ता	भारतीय दर्शन का अनु. ए.यू. वांसवाड़ा	राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर *Vo.I-V*
13. चट्टोपाध्याय सतीशचन्द्र	भारतीय दर्शन	पुस्तक भण्डार, पटना–1960
14. चित्सुखाचार्य	तत्त्वप्रदीपिका सम्पा० योगीन्द्रानन्द	षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी–1974
15. जैन सुधा	अद्वैततत्त्वमीमांसा (नैष्कर्म्यसिद्धि के परिप्रेक्ष्य में)	प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली–1986
16. जोशी, रसिक बिहारी	भागवत दर्शन	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, दिल्ली–1985
17. झा, रघुवंश	बृहदारण्यकोपनिषद् एक समीक्षात्मक अध्ययन	वाराणसी–1984
18. वीणा झा	शङ्कर का अद्वैत वेदान्त	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना–1988
19. तिलक, बाल गङ्गाधर	श्रीमद्भगवद्गीता–रहस्य	लोकमान्य तिलक मंदिर पूना–1962
20. तिवारी, रामानन्द	श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, वि.सं.–2006
21. तिवारी, डॉ० शशि	ईशावास्योपनिषद्	भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली–1997
22. तिवारी, डॉ० शशि	मुण्डकोपनिषद् (व्याख्या)	अद्वैत आश्रम कलकत्ता–1978

23. दासगुप्ता, एस.एन. (अनु. व्यास, एम.पी.)	भारतीय दर्शन का इतिहास	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, द्वि.सं. 1989
24. देवराज, नंदकिशोर	भारतीय दर्शन	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण–1983
25. धवन, डॉ० कृष्ण कुमार	उपनिषदों में काव्य तत्त्व	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान होशियारपुर–1976
26. धर्मराजा ध्वरीन्द्र	वेदान्त परिभाषा	आड्यार लायब्रेरी, मद्रास–1942
27. धर्मराजा ध्वरीन्द्र	वेदान्त परिभाषा	चौखम्भा विद्याभवन, सं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर वाराणसी–1963
28. नरेन्द्र देव	बौद्ध धर्म–दर्शन	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–1956
29. नृसिंहाश्रम सरस्वती	वेदान्ततत्त्व विवेक तत्त्व विवेकदीपन टीका सहित	ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मैसूर–1955
30. पाण्डेय संगम लाल	मूल शाङ्करवेदान्त (प्रस्थानत्रयी के शाङ्कर भाष्य का हिन्दी में समालोचनात्मक विवेचन)	सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद–1979
31. पाण्डेय, डॉ० उमादेवी	औपनिषदिक परमसत एवं मूल्य सिद्धान्त	विवेक, घड़ियाल बन्धु वाराणसी–1972

32.	पाण्डेय चन्द्रबली	उपनिषद् रहस्य	नई दिल्ली
33.	पतंजली ब्रह्मलीन मुनि	योगसूत्र	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी–1984
34.	प्रकाशानन्द	वेदान्तसिद्धान्त–मुक्तावली	अच्युत कार्यालय काशी–1936
35.	बन्धु मनुदेव	बृहदारण्यकोपनिषद् एक अध्ययन	दिल्ली–1990
36.	मण्डनमिश्र	ब्रह्मसिद्धि सं० कुप्पुस्वामी शास्त्री	गवर्नमेण्ट प्रेस, मद्रास–1937
37.	मधुसूदन सरस्वती	सिद्धान्तबिन्दु सं० एस. सुब्रह्मण्यम शास्त्री	महेश अनुसन्धान संस्थान संस्था–5, वाराणसी–1934
38.	भट्टाचार्य, कृष्णचन्द्र	वेदान्त–एक नवीन (अनु. शर्मा, के.एल.)	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–1993
39.	भट्टाचार्य, अभेदानन्द	अद्वैत और द्वैताद्वैत–दर्शन	एस.एस. पब्लिशर्स दिल्ली–1992
40.	मलकानी, घनश्यामदास	वेदान्त की ज्ञान मीमांसा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली–1986
41.	मंजु	अद्वैतवाद और शून्यवाद	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली–1986
42.	महेश चन्द्र	कठोपनिषद् भारतीय	गाजियाबाद–1975
43.	सरस्वती मधुसूदन	सारसंग्रह (संक्षेप शारीरक व्याख्या)	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी–1934

44. सरस्वती मधुसूदन	वेदान्त कल्पलतिका सं० करमाकर आर.डी. भण्डारकर	ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना–1962
45. सरस्वती मधुसूदन	अद्वैतसिद्धि सं० अनन्त कृष्णशास्त्री	परीमल पब्लिकेशन, नई दिल्ली–1938
46. मिश्र, सत्यदेव	अद्वैत वेदान्त में आभासवाद	इन्दिरा प्रकाशन, पटना
47. मिश्रा चञ्चल	वेदान्ततत्त्वविवेक एक अध्ययन	डिप्टी पब्लिकेशन, दिल्ली–1989
48. राधाकृष्णन्	भारतीय दर्शन 2 भागों में	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली–1986
49. राधाकृष्णन् सर्वपल्ली	उपनिषदों की भूमिका अनु. रामनाथ शास्त्री	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली–1968
50. रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण अनु. तिवारी, रामानन्द	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी–1971
51. लोहनी, भास्करानन्द	गीता का तात्त्विक विवेचन	उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान लखनऊ
52. विद्यालंकार, प्रो० सत्यव्रत	एकादशोपनिषद्	विद्याविहार देहरादून–1952
53. विद्यालंकार, आचार्य जयदेव	वैदिक दर्शन	भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, वाराणसी–1991
54. वेदालंकार रघुवीर	उपनिषदों में योगविद्या	वेदाचार्य के.सी. पब्लिशर्स, दिल्ली–1991

55. वेदालंकार जयदेव	उपनिषद् तत्त्वज्ञान	प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, हरिद्वार–1980
56. वैदिक डा० वेदवती	उपनिषद् वाङ्मय के विविध आयाम	नाग प्रकाशन, नई दिल्ली–1988
57. वैदिक डा० वेदवती	उपनिषदों में ऋषि	अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली–1997
58. वैदिक डा० वेदवती	श्वेताश्वतरोपनिषद्	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली–1984
59. मिश्र वाचस्पति	तत्त्व बिन्दु सं० वी.ए. रामास्वामी शास्त्री	सेंट जोसफ स्कूल, मुद्रणालय, त्रिचिनापल्ली–1936
60. शर्मा, राममूर्ति	अद्वैत वेदान्त–इतिहास और सिद्धान्त	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, द्वितीय संस्करण, 1978
61. शर्मा, तुलसीदास	श्वेताश्वतरोपनिषद्	दिल्ली–1976
62. शर्मा, देवराज	भारतीय दर्शन	उ.प्र. हि.ग्र. संस्थान–1978
63. शर्मा, श्रीराम	एक सौ आठ उपनिषद्	संस्कृति संस्थान बरेली–1980
64. शर्मा, डा० रामरंग	कठोपनिषद्	मालती शर्मा (व्याख्या) भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी–1979
65. शर्मा, राममूर्ति	शङ्कराचार्य	ईस्टर्न बुक लिंकर्स–1989
66. शर्मा, चन्द्रधर	भारतीय दर्शन–आलोचना एवं अनुशीलन	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली–1990

67. शर्मा रमाशङ्कर	भारतीय दार्शनिक निबन्ध बंदिष्टे डी.डी. (सम्पा.)	मध्य प्रदेश हिन्दी अकादमी भोपाल
68. शर्मा चन्द्रधर	भारतीय दर्शन–आलोचना एवं अनुशीलन	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली–1990
69. शर्मा चन्द्रधर	बौद्ध दर्शन और वेदान्त	विजन विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद–1994
70. शर्मा उर्मिला	अद्वैत वेदान्त में तत्त्व	छन्दस्वती प्रतिष्ठान वाराणसी
71. शास्त्री सत्यदेव	भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन	भारत–भारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1978
72. शास्त्री विश्वनाथ	भारतीय दर्शनों में वेदान्त का स्थान	सरस्वती संस्कृत कॉलेज खन्ना, लुधियाना–1986
73. शेखावत, महेन्द्र	आधुनिक चिन्तन में वेदान्त	मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल–1986
74. शङ्कराचार्य	तत्त्वबोध	भार्गव पुस्तकालय वाराणसी–1998
75. शङ्कराचार्य	पञ्चीकरणम् सं० कामेश्वरनाथ मिश्र	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी–1983
76. शङ्कराचार्य	सर्ववेदान्तसिद्धान्त–सारसंग्रह सं० रामस्वरूप शर्मा	सनातन धर्म मन्त्रालय मुरादाबाद–1978
77. शङ्कराचार्य	विवेक चूड़ामणि सं० मनोहरलाल शर्मा	चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता–1983

78. सुरेश्वराचार्य	तैत्तिरीय उ०भा० वार्तिक सं. राधेश्याम शास्त्री	मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली–1978
79. सुरेश्वराचार्य	नैष्कर्म्यसिद्ध सं० कर्नल जी. ए. जैकोब ज्ञानोत्तम मिश्र कृत चन्द्रिका सहित	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी–1992
80. सुरेश्वराचार्य	बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना–1892–99
81. सदानन्द	वेदान्तसार सं० अवनीन्द्र कुमार (कर्नल जैकब कृत आंग्ल अनुवाद सहित)	परिमल प्रकाशन, दिल्ली–1993
82. सीताराम शास्त्री	वेदान्त सार चिन्तामणि सं० मूलक लूरि श्री मन्नारायण मूर्ति	श्री वेंकटेश्वर वि.वि., प्राच्य परिशोधनालय, तिरूपति–1992
83. सर्वज्ञात्मन्	संक्षेपशारीरक सं० वझे भाऊशास्त्री (अन्वयार्थ प्रकाशिता टीका सहित)	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी–1992
84. शर्मा श्री हरि	वेदान्त सुधा	राजकीय प्रेस, बूंदी राजस्थान–1995
85. सिंह शशि देवी	शाङ्कर वेदान्त में चैतन्य तत्त्व	गौरव प्रकाशन, वाराणसी–1988
86. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	मोतीलाल बरारसीदास, दिल्ली–1963

87. श्रीवास्तव जगदीश सहाय	अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका	किताब महल, इलाहाबाद–1983
88. स्वामी डॉ० किशोरदास	भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा	स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून–1996
89. स्वामी नारायण	उपनिषद्रहस्य	दिल्ली, संवत्–2001
90. स्वामी चिन्मयानन्द	प्रश्नोपनिषद्	संवत्–2007 दिल्ली–1956
91. सिंह ईश्वर	भामती एक अध्ययन	मन्थन प्रकाशन रोहतक
92. हिरियन्ना एम.	भारतीय दर्शन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–1965
93. हेमचन्द्राचार्य	प्रमाणमीमांसा सम्पा० पण्डित न्याय शास्त्री महेन्द्र कुमार	सरस्वती पुस्तक भण्डार अहमदाबाद–1989
94. त्रिपाठी जातवेद	उपनिषत्सु कर्मवादः	दिल्ली–1989
95. त्रिवेदी, डॉ० राजेन्द्र	उपनिषद् कालीन समाज संस्कृति	परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली–1983

ii. आंग्ल ग्रन्थ

1. Agrawal, M.M.	*The Philosophy of Non-Attachment M.L.B.D. 1982.*
2. Alston, A.J. (Tr)	*The Method of the Vedanta M.L.B.D., 1997.*
3. Aurobindo, sri	*Kenopanisada, Reprint, pondi-chery, 1970.*
4. Arapura, J.G.	*Hermenecutical Essays of Vedantic Topics, M.L.B.D., 1986.*

5. *Balasubramanian, R. Advaita Vedanta, University of Madras, 1976*

6. *Balasubramanian, R. The Tradition of Advaita, Munshiram Manoharlal Publisher Pvt. Ltd., Delhi - 1994*

7. *Bloom field, maurice The Religion of the veda, New York and London, 1908.*

8. *Ballantyene, J.R. (Tr.) The Samkhya Aphorisms of Kapila, Chawkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1963*

9. *Beidler, William The vision of self in Early in Early Vedanta, M.L.B.D. 1975*

10. *Belvalkar S.K. & Ranade -History of Indian Philosophy, The Creative Period, Munshiram Manoharlal, 1997*

11. *Belvalkar, S.K. Vedanta Philosophy, Bilvakunja Publishing House, 1929*

12. *Bhatt, G.P. Epistemology of the Bhatta School of Purva Mimamsa, Chawkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1962*

13. *Bhatt, G.P. The Basic ways of knowing, M.L.B.d. 1989*

14. *Bhattacharya, Gopinath-K.C. Bhattacharya-Studies in Philosophy, M.L.B.D., 1985*

15. *Bhattacharya, J.V. (Tr) - Nyaya Manjari, Vol. I M.L.B.D. 1978*

16. *Bhattāchārya, Kalidas-A Modern Understanding of Advait Vedānta : L.D. Institute of Indology, Ahmadabad - 1975*

17. *Bhattachārya, Vidhushekhara-The Āgamaśāstra of GaudaPāda, University of Calcutta - 1943*

18. *Brahma, Nalini Kanta Philosophy of Hindu Sādhanā, M.L.B.D. 1993*

19. *Buch Maganlal The Philosophy of Śaṅkara, Good Companions, Baroda - 1998*

20. *Chatterjee, S.C. The Nyāya theory of knowledge, 1950*

21. *Dasgupta S.N. A History of Indian Philosophies, Vol., I & II, M.L.B.D. - 1991*

22. *Deussen, paul The philosophy of the upaniṣads, NewYork, 1966*

23. *Deussen paul Sixty upanisadas of the vedas Vol-I & II. Delhi - 1908*

24. *Devendra P.D. The concept of Māyā Calcutta - 1954*

25. *Datta, D.M. The six ways of knowing, University of Calcutta, 1972*

26. *Devaraja, N.K. An Introduction of Śaṅkara's Theory of Knowledge, M.L.B.D., 1962*

27. *Dubey, Rajendra Prasad - Vācaspati Darśanam, Classical Publishing Company, New Delhi - 1983*

28. *Eliade, Mircea The Encyclopedia of Religion, Vol. 15, Macmillan Publishing Company, New York, 1987*

29. *Gupta, Anima Sen* — *Classical Sāṁkhya - A critical Study, Manoranjan Sen, Gaur Ashram, Lucknow - 1969*

30. *Gupta, Dr. Sanjukta* — *Studies in the Philosophy of Madhusūdana Saraswati, Sanskrit Pustaka Bhandar, Calcutta - 1966*

31. *Gupta, Som Raj* — *The world speaks to the Faustian M in, M.L.B.D. 1921 (Vol. I, II&III)*

32. *Gambhira Nanda, Sawami - Eight upaniṣads, Vol-I, Advaita Āsharama Calcutta, 1957*

33. *Goswami, Dr. Sitanath - IŚopniṣada, Sanskrit pustak Bhandar, Calcutta 1960*

34. *Gough, A.E.* — *The Philosophy of the Upaniṣads, Delhi - 1975*

35. *Jha, Ganganath* — *The Prābhākara School of Pūrva Mīmāṁsā, M.L.B.D. - 1978*

36. *Hume, Robert Earrnest - The thirteen principal upaniṣads Oxford University press - 1965*

37. *Jha Dr. Sir Ganganath* — *Chāndogyopaniṣada, Poona, 1942*

38. *Kar, Bijananda* — *Indian theories of Error, Sophia Indological Series No. 3, Ajanta Books International, Delhi - 1990*

39. *K. Jaymal* — *A Glossary of technical terms in the commetaries of Saṅkara, Rāmanuja & Mādhava of the Brahmasūtra, part I & II, I.C.P.R. New Delhi 1 - 997*

40. *Keith A.B.* — *The Religion and philosophy of the veda and upaniṣads, vol-II- Harvard onriental press - 1925*

41. *Madhavananda, Swami (Tr) - Viveka - Cūdāmaṇi, Advaita Ashrama. Mayavati -1982*

42. *Mahadevan, T.M.P. The Philosophy of Advaita Arnold Heinemann, New Delhi - 1976*

43. *Malkani, G.R. Ajñāna, Luzac & G. London 1937*

44. *Mainkar, T.G. The Making of the Vedānta, Ajanta Publications, Delhi-1980*

45. *Mehendale, K.C. Taraka saṅgraha, Bharat-Bharti, Varanasi - 1980*

46. *Mudgal, S.G. Advaita of Śaṅara : A Re-appraial M.L.B.D.*

47. *Mahadevan T.M.P. Upaniṣads, New Delhi - 1975*

48. *Maxmullar, F. The Upaniṣads, Vol-I & XV Delhi - 1975*

49. *Mead, G.R.S. and Upaniṣads Madras - 1930 Jagdish chandra chatterjee*

50. *Mehta, Rohit The call of the Upaniṣads Bombay - 1970*

51. *Mitra, R.K. and Prof. E.B. Chāndogyo and Kauṣitaki Brāhmana upaniṣads, Delhi - 1978*

52. *Mukhopadhdyaya, Govindgopal - studies in the Upaniṣads, Calcutta - 1960*

53. *Nakamura, Hajime A History of Early verdanta philosophy (Part I), M.L.B.D. - 1990*

54. *Nikhilananda The Upaniṣads Delhi - 1995*

55. *O' Neil, Thomas Māya in Sankara, M.L.B.D. - 1980*

56. *Pandey, G.C. Life and Though of Śaṅkarācārya, M.L.B.D. - 1994*

57. *Pandey, Sangam Lal* *Pre-Śaṅkara Advaita Philosophy, Darshan Peeth, Allahabad - 1994*

58. *Prajnanada, Swami* *The schools of Indian Philosophycal though, Calcutta - 1973*

59. *Radhakrishnan, S. &* *A source book in Indian Moore, C.A. (Eds.) Philosophy, Princeton, New Jersay - 1957*

60. *Rajgopal L.V.* *A critique of Vedānta, Munshiram Manoharlal, Delhi - 1993*

61. *Ram Kanshi* *Inegral Non-Dualism, M.L.B.D. - 1995*

62. *Ramachandran, T.P.* *The concept of the Vyāvahārika, in Advaita Vedānta, University of Indore - 1980*

63. *Ramamurti, A.* *Advaitic mysticism of Śaṅkara, Centre of Advanced Study in Philosophy, Śāntiniketan - 1974*

64. *Rao, Velurli Subha* *Theories of Knowledge, Sri Satguru Publications, Indian Book Centre, Delhi - 1998*

65. *Radha Krishnan S.* *The principal upaniṣadess, Delhi - 1995*

66. *Ranade R.D.* *A. constuctive survey of Indian philosophy, Poona - 1926*

67. *Roer, E.* *The Twelve principal upaniṣads Madras - 1931 Reprinted at Delhi - 1979*

68. *Rukmini, T.S.* *Yogavārttika of Vijñānbhikṣu (Vols I-III) (with Yogasūtra and Vyāsabhāṣya), Munshiram Manoharlal, Delhi - 1981*

69. *Shastri, Dr. Srinivasa Praśasta Pāda-bhāṣya, Indo-Visian Pvt. Ltd. Ghaziabad - 1984*

70. *Shastri, Kokilesvara An Introduction to Advaita Philosophy, Bhartiya Publishing House, Delhi - 1979*

71. *Shastri, Pandit S.S. Jīvanmuktiviveka, The Adyar Suryanarayana and Library and Research Centre, Ayyangar, T.R. Madras - 1978 Srinivasa (Tr)*

72. *Shastri, S.S. Suryanarayana - The Siddhāntaleśa Saṅgraha of Appaya Dīkshita. Vol. I, University of Madras - 1935*

73. *Shaha, Sukharanjan Advaita Theory of illusion, Progressive Publishers, Calcutta- 1982*

74. *Sharma, Baldev Raj The Concept of Ātman in the principal Upaniṣads, Dinesh Publications, New Delhi - 1972*

75. *Sharma, C.D. The Advaita Tradition in Indian Philosophy, M.L.B.D. - 1996*

76. *Sharma, V.A. Citsukha's Contribution of Advaita Vedānta, Kaivalya Publications, Mysore, 1974*

77. *Shrivastava, Surendra Kumar - The Essential Advaitism, Kishore, Vidya Niketan, Varanasi - 1980*

78. *Sinha Debabrata Metaphysic of Experience in Advaita vedanta, M.L.B.D. - 1995*

79. *Sinha, Jadunath Indian Psychology - Vol. I, Congni tion, M.L.B.D. - 1986 Vol-II, Epistemology of Perception.*

80. Sircar, Mahendranath The system of Veḍātic Thought and Culture, Oriental Books reprint Corporation, Delhi - 1975

81. Solomon, E. Avidyā A problem of Truth and Reality, Gujrat University - 1969

82. Swami Muni narayan The Taittirīyaupaniṣads, New Delhi - 1993

83. Swami Ranganatha Nanda - The Message of the upaniṣads, Bharatiya vidya Bhavan, Bombay - 1987

84. Swami Swahananda Chāndogyopaniṣads II Ed. Madras - 1965

85. Tiwari, Ramanand Secular, social and Ethical values in the upaniṣads, Delhi - 1985

86. Upadhyaya, Veermani Prasad - Lights on Vedānta, The Chowkhamba Sanskrit Series office Varansi - 1956

87. Witz, G. Klaus The Supreme Wisdom of the Upaniṣads, M.L.B.D. - 1998

IV. कोश ग्रन्थ

हिन्दी

1. अमरकोश अमरसिंह, सम्पा., शक्तिधर शास्त्री, नवल–किशोर मुद्रणालय, लक्ष्मणपुर, वि.स. 1975

2. आप्टेकोश (संस्कृत–हिन्दी) वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशक, जवाहरनगर–1995

3. उपनिषद् महावाक्यकोश शाधले, श्री गजानन शम्भु, श्री सतगुरु पब्लिकेशन, दिल्ली–1940–41

4. न्याय कोश — झलकीकर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई – 1928

5. भारतीय दर्शन परिभाषा कोश – दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली–1996

6. भारतवर्षीय प्राचीनकोश — चित्राव विनायक सिद्धेश्वर शास्त्री, पूना, 1964

7. मीमांसा कोश — केवलानन्द सरस्वती, प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, ग्रन्थमाला

8. वाचस्पत्यम् — श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य 6 भागों में, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी–1962

9. वैदिक पादानुक्रमकोश — विश्वबन्धु, वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर

10. शब्दकल्पद्रुम — राजा राधाकान्तदेव (5 भागों में) चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी–1961

11. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — शर्मा चतुर्वेदी, द्वारका प्रसाद, रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद–1973

12. संस्कृत हिन्दी कोश — मिश्रा लक्ष्मीघर, नाग प्रकाशक, दिल्ली–1988

आंग्ल

1. *A Sanskrit English Dictionary, Monier M. Villiams Clarendon Press, Oxfprd 1989.*

2. *A Sanskrit-English Dictionary, MecDonell, Award Publication House, New Delhi - 1979*

3. *A Sanskrit-English Dictionary (Based upon the St. Petersburg Lexicon) cert cappellar, Ist, Edi - 1972*

4. *A concordance to the principal upaniṣads and Bhagwad-gita, Jacob Colonel. G. Delhi - 1971*

5. *Bibliography of Doctoral dissertations of Indian Universities (Vol. Humanities and social sciences) - A Publcation of Association of Indian Universities (1970-1988)*

6. *Encyclopaedia of Indian Philosophies ed. Harold G. Coward and K. Kunjuni Raja, M.L.B.D. - 1990*

7. *Encyclopaedia of Indian Philosophy, Karl, H. Potter M.L.B.D., Delhi - 1970*

8. *List of Doctoral thesis - University of Delhi (Convocation) 1948-2001*

9. *The Standard Sanskrit-English Dictionary Vaidya, L.R. Reprint - 1980 Asian Publication Services, New Delhi, India*

10. *Vedic Bibliography, Dandekar R.N. Bhandarkar orienta, Research Institute, Poona - 1973*

IV. कोश ग्रन्थ

संस्कृत पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध लेख

1. कृष्णजेयिसरः ''मूलाविद्या भाष्यवार्तिकसम्मता'' सागरिका, वर्ष 12, अङ्क – 4

2. झा, दामोदरः ''शाङ्करवेदान्ते मोक्षमीमांसा'', विश्वसंस्कृतम् वर्ष 24, अङ्क 1–2

3. तिवारी, ओङ्कारनाथ ''दार्शनिकदृष्ट्या ऋग्वेदस्य महत्त्वम्, सारस्वती–सुषमा, 39 वर्षे, 4 अङ्के वि.सं. 2041''

4. तारादत्तः "शाङ्करवेदान्ते जीवस्वरूपम्", सागरिका, वर्ष–21, अङ्क–3

5. पाठकः, केशव प्रसादः "अद्वैतवेदान्तेऽध्यासवादः", सागरिका, वर्ष–9, अङ्क–1 "अदैत वेदान्ते प्रतिबिम्ब-वादः, सागरिका, वर्ष 9, अङ्क–2"

6. पाण्डेयः, उमेशचन्द्रः "जीवपरिमाणविचारः" सागरिका, वर्ष–10, अङ्क–3

7. मिश्रः मुरलीधरः तत्त्वमस्यादिचतुर्णा महावाक्यानामन्येषाम् अप्यद्वैतपराणां विचारः, सारस्वती–सुषमा, 22 वर्षे, 3–4 अङ्के, 1970

8. शर्मा, बाबूलालः "नानाजीवादः" सागरिका, वर्ष 13, अङ्क 4

9. शर्मा राममूर्तिः "अद्वैतवेदान्ते मोक्षस्वरूपम्" सागरिकावर्ष 9, अङ्क 2

10. सरस्वती, जगद्गुरुशङ्कराचार्य – "ख्यातिवादः" सागरिका, वर्ष 14 अङ्क – 3

11. श्री मन्महेश्वरानन्दः सुधांशुशेखरः – "मुक्तितत्त्वविमर्शः" सागरिका, वर्ष 14 अङ्क – 3

ii. आंग्ल पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित शोध-लेख

1. *Arapura, J.G.* *"Māyā and the Discourse about Brahman" in two truths in Buddhism and Vedanta. Edited by M.Sprung, Holland, D. Reide Publishing Company, 1973.*

2. *Balasubramanian, R. - "A crituque of Ramanuja's objections against the Advaita*

Conception of Avidya, Journal of the Madras University, Vol. XLVI No. 1, January 1974."

"On the Locus of Avidya" Journal of the Madras University, Vol. XLVII No. 2, July 1975

"Avidya and the illusory world" Journal of the Madras University, Vol. XLVIII, No. 1, Jan. 1976

3. *Bhatt, S.R.* — *The concept of Māyā, Indian Philosophical Quarterly, Vol. II. No. 1. 1974.*

4. *Brahma N.K.* — *"Vedantic Conception of Mukti" Proceedings of Indian Philosophical Congress, 1926*

5. *Chatterjee, Kawla* — *"Brahman as Ignorant" Journal of the Indian Academy of Philosophy, Vol. XVII. No. 1978.*

"On Meditation as self knowledge" Journal of the Indian Academy of Philosophy, Vol. XXVIII No. 2, 1988.

6. *Dasguta, Sanghamitra - "Some reflections of the status of the world (Jagat) in Śanskarite. Advaita Vedanda Indian Philosophical Quarterly. Vol. XXIV. No. 3 pp. 359-371, July 1999.*

7. *Gonda, J.* — *"The original sense and the Ety-*

mology of Skt. Māyā" in four studies in the Language of the veda. The Hague, Mouton, 1959

8. *Ingalls, D.H.* — *"Śaṅkara on the Question : Whose is Avidya? Philosophy East and West, No. III. 1953."*

9. *Jambor, Mishra* — *"It all is Brahman then why are thereany illusious." Darshan International, Vol. XXVIII. No. 2 110, April 1988.*

10. *Krishna, N.C.* — *"The Doctrine of Māyā," voice of Śaṅkara Vol. XI. No. 2, Aug, 1986.*

11. *Murti, T.R.V.* — *"The two Definitions of Brahman in the Advaita" in K.C. Bhattacharya Memorial volume. Amalner; Indian Institute of Philosophy-1958*

12. *Pandey, Rewati Raman - "An Advaitic Appraisal of the Concept of Sansin" Journal of the Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth Vol. XLII Jan-Dec. 1986.*

13. *Rao, Prabhakara M.* — *"A critique of Brahman Ralization, Journal of I.C.P.R., Vol. XIV No. 2, Jan-April, pp. 71-82"*

14. *Sharma, Ram Murti* — *"Vedante Vrttiniru Panam Indological studies, Journal of*

the Deptt. of Sanskrit, University of Delhi, Vol. III No. 1-2 Dec. 1974. pp. 214-217"

15. *Sharma, Ram Murti "The Doctrine of Māyā of Śaṅkara, Journal of the Department of Sanskrit, University of Delhi, Vol. No. 2,*

16. *Shastri, Guruswami. V.S.V. - "The Dream State and the Deep state." Voice of Sankara, Vol. X. No. 1, May 1985*

17. *Shastri, Kalyansundaram - "Jiva is Brahman itself not different from it." Voice of Śaṅkara, Vol. IX. No. 5, Nov. 1984*

18. *Shastri, P.s. "Jivanmukti and Avidya". Prabudha Bharat, Aug. 1932*

19. *Shwami Prajnananda "Is Jivanmukti Subject to Ignorance." Prabudha Bharat. August, 1944.*

20. *Warrier, A.G.K. "Action of the Liberated" vishveshvarananda Indological Journal, March 1965.*